विक्रम कीर्ति मंदिर

स्मारिका

प्रथम संस्करण

१९७२

विक्रम कीर्ति मंदिर ट्रस्ट, उज्जैन

देश वंदना

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मगल कुकुम सारा।।
लघु सुरधनु से पख पसारे – शीतल मलय समीर सहारे,
उडते खग जिस ओर मुह किये, समझ नीड निज प्यारा।
बरसाती आँखो के बादल, बनते जहा भरे करुणा जल,
लहरें टकराती अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा ।।
हेम कुभ ले उषा सबेरे — भरती ढुलकाती सुख मेरे,
मदिर उघते रहते जब जग कर रजनी भर तारा ।।

"श्री जयशंकर प्रसाद"

स्मारिका

सम्पादक-मण्डल

डॉ. शिवमंगलसिंह "सुमन"

कुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय.

पद्मभूषण डॉ. सूर्यनारायण व्यास

ज्योतिषाचार्य

श्री समरसिंह, आय. ए. एस.

कलेक्टर, उज्जैन

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

श्री श्याम अग्रवाल

श्री बी. एन. लूणिया

श्री वराहगिरि वेंकट गिरि, राष्ट्रपतिजी का

शुभ-संदेश

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली–४
७, जनवरी १९७२

जयते

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि आप विक्रम कीर्ति के शेष निर्माण कार्य को पूर्ण कराने के संकल्प स्वरूप एक का प्रकाशन करने जा रहे हैं।

अभी-अभी हमारे देश के सम्मुख हमारी परम्पराओं, आदर्शों राष्ट्र-प्रेम की परीक्षा का एक अवसर आया था। इस परीक्षा प्रथम चरण से राष्ट्रीय एकता का एक नया एवं प्रेरणादायक हमारे सामने उभरा है। अतीत के सन्दर्भ, वर्तमान के संकट-क्षणों में आलोक स्तम्भ का कार्य करते हैं। पराक्रम, सत्य-, न्यायप्रियता एवं मातृभूमि की सुरक्षा के लिये महान का उदाहरण हमारे संघर्षों को शक्ति एवं प्रेरणा प्रदान का अजस्र स्रोत है।

भारत के प्रथम राष्ट्रपतिजी ने विक्रम कीर्ति मंदिर का किया था। प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, पुरातत्व- और कलावीथि की स्थापना से इसका ऐतिहासिक एवं कृतिक महत्व भी है। इस शुभ कार्य को सम्पन्न करने का का संकल्प सराहनीय है। मैं आपके सद्प्रयत्नों की सफलता विक्रम कीर्ति मंदिर के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के लिये हार्दिक प्रेषित करता हूँ। राष्ट्र को सुसंगठित एवं महिमा-बनाने के प्रत्येक शुभ प्रयास में मेरा आशीर्वाद आपके साथ है।

संगच्छध्वं, सवदध्वं, सं मनांसि जानताम्।

राज्यपाल

म॰ प्रदेश

राजभवन
भोपाल—२
१८ जनवरी, १९६८

मुझे इस बात से प्रसन्नता हुई कि उज्जैन में विक्रम मन्दिर के शेष निर्माण कार्य को पूरा करने के लिये विक्रम कीर्ति मन्दिर स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है।

स्मृति मन्दिर भारत के गौरवमय अतीत का प्रतीक है। यह स्मृति मन्दिर आने वाली पीढ़ियों को सम्राट विक्रमादित्य के उस स्वर्णिम युग का सदा स्मरण कराता रहेगा, जबकि भारत की कला व संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। सत्य, न्याय सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित थे और देश प्रेम से ओत-प्रोत भारतीय शौर्य विश्व विख्यात था। इस ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संस्थान के निर्माण में यथा शक्ति योग देना प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिये गौरव की बात है।

मुझे आशा है कि विक्रम स्मृति मन्दिर कला प्रेमियों को नवीन प्रेरणा देता रहेगा तथा मातृभूमि की रक्षार्थ देश वासियों में त्याग एवं उत्सर्ग की भावना का संचार करता रहेगा।

मैं संस्थान के निर्माण की परिपूर्णता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनायें प्रेषित करता हूँ।

के॰ चंगलराय रेड्डी
राज्यपाल मध्यप्रदेश

भोपाल,

दिनांक १७ जनवरी १९७२

सम्राट विक्रमादित्य का युग भारतीय इतिहास मे एक स्वर्णिम युग के रूप में अंकित है। उस युग मे न केवल कला, साहित्य एवं सस्कृति का ही विकास हुआ, अपितु सत्य तथा न्याय के उच्च आदर्शों की भी प्राण प्रतिष्ठा हुई। सम्राट विक्रमादित्य ने मातृभूमि को विदेशी आक्रमणो से मुक्त कराने हेतु देशवासियों के हृदय मे राष्ट्र प्रेम एव बलिदान की जो ज्योति जलाई थी, वह आज भी जनमानस को प्रकाशवान कर रही है। ऐसे महान पुरुष की स्मृति को मूर्तिमान करने के लिए उज्जैन मे विक्रम स्मृति मन्दिर का निर्माण एक सराहनीय कार्य है।
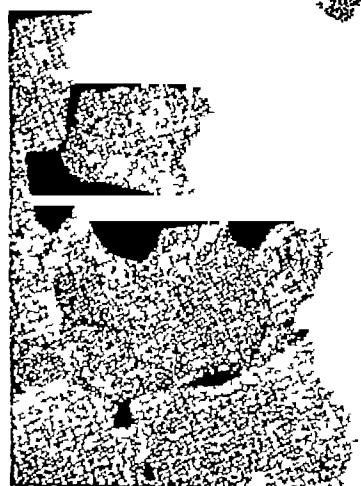
मुझे आशा है कि विक्रम स्मृति मन्दिर युग युगों तक देशवासियो को राष्ट्र रक्षा की प्रेरणा देता रहेगा तथा कला साधकों को सर्वदा उन्नयन की दिशा में अग्रसर करता रहेगा।

विक्रम स्मृति मन्दिर के निर्माण की परिपूर्णता के लिये अपनी मंगल कामनायें प्रेषित करते हुये मैं यह अपेक्षा करता हू कि इस ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संस्थान को मूर्तिमान करने मे प्रत्येक देशवासी का सहयोग प्राप्त होगा।
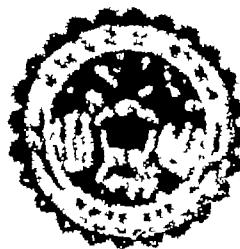
श्यामाचरण शुक्ल

मुख्य मन्त्री, मध्यप्रदेश

शुभ कामना

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि विक्रमादित्य की स्मृति में निर्मित "कीर्ति मन्दिर" के निर्माण कार्य को पूर्ण करने के उद्देश्य से "स्मारिका" की रचना आपके द्वारा की गई है।

विक्रम शौर्य एवं पराक्रम के प्रतीक तो थे ही साहित्य एवं संस्कृति के उन्नयन में उनके द्वारा जो कार्य किया गया है, उसी के कारण आज उनका नाम भारतीय जनमानस के हृदय पटल पर अंकित है।

ल. ओ. जोशी, आई ए एस.
पुनर्वास आयुक्त एव सचिव
मध्यप्रदेश शासन

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि उज्जैन के साहित्य प्रेमी नागरिक एक विशेष स्मारिका प्रकाशित कर रहे हैं, जिसमे उज्जयिनी के अतीत गौरव और उज्ज्वल भविष्य की एक झलक विव्दानो को दिखेंगी। इस स्मारिका मे महाकवि कालिदास के विषय में भी श्रद्धांजलि और समालोचनात्मक सामग्री समाविष्ट रहेगी, यह जानकर सतोष हुआ।

भौतिक समृद्धि और यान्त्रिकी सिद्धियो से चमत्कृत इस युग मे भी शाश्वत साहित्य की महत्ता और आवश्यकता मानव की आत्मा की तुष्टि और पुष्टि के लिए सर्वतोपरि है। व्यापार-उद्योग, ज्ञान-विज्ञान, यांत्रिकी विद्या आदि समृद्धि दे सकते हैं, सुख नहीं। सुख तो ब्रम्हानन्दसहोदर काव्यामृत रसास्वाद से ही मिलता रहा है और मिलता रहेगा। कालिदास जैसे विश्व कवि के साहित्य का जितना ही विवेचन, चिन्तन, रसास्वादन किया जाय, उतना ही मानव अधिक सुसस्कृत, विकसित और पवित्र बनेगा, इसमे कोई सदेह का कारण नहीं है।

कालिदास के साहित्य की प्रमुख विशेषता उनमें लक्षण-ग्रंथों में गिनाये हुए गुण नहीं है, उन ग्रंथों ने तो इन उदाहरणो के आधार पर अपनी परिभाषाएं बनाई हैं। यह विशेषता है वाणी और अर्थ की, वह प्रतिपत्ति जो सौन्दर्य और माधुर्य के सूक्ष्म द्रष्टा को ऐसी अभिव्यक्ति प्रदान करती है, जिससे सत्य और शिव के चरणों मे अर्पित होकर सुन्दर धन्य और पूर्ण हो जाता है—रससिक्त होकर वह देश और काल की सीमा लांघकर रसवर्षी "रससिद्ध" हो जाता है—इस श्रेणी में आते है हमारे विश्व वंद्य कवि, देव वाणी के अमर गायक कालिदास—जो शृगार के श्रेष्ठ कवि माने जाने पर भी मेघ को महाकाल की सन्ध्या आरती के समय उसके गर्जन को पटह बना देने का परामर्श देते हैं और अभिज्ञान शाकुन्तलम् के भरत वाक्य मे अपने लिये पुनर्भव से मुक्ति मांगते हैं—वे धन्य हैं और हम सब उनका स्मरण करके धन्य होते है।

जयन्तु ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वरा नास्ति येषां यश काये जरामरणज भय ॥

कालिदास-काव्य-गरिमा

प्रस्तावना

इतिहास तत्कालीन स्थितियो एव मानव समाज की आकाक्षाओ का दर्पण होता है। इतिहास की शौर्यपूर्ण घटनाओ एव पराक्रमी पौरुषपूर्ण वीरो की गाथाओ का स्मरण, वर्तमान समाज मे शौर्य, देश भक्ति, उत्सर्ग एव उत्साह की भावना का सचरण करता है। अभी हमारे राष्ट्र की अखण्डता एव स्वतन्त्रता को पाकिस्तान ने बर्बर, पाशविक एव जघन्य आक्रमण करके चुनौती दी। हमारे वीर सैनिको ने दुश्मन के दात उसी प्रकार खट्टे किए जिस प्रकार वीर विक्रमादित्य ने रक्त पिपासु शको को पराजित कर धराशायी किया था। देश सर्वोपरि है। स्वतन्त्रता एव मातृभूमि की सुरक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग करना वीरो का आभूषण है। आज के सन्दर्भ में विक्रमादित्य के शौर्यपूर्ण साहस एव देश भक्ति का श्रद्धा पूर्वक स्मरण समीचीन ही है।

(२) राज्य शासन का सर्व प्रमुख कर्तव्य प्रजा पालन, देश को आक्रान्ताओ के बाह्य आक्रमणो से सुरक्षा करना और आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखने के साथ-साथ समाज की बौद्धिक, व्यावसायिक, वैज्ञानिक उन्नति करना है। वीर विक्रमादित्य की राज सभा के दैदीप्यमान नक्षत्र कविकुल कलाधर कालिदास ने राज्य कर्तव्यो का निरूपण इस प्रकार किया है—

प्रजाना विनयाधानाद्, रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासा केवल जन्महेतव ॥

(रघुवश, सर्ग १ श्लोक २४)

(३) परम प्रतापी विक्रमादित्य ने शको को पराजित करके अपने राज्य मे सुख, शान्ति एव वैभव की अजस्र स्रोतस्विनी प्रवाहित की। साथ ही साहित्यिक, सास्कृतिक, कलात्मक एव वैज्ञानिक प्रगति का कार्य विद्वानो को राजाश्रय देकर कराया। भारत ने उस समय सर्वांगीण उन्नति की। इसी कारण विक्रम का सु-शासन काल भारतीय इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

(४) उज्जैन विक्रमादित्य की राजधानी थी। अवन्तिका की इस पुण्य-पुरातन नगरी में प्रतापी विक्रमादित्य के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए कीर्तिमन्दिर निर्माण की योजना 'विक्रम सवत् द्वि-सहस्राब्दि' समारोह के अवसर पर सन् १९४२ मे बनाई गई थी। ८ मई, १९५२ को विक्रम कीर्ति मन्दिर की सुखद योजना को मूर्तरूप देते हुए भवन की आधार शिला भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद द्वारा रखी गई। इस ऐतिहासिक अवसर पर राष्ट्रपति महोदय ने यह अभिलाषा व्यक्त की थी कि 'यह

कीर्ति मन्दिर विक्रमादित्य के आदर्श का अक्षय स्रोत बनकर, इस पुण्य भूमि को पुनः सिंचित करेगा और प्रत्येक भारतीय के हृदय को आदर मे आपूरित कर विक्रम को पुन' भारतीय इतिहास का देदीप्यमान सूर्य और अटल ध्रुव तारा बना देगा।'

(५) विक्रम कीर्ति मन्दिर मे १—प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, २—पुरातत्व सग्रहालय, ३—चित्र वीथिका, ४–भारतीय ज्योतिष् अनुसधान, ५—विक्रम एव उसके नवरत्नो सम्बन्धी शोध कक्ष एव ६—रगमच की स्थापना की योजना है। प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान की स्थापना सन् १९३१ मे की गई, जिसमे विद्यानुरागी सज्जनो एव संस्थाओ का सक्रिय सहयोग उपलब्ध करके लगभग १६०० हस्त लिखित तथा १०,००० मुद्रित सन्दर्भ गन्थ सग्रहित हैं। प्राचीन ग्रन्थो में अनेक ग्रथ भूर्ज-पत्र एव ताड-पत्र पर लिखित हैं। इनमे गिलगित से प्राप्त नवी शताब्दी का बौद्धागन, श्रीमद्-भागवत, उपनिषदो के फारसी अनुवाद सत ज्ञानेश्वर अनुभावामृत, मुगल कालीन फर्मान्, ज्योतिष, गणित शिल्प, वेद-वेदान्त आदि प्राचीन भारतीय विषयो पर अप्र-काशित मूल्यवान पुस्तकें हैं।

(६) पुरातत्व सग्रहालय मे शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन प्रतिमाए एव सूर्य, ब्रह्मा, अग्नि, चवर धारिणी, कुबेर, कीर्तिमुख, भैरव आदि की अनेको भव्य प्रतिमाए हैं। अश्म युगीन अवशेष, प्राचीन मुद्राए तथा अनेको शिलालेखो का सग्रह भी है।

(७) विक्रम कीर्ति मन्दिर का निर्माण कार्य अर्थाभाव के कारण अवरुद्ध हो जाने से, उक्त ऐतिहासिक महत्व एव भारतीय साहित्य एव सस्कृति के सरक्षण की राष्ट्रहितकारी योजना अपूर्ण रही है। विदेशी आक्रमणो से देश की रक्षा करने वाले एव साहित्य तथा भारतीय सस्कृति को चरम उन्नति प्रदान करने वाले वीर विक्रम के प्रति सम्मान सूचक इस भवन का निर्माण कार्य अपूर्ण रहना एक गम्भीर प्रश्न है। अत विक्रम कीर्ति मन्दिर भवन निर्माण की योजना को पूर्ण करने हेतु सक्रिय प्रयास किया जा रहा है। यह स्मारिका इसी प्रयास का एक चरण है।

(८) इस स्मारिका के लिए विद्वानो ने अल्प सूचना पर ही शोधपूर्ण लेख भेजे हैं, जो विद्वानो की जिज्ञासा की पूर्ति करते हुए विक्रम एव उनसे सम्बन्धित तथ्यो तथा अवन्तिका जनपद मे यत्र-तत्र विकीर्णित पुरातत्व सम्पदा पर नव प्रकाश आलोकित करेंगे। इन लेखो मे व्यक्त मत स्वय लेखको के हैं। डा० ए० एल० बाशम, जो अन्त-र्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या सगठन तथा आस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी, केनबरा, के ऐशियायी सस्कृति विभाग के अध्यक्ष हैं, की विद्वत्ता से उज्जैन के नागरिक भली भाति परिचित है। इसके अतिरिक्त उज्जैन, ग्वालियर तथा सागर विश्व विद्यालयो के भारतीय इतिहास एवं सस्कृति के विभागाध्यक्षो के लेख सग्रहीत हैं। श्री हरिहर निवास द्विवेदी, जो सन् १९४८ मे प्रकाशित विक्रम स्मृति ग्रन्थ के सम्पादक रहे हैं, द्वारा लिखित एक लेख भी इस स्मारिका मे समाविष्ट किया गया है। उज्जैन के पुरातत्वीय महत्व के अद्यावधि अप्रकाशित चित्रो का सकलन भी इस स्मारिका मे

किया गया है और आशा है कि यह पुरातत्व एव इतिहास के विद्वानों के लिये नवीन शोध कार्य की दिशा मे प्रेरणादायी होगे।

(६) इस स्मारिका मे महाकवि कालिदास के सम्बन्ध मे महर्षि अरविन्द का दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, जो जन-मानस मे साहित्य एव संस्कृति के सृजक कवि कालिदास के प्रति नव-आलोक अवश्य प्रदान करेगा। पाडेचरी आश्रम के कार्यकर्ताओ के हम आभारी है कि उन्होने यह उदात्त विचार समन्वित लेख हिन्दी तथा अग्रेजी भाषा में तत्परता के साथ उपलब्ध कराये हैं।

(१०) हम समस्त विद्वान लेखको के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिनके सहयोग के बिना स्मारिका को इस स्वरूप मे प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें प्राप्त ही न हो पाता। हम उन चित्रकारो के भी आभारी हैं जिन्होने अपने चित्र इस स्मारिका मे प्रकाशनार्थ प्रदान किये हैं। इस कार्य मे श्री वाकणकर ने स्मारिका के आवरण पृष्ठ का भारतीय सस्कृति एव अवतिका के गौरवानुरूप चित्राकन किया है। श्री श्याम अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत अवतिका क्षेत्र के अभिनव पुरातत्व कलाकृतियो के उत्तम चित्रो से इसकी विशेष शोभा-वृद्धि हुई है।

(११) "व्यास प्रिंटिंग प्रेस" के कार्य कर्ताओ के प्रति आभार मानना भी सुसगत प्रतीत होता है। एक माह की अवधि मे यह स्मारिका पाठकों को उपलब्ध कराने में, इस प्रेस ने जो अद्भुत तत्परता दिखाई है वह श्लाघनीय है। मुद्रण एव स्मारिका के कलेवर को उत्कृष्ट एवं आकर्षक बनाने मे उनका योगदान महत्व-पूर्ण रहा है।

(१२) इस स्मारिका का प्रकाशन विक्रम विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे आयोजित होने वाले अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् के सम्मेलन दि० २६-१२-७१ के अवसर पर करना अभीप्सित था। इस सम्मेलन मे देश एव विदेशो से एक हजार विद्वानो को अवतिका की सास्कृतिक, ऐतिहासिक महत्त्व एव पुरातत्वीय सम्पदा की जानकारी प्रस्तुत् करना अभीष्ट था। पाकिस्तान के पाशविक क्रूर-कृत्य के कारण ज्ञानगगा की जो पवित्र धारा अवतिका मे प्रवाहित होने का मणिकाचन सयोग सुलभ होने जा रहा था, वह आपत्-कालीन परिस्थितियो के कारण स्थगित करना पडा। इस बीच स्मारिका प्रकाशित हो जाने के कारण हम इसे विद्वान पाठको एव साहित्या-नुरागियो को समर्पित करने का लोभ सवरण न कर सके। कहा भी है—

विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमाना
प्रारभ्य उत्तमजना. न परित्यजन्ति।

इस स्मारिका के सम्पादन मे त्रुटियो के लिये क्षमायाचना करते हुए हम विनम्रभाव से यही निवेदन कर सकते है कि—

'सूर्पवद्दोषमुत्सृज्य गुणम् गृह्णन्ति साधव.'।

आशा है उदार-हृदय पाठक इस त्रुटि को अनदेखी करने का अनुग्रह करेंगे।

यदि इस स्मारिका से विक्रमादित्य, अवंतिका एवं उज्जैन जिले की पुरातत्वीय सम्पदा के प्रति विद्वान पाठकों को किंचिद् भी जिज्ञासा का स्फुरण हो सका तो हम अपने को कृत-कृत्य समझेंगे।

डॉ. शिवमंगलसिंह "सुमन" समरसिंह

विराजते विक्रम कीर्ति मंदिरम्

येनाकारि शकारिणा वसुमतीप्रोद्यत् कृपाणोल्लसद्,
धारोत्सारित कण्टकाखिलदिश कीर्त्यांविलक्षीकृता ।
स्वप्ने जागरितेऽपि सन्ततमरिव्रातैस्तथान्तर्बहि-
र्भीत्याऽद्वैतमतावलम्बिभिरिव व्यालोकि यस्याकृतिः ॥ १ ॥

यद्राज्ये वसुधासुधान्यहरिता विद्याधिका ब्राह्मणाः
राजन्या बहुजन्य धन्यविजयोद्भासि प्रतापोर्जिता ।
वाणिज्यादि समृद्धराष्ट्रविभवा वैश्याश्च वित्ताधिकाः
शूद्रा शिल्पकलाकलापकलिता लोकस्य सेवा व्यधु. ॥ २ ॥

कीर्ति. सहारिभिरगाद्धरिदन्तराणि,
श्री. स्वीकृता कविकुलैर्विबुधैश्च यस्य ।
वागादृता बुधजनैरपियस्य नित्य,
भूरस्य केवलमनन्यपरायणाभूत् ॥ ३ ॥

येनाऽब्धिक्षितिलब्धरत्ननिवहेष्वौदास्यमातन्वता
चित्वाचेतन चारू रत्ननिचय सारस्वत निर्मलम् ।
नानाशास्त्रविचार चुञ्चुधिषणा विद्वदत्तमा स्वीकृता,
रत्नत्वेनसभा सभाजनविधौ श्री कालिदासादय ॥ ४ ॥

अपास्यवैदेशिक दस्युसघ वापीतडागप्रहिकल्पनाभि.,
विधायधात्री धनधान्यपूर्णा दात्री च कल्याणपरम्पराणाम् ।
स्वविक्रमादित्य पद यथार्थं मखैरसख्यैस्त्रिदशान् प्रसाध्य,
चिर धराया स्थितिमीहमान सवत्सर योजयतिस्म नाम्ना ॥ ५ ॥

राष्ट्रपतीनाँ प्रथम स्वाधीनस्यास्यदेशस्य,
श्री राजेन्द्रप्रसाद कृतबानेतच्छिलान्यासम् ॥ ६ ॥

प्राचीनहस्ताङ्कित पुस्तकाकरम्
सद्ग्रन्थरत्नैरयुतैर्मनोहरम् ।
प्रशस्तनाट्यालयकक्ष सुन्दरम्,
विराजते विक्रम कीर्ति मन्दिरम् ॥ ७ ॥

अस्तिप्रशस्ताजनमानसानामानन्दसदायिषु मालवेषु ।
श्री विक्रमादित्यमहीप राजधानी विशालोज्जयीनीति नाम्ना ॥ ८ ॥

श्री दयाशंकर बाजपेयी

विक्रम कीर्ति मंदिर स्मारिका

विषय-सूची

अंग्रेजी विभाग (English Section)

महाकालेश्वर

क्रीडा कुण्डलितोरगेश्वर तनुकारादि रुढाम्वरा-
नुस्वारकलयन्नकार रूचिराकार. कृपार्द्र: प्रभु: ।
विष्णोर्विश्वतनोऽरवति नगरी हृत्पुण्डरीके वस-
न्नोकाराक्षर मूर्तिरस्यतुमहाकालोन्तकाल सताम् ।।

(महाकाल मन्दिर मे खुदे हुये नागवन्ध से)

सरस्वती-वंदना

श्रीमद्भोज नरेन्द्र चद्र नगरी विद्याधरी योनि...।
यानामस्मरणेनय खलुसुख प्रस्थाप्यता याप्सरा ॥
वाग्देवी प्रथमविधाय जननीम यस्याजितानामत्रयी।
अस्याचिंत सुफलाधिका वररूचीमूर्तिशुभा निर्ममे ॥

इति साहिर सुत मणथलेम घटिता
विलेखनिक शिवदेवेन लिखितमिति।
॥ इति सवत १०६१ ॥

वाग्देवी की यह प्रतिमा भोजशाला धार मैं थी,
जो अब ब्रिटिश म्युझियम लदन मे है ।

उज्जयिनी

महाकवि श्री रविन्द्रनाथ ठाकुर

दूर..............
क मे उज्जयिनी-पुरी मे !
था कभी शिप्रा-नदी के पार,
र्व की पहली प्रिया को !
थी उसके लोध्र-रेणु, लीला-पद्म हाथ में,
मे कुन्द-कली, कुरूवक माथे पर।
र रक्ताम्बर बाधा था नीवी-बंध पर।
नूपुर बजते थे रह-रह कर
दिन
दूर-दूर, पहचाने पथो पर।

(२)

मन्दिर मे उस क्षण—
स्वर मे सन्ध्याआरति बजती थी
न्य थी पण्यवीथि, देखा ऊपर जाकर,
रे हर्म्यो पर शेष थी सन्ध्या की रश्मि-रेख
का भवन था—
सकीर्ण पथवाले दुर्गम निर्जन में,
र अकित थे, शख-चक्र उसके दोनो ओर—
नीमतरू पुत्र-स्नेह से पलित-से खडे वहा।
के श्वेत स्तम्भ पर
की गम्भीर मूर्ति बैठी थी दम्भ भरे !
के कपोत लौट आये थे घर को,
था निद्रामग्न एक स्वर्ण-दण्ड पर॥

(३)

समय हाथ में लेकर दीप शिखा—
र झुकी-सी आई मेरी मालविका।
ई पडी द्वार-प्रान्त के सोपान पर,
की लक्ष्मी के समान, सन्ध्या तारा लिये हाथ !
की कुसुम-गन्ध, केशों की धूप-वास।
मेरे सर्वांग से उठा हो निःश्वास।
अर्ध-च्युत वसन से किया प्रकाशित—
चन्दन-पत्र-लेखा से चित्रित वाम पयोधर।
झुकी प्रतिमा के समान,
नगर था डूबा अन्धकार में, निस्तब्ध सन्ध्या-थी॥

(४)

मुझे देख कर प्रिया
धीरे-धीरे दीप को झुकाकर द्वार के निकट,
आई सामने मेरे, मेरे हाथ मे रखकर हाथ—
नीरव ही पूछा मात्र स-करूण आखो से—
'हे बन्धु, अच्छे तो हो ना ! देखकर उसका मुख—
बात कहना चाही, पर न थी बात और।
वह भूल गई थी भाषा, नाम दोनो के—
दोनो जने सोचते थे कितना ही, मन मे न था और कुछ।
देख एक दूसरे को, कितना ही सोचते थे—
झर-झर पडते थे आँसू निस्पद नयनो से॥

(५)

दोनो जन सोचते थे द्वार के तरु तले !
न जाने किस क्षण किस छल से—
सुकोमल हाथ आकर छिपा दिया,
मेरे दक्षिण कर मे-नीड के प्रत्याशी—
सन्ध्या-पखी समान, मुख के पास वह—
नत-वृन्त पद्म-सी मेरे इस वक्ष पर—
झुक पडी धीरे से,—व्याकुल उदास,
निःशब्द मिलने लगी सास से सांस !
अन्धकार ने रजनी के—
कर दिया उज्जयिनी को लुप्त एकाकार,
दीप द्वार के पास का—
जाने किस क्षण बुझ गया दुरन्त वातास से
शिप्रा नदी तीर
थम गई थी आरती शिव के मन्दिर मे॥

महाकवि कालिदास

श्री सत्यनारायणसिंह,
राज्यपाल मध्य प्रदेश

[चतुर्दश अखिल भारतीय कालिदास महोत्सव के अवसर पर परम श्रेष्ठ राज्यपाल म० प्र० द्वारा दिया गया भाषण]

—सम्पादक

कवि-अर्चन का यह सास्कृतिक समारोह, देश की चेतना का प्रतीक है। किसी भी राष्ट्र के उत्थान मे कवियो और कला-साधको का सबसे बडा हिस्सा होता है। महाकवि कालिदास की पावन स्मृति मे, हम अभी तक वह नही कर पाए जो हमे करना चाहिए। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत का प्रथम कर्तव्य है कि वह अपनी सस्कृति का ध्यान करे। राजनीति मे बहुत आगे बढकर भी यदि हम सस्कृति की दिशा मे पीछे रहे तो हमारी उन्नति सर्वथा अपूर्ण रहेगी।

ईस्वी सन् के एक शताब्दी पूर्व भारत ने उस महाकवि को जन्म दिया था, जिसकी एकनिष्ठ साधना और लोकोत्तर प्रतिभा ने उसे समस्त भूमडल का महाकवि बनाया। राष्ट्र से ऊपर उठकर वह विश्व का अपना बन गया। जर्मनी के प्रसिद्ध विचारक और कवि गेटे को उसके बाबत कहना पडा—"अगर कोई वसन्त के फूल और शरत् ऋतु के फल पाने की अभिलाषा करे, अगर कोई मन को अपनी ओर खीचनेवाली—अर्थात् वशीकरण की वस्तु देखना चाहे, अगर कोई प्रसन्नता और प्रत्फुल्लता से मिलना चाहे, अगर कोई स्वर्ग और पृथ्वी को एक जगह देखने की इच्छा रखे तो वह कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल को पढ़े"। सच तो यह है कि उस महाकवि के द्वारा प्रवाहित प्रेम, आनन्द और सीमाहीन समुद्र मे आज भी हम अपना आत्मरूप देखकर क्षणभर के लिए भावविभोर हो जाते हैं।

हमें यहां एक ऐसी सूक्ति की याद आ रही है, जिसमे अनामिका उगली की सार्थकता सिध्द करते हुए सूक्तिकार ने महाकवि कालिदास का गौरव वर्णन किया है। सूक्तिकार का कथन है—

पुरा कवीना गणना प्रसगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदास।
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।

प्राचीन काल मे कवियो की गणना करते हुए, कनिष्ठिका उगली पर कालिदास का नाम रखा गया, किन्तु आज तक उनके समान दूसरे कवि का नाम सामने नही आया, अत अगली उगली का नाम अनामिका यथार्थ सिद्ध है।

इतना ही नही, महाकवि कालिदास के विषय मे प्राय सभी प्राचीन और अर्वाचीन पण्डित समुदाय का निर्णय है—"काव्येषु माघ कवि कालिदास"।

महाकवि का जीवनवृत्त

प्रचार और आत्मविज्ञापन से दूर रहनेवाले महाकवि कालिदास के किसी ग्रंथ में—वे कौन थे ? कहां के रहने वाले थे ? कब हुए ? इन सब बातों का ठीक निश्चय करने के लिए कुछ सामग्री नही है। महाकवि का स्वार्थ-त्याग तो देखिए, उन्होंने कही भी अपना परिचय नही दिया। यही कारण है कि कोई विद्वान उन्हे ईसा के पूर्व पहली सदी मे उत्पन्न बताते हैं तो कोई ईसा के पश्चात् बारहवी सदी तक घसीट लाते हैं। भारतीय पंडित प्राचीनकाल से यह मानते आए हैं कि महाकवि कालिदास विक्रम सम्वत् प्रवर्तक, भर्तृहरि के अनुज, विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो में से एक उज्जवल रत्न थे। यह श्लोक प्रसिद्ध है —

> धन्वन्तरिः क्षपणकोमरसिंह
>
> शकुवेतालभट्ट घटखर्पर कालिदास.।
>
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
>
> रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।

इस श्लोक मे विक्रमादित्य का नाम स्पष्ट है, अत उनके दरबारी कवि के रूप मे महाकवि की अवस्थिति ईसा के पूर्व ५७ मे मानना अयुक्तिकर नही कहा जा सकता। अब विचारना यह है कि महाकवि के आश्रयदाता विक्रमादित्य कौन थे ? चन्द्रगुप्त द्वितीय, यशोधर्मन या विक्रमादित्य नाम के स्वतंत्र व्यक्ति ! इनमे यशोधर्मन तो स्पष्ट ही विक्रमादित्य नही थे, क्योकि किसी शिलालेख मे उनके नाम के साथ विशेषण रूप मे भी इस शब्द का प्रयोग नही हुआ है। साथ ही उनके समय मे महाकवि की अवस्थिति का उल्लेख भी नही मिलता। चन्द्रगुप्त द्वितीय को (हम शकारि मानकर) भी महाकवि का आश्रयदाता नही मान सकते। उज्जैनी मे विक्रमादित्य निर्मित रामकूट किंवा इरावती नामक महल का अस्तित्व प्रकाश मे आ जाने से डाक्टर भण्डारकर का कथन ही हमे सत्य मानना पड़ेगा कि ईसा से ५७ वर्ष वहा स्वतंत्र विक्रमादित्य नाम के अधिपति थे। भारत प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता रायबहादुर चिन्तामणि विनायकराव वैद्य भी अपना मत इसी पक्ष मे देते हैं। ऐसी स्थिति मे परमार वशीय मालव गणपति गधर्वसेन के पुत्र और भर्तृहरि के अनुज, विक्रमादित्य ही महाकवि के वास्तविक आश्रयदाता थे, इसमे सन्देह नही। भारत-विश्रुत जनश्रुति का आधार छोड़कर हम किसी नवीन सत्य का उद्घाटन होते अभी नही देख रहे हैं।

अब रही महाकवि की जन्मभूमि की बात। वह कहा के निवासी थे—उनका जन्म किस कुल मे हुआ था, इस सम्बन्ध मे भी कम विवाद नही है। किसी की दृष्टि मे महाकवि काश्मीर के निवासी थे तो किसी की दृष्टि में उनका जन्म मालवा मे हुआ था। कोई उनकी जन्म-भूमि बगाल मे मानते हैं। एक यदि उन्हे ब्राह्मण कुल का रत्न मानता है तो दूसरा निपट शूद्र सिद्ध करता है।

केवल हिमालय वर्णन, चित्रकूट वर्णन या क्षिप्रा-तट का वर्णन का अनुमान लगाकर उन्हे किसी प्रात का निवासी बताना भ्रामक ही कहा जाएगा। कवि शैली की कविताओ मे काश्मीर-सुषमा का वर्णन है। कमल और चम्पक की चर्चा है, इतना ही क्यो, भारतीय प्रेमी का विरह-दुख भी वर्णित है, तो क्या हम इसी आधार पर कवि शैली को भारत का निवासी बता दें ? जिन प्रातो का नाम महाकवि की जन्मभूमि के रूप मे लिया जाता है, वहाँ उनके जन्म की किम्वदन्ती भी सुनने मे नही आती। यही बात उनके जन्म-कुल के सम्बन्ध मे है।

कहते हैं, ज्वलन्त प्रमाण के अभाव मे लोग किंव-दन्ती को भी प्रमाणस्वरूप ग्रहण करते है। महाकवि कालिदास की जन्मभूमि मिथिला थी—इसका स्पष्ट उल्लेख कही ढूंढना कठिन है, फिर भी मिथिला के घर-घर मे प्रचलित किंवदन्ती अपना महत्व रखती है। आप किसी भी गाव मे पहुच कर महाकवि कालिदास की जन्मकथा सुन सकते हैं। किस प्रकार कारी मिश्र नाम के मूर्ख ब्राह्मण युवक का विवाह पडितो ने विदुषी राजकन्या से कराया, किस प्रकार वह अपनी पत्नी से अनादर पाकर तत्कालीन मिथिला के श्रेष्ठ विद्यापीठ "उचैठ" नाम के गाव में आए और किस प्रकार वहा विद्याध्ययन करते हुए माता काली के कृपा-भाजन हुए आदि विषयो का सविस्तार वर्णन आप वहा सुनेंगे।

विद्या प्राप्ति के बाद वह अपनी पत्नी के समीप पहुंचे। रूठे पति के घर लौटने के समय पत्नी कपाट बद

किए सो रही थी। पति का स्वर स्वभाव से गूजा—"अनावृत कपाटं द्वार देहि" स्वर पहचान कर पत्नी आश्चर्य में आ गई—बोली, "अस्ति कश्चिद्वाग् विशेष:"।

बस, महाकवि कालिदास इसी वाक्य के तीन पदो (अस्ति, कश्चित् और वाक्) को लेकर तीन सुन्दर काव्य बनाने को तुल पडे। पत्नी का पूर्व रोप मिट गया। उन तीन काव्यो के नाम हैं—कुमार संभव, मेघदूत और रघुवश। कुमार सभव का प्रारम्भ—"अस्ति" शब्द से है "अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा....... ...." मेघदूत का प्रारम्भ—"कश्चित्" शब्द से इस प्रकार है—कश्चित् कान्ता विरह गुरुणा.............. तथा रघुवश में महाकवि "वाक्" शब्द का प्रारम्भिक प्रयोग करते हुए कहते हैं—"वागर्थाविव सपृक्तौ .. ...." ।

कारी मिश्र तथा महाकवि कालिदास की एकात्मकता के लिए नेपाल के राजकीय पुस्तकालय मे सुरक्षित 'रघुवश' की प्राचीन हस्तलिखित प्रति देखिए। पुस्तक मैथिली लिपि मे है तथा उसके प्रत्येक सर्ग के अन्त मे अकित है—"इति श्री मिश्र कालिदास कृते रघुवशे महाकाव्ये"। वह प्रति कोई पाच-छ' सौ वर्ष पूर्व की लिखी मानी जाती है।

मिथिला के प्रति जन्म-भूमि का प्रेम महाकवि के ग्रन्थो मे भी यत्र-तत्र देखा जा सकता है। सीता-परित्याग का वर्णन करते हुए महाकवि, महर्षि वाल्मीकि के मु ह से कहलाते है—'विषयान्तरस्य प्राप्तासि वैदेहि पितुर्निकेतम्'। हे वैदेही, आप ऐसा क्यो नही मानती कि दूर पिता के घर पहुँच गई? मिथिला के मोहक दृश्यो का वर्णन रघु की दिग्विजय-यात्रा मे देखिए—धानो के लहराते खेत, सरस भूमि, नदी और नाव। सब कुछ मातृभूमि के स्नेह मे सराबोर। लगता तो ऐसा है कि मेघदूत मे महाकवि जहा जिस प्रात का वर्णन करते हैं वहा मिथिला की छाया उनकी आखो में रहती है।

महाकवि यदि जन्म भर अपने आश्रयदाता महाराज विक्रमादित्य के साथ उज्जैन मे प्रवासी जीवन विताते रहे तो ऐसा भी नही कि उनके आश्रयदाता मिथिला नही आए। महाकवि की जन्म-भूमि में विक्रम विद्यापीठ का शिलान्यास करने उन्हे भी यहा तक आना पड़ा। सिंहासन बत्तीसी में महाराज विक्रमादित्य की अनुपम कहानिया है। उन कहानियो में उनकी साधना की एक कहानी मिथिला से सम्बद्ध है। मु गेर का विक्रमचडी स्थान उस कहानी के विषय मे पुकार-पुकार कहता है कि यही उस साहसी नृपाल ने आराध्या देवी को अपनी साधना से मुग्ध किया था। देवी अपना अक्षय कोष दानी राजा को देकर परीक्षा का कडाह सदा के लिए उलटा गई।

महाकवि की काव्य-सुषमा

शताब्दियो की लम्बी खाई को लाघकर आज भी महाकवि कालिदास की भावना मानवहृदय के समीप है—अपनी सुषमा और कोमलता से एक-एक सहृदय को विमोहित कर रही है : किसी गुण-विशेष की चर्चा महाकवि की रचना को लेकर नही की जा सकती। महाकवि की मनोवैज्ञानिक अवस्था का कितना सूक्ष्म और गहरा अध्ययन था, यह उनकी रचनाओ को पढने से तत्क्षण ज्ञात हो जाता है। मानव स्वभाव के पारखी होने के साथ ही साथ वह जीवन की अनेकरूपता के भी सफल द्रष्टा थे। प्रकृति की साधारण से साधारण वस्तु भी उन्हे रहस्य से भरी प्रतीत होती थी। यही कारण है कि उनके भावो की टीका करते हुए आचार्य वल्लभ को यह कहने को विवश होना पडा—

> कालिदासवचः क्व व्याख्याकारो वय कुत ।
> तदिद मन्ददीपेन राजवेश्म प्रवेशनम् ।

फिर भी—"उपमा कालिदासस्य" के अनुसार महाकवि की सुन्दर उपमा का अनुभव कीजिए। महाकवि, शकुन्तला के मादक सौन्दर्य को लेकर अपनी उपमा की लडी प्रस्तुत करते हैं—

> अधर किसलयराग: कोमल विटपानुकारिणी बाहू ।
> कुसुममिव लोभनीय यौवनमगेषु सनद्धम् ।

इसके ओष्ठ कोमल किसलयो की भाति लाल हैं, सुन्दर बाहें कोमल शाखा सी प्रतीत होती हैं और अ ग-अ ग मे उमडती जवानी पुष्प का आकर्षण रखती है और उपभोग्य है।

और तनिक तपोवन का द्रष्य निहारिए:—

नीवारा शुक गर्भकोटर मुख भ्रष्टास्तरुणामधः
प्रस्निग्धा. क्वचिदिंगुदीफल भिद सूच्यन्त एवोपला ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतय शब्द सहन्ते मृगा—
स्तोयाधार पथाश्च वल्कल शिखा निष्यन्दरेखाकिता ।

तोतो की चोच से कुतरे हुये श्यामक के बाल उनके कोटरो से गिर कर वृक्षो के नीचे पडे हैं, यत्रतत्र इगुदि-फल पीसने की चिकनी शिलाये रक्खी हैं, मृग मनुष्यो से इस प्रकार हिलमिल गये हैं कि हमारी आहट से भी नही चौंकते नदी से पगडडियो तक भीगे वल्कल-वस्त्रो से पानी की बून्दे टपक-टपक कर गिरने से कैसी रेखाए बन गयी हैं ।

वास्तव में हम शकुन्तला नाटक में आनन्द की अमन्द मन्दाकिनी प्रवाहित होते देखते हैं । गृहस्थ जोवन की इस अजस्त्र स्त्रोतस्विनी में स्नान कर पारिवारिक जीवन का स्तर ऊचा उठ जाता है । यह ठीक है कि शकुन्तला नाटक में श्र गार रस प्रधान है किन्तु कुशल-कवि कालिदास ने लोक-मर्यादा का जैसा अनूठा चित्रण इस नाटक में किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है ।

प्रथम अ क मे राजा दुष्यन्त ललनाकुल ललामभूता वल्कलवसना शकुन्तला को देख कर मुग्घ हो जाता है, किन्तु उसके हृदय में सदेह उत्पन्न होता है कि यदि यह सुन्दरी ऋषि पुत्री होती तो मेरा मन इस पर कदापि मुग्ध न होता । निम्नलिखित श्लोक में पुरुवश शिरोमणि दुष्यन्त के उज्जवल चरित्र का चारु चित्रण देखिये —

असशय क्षत्रपरिग्रह क्षमा, यदार्यमस्यामभिलाषिमेमन ।
सतांहि सदेह पदेपु वस्तुपु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय ।।

'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा का चित्रण कितना स्वाभाविक हुआ है । वह अपनी प्रियतमा उर्वशी की खोज में पागल सा घूम रहा है । वर्षाकालीन मेघ आकाश में फैल रहा है, चारो ओर विजली कौध रही है, हवा जोरो से वह रही है—पक्षी बोल रहे हैं और वह पुरुरवा के व्यथित हृदय को और भी सत्तप्त बना रहे है:—

विद्युल्लेखा कनकरुचिर श्री वितानं ममाम्रम्,
व्याधयन्ते निचुल तरुभिर्मजरी चामरापि ।
घर्मच्छेदात् पटुतर गिरोवन्दिनो नीलकठा.
धारा हारोपनयनपरा नैगमा' सानुमन्त. ।

अर्थात्—विद्युत रूपी स्वर्ण रेखाओ से मंडित यह मेघ मेरे शिर पर राजछत्र सा छाया है । सुगधित मंजरियो से लदे निचुल वृक्ष हिलते हुये चवर डुलाते से प्रतीत होते हैं । गर्मी का ताप कम होने के कारण मधुर स्वर में बोलने वाले मयूर मागधो और चारणो की होड कर रहे हैं और जल-प्रपातो से झरती हुई बू दो के मुक्ता-हार को भेट करती हुई पहाडिया प्रजा की भाति मेरा स्वागत करती सी ज्ञात होती है ।

इसी प्रकार 'रघुवश' 'कुमार सभव' 'मालविकाग्निमित्र' आदि कृतियो मे महाकवि की प्रकृति के साथ तादात्म्य भावना परिलक्षित होती है । शैक्सपीयर का चित्रण भी अपनी जगह पर बहुत उत्कृष्ट माना गया है, किन्तु महाकवि का प्राकृतिक चित्र भी दृष्टिकोण से बेजोड है ।

मानव-जीवन को क्षण भगुर माना है—ससार की सभी वस्तुए अनित्य हैं, इस सत्य पर 'रघुवश' मे महाकवि की बड़ी ही अनूठी उक्ति आई है—

स्वशरीर शरीरिणावपि श्रुत सयोग विपर्ययो यदा ।
विरह किमिवानुतापयेद्वद बाह्यं विषयेविपश्चितम् ।

जब अपने शरीर और शरीर मे स्थित आत्मा का ही परस्पर सयोग और वियोग होते देखा जाता है तब, बताओ विद्वान लोग पुत्र-स्त्री आदि बाहरी विषयो के वियोग मे क्यो शोक करें ?

भारतीय सस्कृति मे स्त्री को पति की अनुगामिनी माना गया है, यह सभी जानते हैं, किन्तु महाकवि की वाणी इसी साधारण बात को कितना लालित्य प्रदान करती है, इसका अनुभव 'कुमार सभव' के एक श्लोक से कीजिये—

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदा पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्न हि विचेतनरपि ।

चाँदनी चन्द्रमा के साथ ही अस्त हो जाती है, मेघ के साथ ही बिजली भी लीन हो जाती है । स्त्रियो की गति

पति ही है—मानो इस वात को जड वस्तुओ ने भी सिद्ध कर दिखाया है ।

'मेघदूत' महाकवि का विरह-काव्य है—यक्ष-दम्पति का दु खी जीवन किसी भी प्रेमी हृदय को प्रभावित करने मे समर्थ है, किन्तु आप उस घडी आश्चर्य करेंगे जब मिलने से अधिक स्नेह विछोह मे पायेगे—

स्नेहानाहु किमपि विरहे ध्वक्षिनस्ते त्वभोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेम राशी भवन्ति ।

कुछ लोग कहते है कि वियोग मे स्नेह कम हो जाता है किन्तु यह कहना ठीक नही । कारण, उस समय भोग के अभाव से, प्रियजन के ऊपर, अनुराग जमा हो-होकर 'प्रेम की राशि' वन जाता है ।

नीति भी काव्य का अ ग मानी गयी है—कविता के आवरण मे नीति-उपदेश का प्रभाव सीधे हृदय पर पडता है । 'मालविकाग्निमित्र' मे महाकवि अच्छे-वुरे का निर्णय किस प्रकार करने की सलाह देते हैं—सुनिये—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ पर प्रत्ययनेय बुद्धि' ।

जितने पुराने काव्य हैं वे सभी अच्छे है और किसी काव्य को नवीन जान कर दूषित या हीन कहना ठीक नही है । जो समझदार है वे परीक्षा करके अच्छे और बुरे का निर्णय करते हैं । दूसरो के विश्वास पर आख मूँद कर निश्चय कर वैठने वाले मूढ है ।

कहना नही होगा महाकवि की रचनाओ का क्षेत्र इतना विशद एव विविधता से पूर्ण है तथा उसमें महाकवि के व्यक्तिगत अनुभव के इतने विचित्र और रगीन चित्र भरे हैं कि उनके ज्ञान के अक्षय भण्डार को देखकर दातो तले अगुली दवानी पडती है । उनकी कल्पना तो देश विशेष एव जाति विशेष की स कीर्णता छोड कर समस्त विश्व का आलिंगन करती है । सच तो यह है कि महाकवि ने जीवन के सार्वभौम—सार्वजनिक चित्र प्रस्तुत किये हैं । काव्य की सरसता, शब्दो का माधुर्य, अपूर्व प्रसाद गुण, प्रेम और शृ गार, अनुपम उपमायें, करुणा की अटूट धारा, अलकार की छटा रचना कौशल एव भाव वैचित्र्य आदि कविता के समस्त गुणो के साथ-साथ उनकी रचनाओ मे जो उल्लेखनीय विशेषता पाई जाती है, वह है स्वाभाविकता से कभी दूर न पडना ।

महाकवि की कविता से हम शाश्वत आनन्द का अनुभव करते आये हैं, तो महाकवि के जीवन से हमे वह वस्तु प्राप्त होगी जो अभी तक हमे अप्राप्य रही है, जो सभी प्रकार से हमारी सूक्ष्म चेतना को जगाने मे समर्थ है । महाकवि का जीवन आदि से अन्त तक प्रेम और त्याग का मूर्त रूप रहा है ।

रावर्ट बर्न्स (Robert Burns) ने जिस प्रेम और त्याग का वर्णन कल्पना के सहारे किया है, हम उस प्रेम और त्याग से महाकवि के जीवन को ओत-प्रोत पाते है —

Had we never lov'd so kindly,
Had we never lov'd so blindly,
Never met—or never parted,
We had never been broken-hearted.

"यदि हमने इतना खुलकर प्रेम न किया होता, यदि हमारा प्यार इतना अधा न होता, यदि हम कभी न मिलते अथवा कभी भी एक दूसरे से न बिछुडते तो हमारे हृदय इस प्रकार टूक-टूक न होते ।" । महाकवि का जीवन इसका ज्वलत उदाहरण है ।

मुझे इस चतुर्दश कालिदास-महोत्सव का उद्घाटन करते हुए स्वभावत बडी प्रसन्नता हो रही है । साहित्य और स स्कृति के प्रति प्रेम, मानव की रागात्मक समृद्धि के लिये सबसे वडी पू जी रही है, इसलिये यो तो साहित्य प्रेमियो की ओर से शताब्दिबो से कालिदास को श्रद्धाँजलि अर्पित की जाती रही है, परन्तु १३ वर्ष पूर्व जिनके प्रयास से यह अभिनव समारोह उज्जयिनी नगरी और राज्य तथा देश के अन्य भागो मे उत्साहपूर्वक मनाया जाने लगा, उनका स्मरण इस समय समीचीन प्रतीत होता है । लगभग पैंतीस-छत्तीस वर्ष पूर्व उज्जैन मे ही पद्मभूषण डा० सूर्यनारायण व्यास की प्रेरणा से अखिल भारतीय कालिदास

परिषद् की भी स्थापना हो चुकी थी और "शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ" के अनुसार कार्तिक शुक्ला एकादशी के दिन कालिदास की पावन स्मृति को जाग्रत करने के उद्देश्य से कालिदास-महोत्सव का श्रीगणेश इस भूमि मे हो चुका था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद साहित्य और अन्य ललित कलाओ का सुन्दर सगम करके और उसके साथ ही विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे अनेक शैक्षणिक कार्यक्रमो का आयोजन करके एक नये स्तर पर इस महोत्सव को प्रारम्भ कराने वाले तत्कालीन मुख्य मत्री स्वर्गीय डा० कैलासनाथजी काटजू का भी ध्यान बरबस आ जाता है। इस महोत्सव का उद्घाटन पहले दो वर्षों मे स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र बाबू और स्वर्गीय प्रधान मत्री जवाहरलाल नेहरू के कर-कमलो द्वारा हुआ था। तब से अब तक इस महोत्सव का समायोजन उत्साहपूर्वक किया जा रहा है। इस वर्ष इस उत्सव की गरिमा और शोभा इस कारण भी बढ रही है कि लगभग दो महीने बाद उज्जैन मे प्राच्य विद्या परिषद् का छब्बीसवा अधिवेशन होने जा रहा है। उस अवसर पर भी कालिदास के साहित्य पर शोध-पत्र-वाचन, कला-प्रदर्शनी और नृत्य-नाट्य-अभिनय प्रस्तुत किये जायेंगे, जिससे इस प्रयास को विद्वानो, रसज्ञो का आशीर्वाद मिलेगा और मार्गदर्शन भी। मैं बडे प्रेम और आदर के साथ इस वार्षिक साहित्य-पर्व का उद्घाटन करता हू।

हम इस पावन समारोह के अवसर पर महाकवि के प्रति श्रद्धावनत हैं। आत्मदर्शक रवीन्द्र के शब्दो को दुहरा रहे हैं —

ए चिर जीवन ताइ आर किछू काज नाइ,
रचि शुधू असीमेर सीमा।
आशा दिये, भाषा दिये, ताहे भालवासा दिये,
गडे तुलि मानसी प्रतिमा।

विक्रमादित्य

जय विजित सकल पार्थिव विनत शिरोधारी तात गुर्वाज्ञ,
जय विषमशील विक्रम वारनिधे विक्रमादित्य।
जयजय तेजः साधित भूतगण म्लेच्छ विपिन दावाग्ने,
जय देव सप्त सागर सोमगही मानिनी नाथ॥[1]

—गुणाढ्य

जय विक्रमादित्य

पद्म भूषण पण्डित सूर्यनारायण व्यास

विक्रमादित्य की जय !

आज कोटि कोटि जन-महासागर से आवृत पवित्र भारतवर्ष की प्रत्येक स्वरलहरिओ पर महान् विक्रमादित्य के अमर गौरव गीत की सुभग सावना हो रही है। अटक से कटक पर्यन्त, हिमालय से कन्याकुमारी पर्यन्त, विक्रम के अतुल पराक्रम की पुनीत स्मृति मे प्रतिष्ठापति सवत के दो हजार से भी अधिक वर्षो ने काल चक्र पर अपनी गति का विशाल पथ-क्रमण कर दिया है।

शताब्दियो की जीवनी रखने वाले ससार के अनेक समय मर्यादा प्रदर्शक सवतो ने अपनी स्मृति अवशिष्ट छोड दी और कराल गाल की दाढ मे नाम-शेष समाविष्ट हो गये, परन्तु महाकाल की महिमा विचित्र है। प्रलय वाधा रहित अवन्ति नगरी जो सृष्टि के आदिम काल की पुराण प्रतिष्ठा का गुरू गौरव धारण कर रही है, । अपने रजकण से विजय स्मृति सभूत काल गणना को अनेक क्रमो के भग हो जाने पर भी चिरजीवी बने हुये है। प्रलय पूर्ण की सस्कृति के अन्यन्त्र विलय हो जाने पर भी महिमान्विता मालव भूमि अपनी भूमध्य भागावस्थिति के कारण अक्षुणता सेवित करती रही है। जिस भारतीय आदिम सम्यता की आधार शिला प्रथवेन्य ने रखी थी और उत्तर भारतीय सम्यता के समूलोच्छेदन के पश्चात (ई० स० पूर्व ४२००) वैवस्वत मनु के समय जिसका पुर्नजन्म हुआ, और जिसमे वृहत्तर भारत की सम्यता ने नवावरतण धारण कर सुमेरू, और मेसापोटामिया तक विस्तार साधित किया उस महा-महिम मालव भूमि के विक्रम सवत् ने भी अपने सुदीर्घ जीवन के दो हजार वर्ष यापन कर अपनी अमर सास्कृतिक देन को जागतिक विशालतम वायुमंडल पर आवृत कर दिया है। सम्यता के सस्थापक प्रदेश के रुप मे ही नही काल गणना के महत्वपूर्ण माध्यम के रुप मे भी मालवभूमि का गौरव जगतवदनीय हो गया है और विश्व के विवुध समाज ने इसे नत शिर होकर सदैव स्वीकृत किया है।

विक्रम महान !

विक्रम के विषय मे विद्वानो मे भले ही भ्रान्त धारणाओ ने स्थान ग्रहण किया हो, किन्तु विश्व के किसी भी इतिहास और साहित्य मे विक्रम के पवित्र नाम न्याय परायणता, उदारता, लोकप्रियता, परदुखभजनता, आदि के विपुल विवरण भरे पडे हैं। यही उसके अस्तित्व और अपूर्व लोकप्रियता के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

विश्वाराध्य विक्रम !

पुरातन सस्कृत साहित्य से लेकर प्राकृत, पैशाचि, अपभ्रश, साहित्य मे तथा विदेशी यात्रियो के विभिन्न विवरणो मे यथा अलवेरुनी आदि ने कही भी विक्रम को शताब्दियो पूर्व भी अन्य नामान्तर से सयुक्त उपाधी रुपेण अन्य प्रकार से प्रतिपादित नही किया है। यूनानी, अरवी, साहित्य इतिहास मे भी विक्रम को केवल विक्रमादित्य ही मान्य किया है। ये ऐसे प्रवल प्रमाण है कि इसमे सन्देह आरोपित करके चन्द्रगुप्त को किसी और को उधार देने की आवश्यकता नही है।
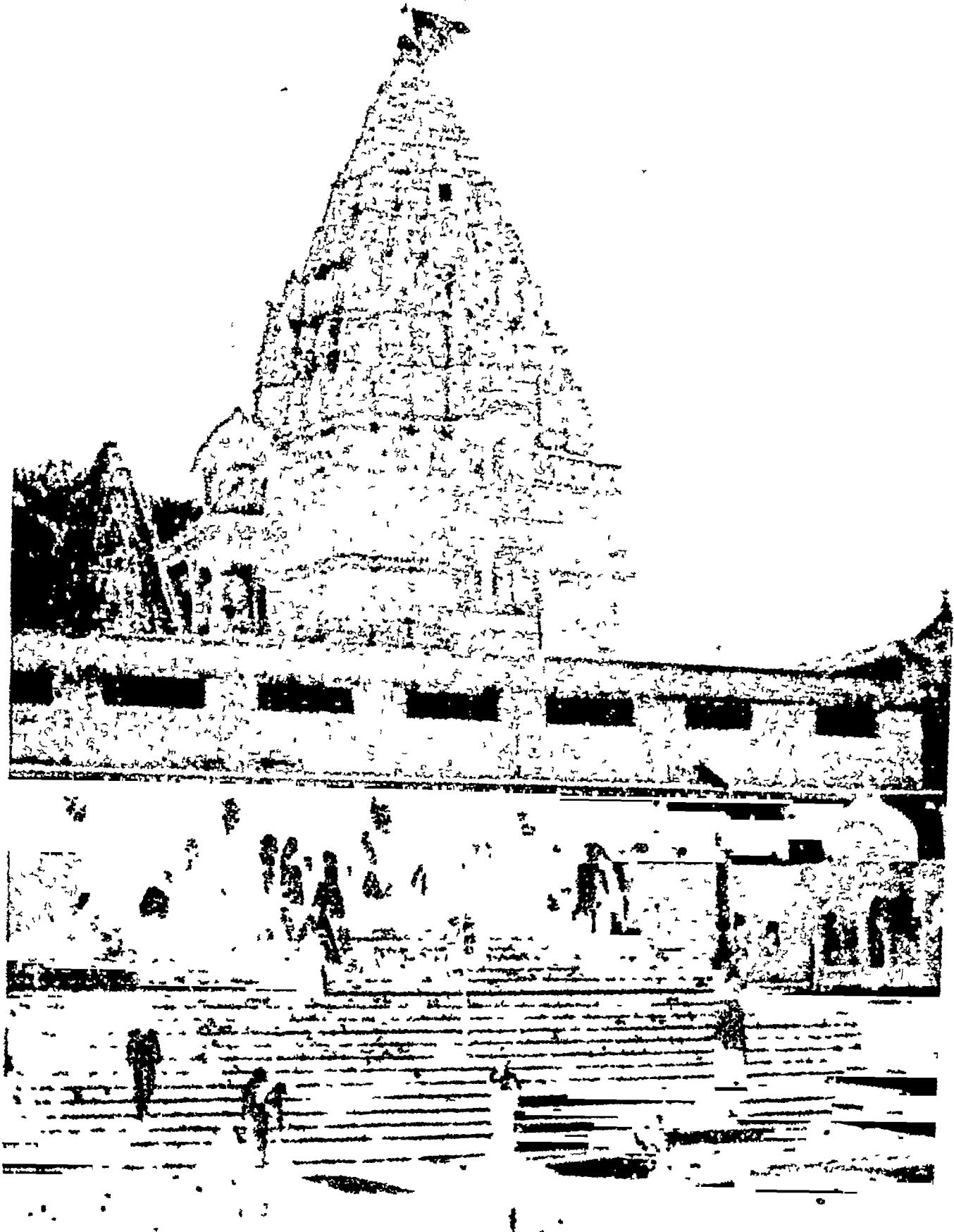
महाकाल-मंदिर
MAHAKAL-TEMPLE

ग्यारहवी सदी का मूर्ति-शिल्प
SCULPTURE OF ELEVENTH CENTURY

साहित्यिकों का सम्मान-भाजन विक्रम ।

'हाल ने जिस गाथा मे विक्रमादित्य की दानशीलता (चरणेन विक्रमादित्य चरितमनु शिक्षिततस्या') वर्णित की है। गुणाढय ने जिसे 'आक्रमिष्यति सद्वीपा पृथिवी' विक्रमेणय' विक्रमादित्य सज्ञक' तथा परिमल ने जिसे-ददर्श यस्यापदमिन्द्रकल्प श्री विक्रमादित्य इति क्षितीश. कहकर स-सन्मान अपने साहित्य मे प्रतिष्ठित किया है तथा वाण के पूर्ववर्ती कविराज सुबन्धु ने जिस विक्रमादित्य के ससार से उठ जाने पर महान शोक प्रदर्शित किया (सरसीवकीर्ति शेष गतवति भुवि विक्रमादित्ये) वही महान विक्रमादित्य हमारा अभिप्सित है और उसी विश्व प्रथित उज्जयिनी नाथ, जन हृदयासीन विक्रमादित्य ने यह स्मरणीय सवत ई० स० ५७ वर्ष पूर्व आरम्भ किया है। जो लोग विक्रम को केवल चन्द्रगुप्त तक ही लेकर विश्राति ले लेते है, वे कविवर 'हाल' की गाथा की जानबूझ कर अवहेलना करते हैं और गुणाढ्य के दो-विक्रम होने की जानकारी को भुला कर अपनी आत्म प्रवचना कर बैठते हैं। हजार वर्ष से पूर्व का गुणाढ्य भी चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त उज्जैन के एक स्वतन्त्र शकारि, सम्राट विक्रमादित्य के अस्तित्व को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर रहा है। जैन-ग्रन्थो की तो परम्परा सी है, जो प्रथम शती मे विक्रम को स्मरण करती है। यहा तक कि एक पुस्तक मे तो विक्रम सवत १ का भी उल्लेख किया है। कालिदास ने शाकुतल मे 'विक्रमादित्य' अभिरूप भूयिष्ठा परिषद' जिसके लिये कहा है, वह चन्द्रगुप्त नही आदिम विक्रमादित्य है।

वीर निर्वाण और विक्रम ।

जैन काल गणना क्रम के अनुसार विक्रम सवत का आरम्भ महावीर निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात अर्थात् वही ई० स० ५७ वर्ष पूर्व से होता है। जैन श्वेताम्वरीय साहित्य मे विक्रमादित्य पर जितना अधिक लिखा गया है, उतना अन्य किसी साहित्य मे उपलब्ध नही हैं। दिगम्वरीय ग्रन्थो मे भी उल्लेख है, किन्तु उतना नही, अत्यल्प है और शक एव विक्रम सवत का जैसा अन्तर है, उसी प्रकार दोनो समुदायो की उक्तकाल गणना में है। जैसे श्वेताम्व-रियो के मत मे महावीर निर्वाण से विक्रमाब्द का आरम्भ ४७० वर्ष बाद होता है। तो दिगम्बरीय मतानुरुप ६०५ मे। इस अन्तर को सगति विक्रम और शक सम्वत् गणना से क्रमश' लग जाती है। हा जैन ग्रन्थ सभी विक्रम सवतारम्भ की घटना में गर्दभिल्ल-वश का प्रमुख सम्बन्ध जुडाते है। इस विषय में वे एक मत है। पुराणो मे जिस गर्दभिल्ल वश का वर्णन आया है, उसी से जैनो की परम्परा सुसम्वद्ध हो जाती है। मत्स्य पुराण मे (अ० २७३ पृ० २९६) "सप्तैवाध्रा भविष्यन्ति दशाभीरास्तथा नृप' । सप्तैव गर्दभिल्लाश्च शकाचाष्टादशैवतु" ७ आध्र १० आभीर ७ गर्दभिल्ल, और १८ शक राजा के होने का उल्लेख है।

ब्राह्मण पुराण मे (म० भा० उपो० पा० ३ अ० ३७) मे

सप्तषष्ठिच वर्षाणि, दशाभीरा, स्ततो नृपा' ।
सप्त गर्दभिल्ल श्चैव भोक्ष्यन्तीमा द्वि सप्ततीम्"
इसी प्रकार वायुपुराण (उत्तर अ० ३७) मे—
सप्तैवतु भविष्यति दशा भीराम्ततो नृप. ।
सप्त गर्दभिल्लश्चपि ततोथोदश वैशकः।"

जैन ग्रन्थ 'तीर्थ्योगाली' मे गर्दभिल्लवशियो का शासनकाल १०० वर्ष लिखा है। तब 'मेरुतग' ने गर्दभिल्ल १७, विक्रमादित्य ६०, धर्मादित्य ४०, भाईल्य ११, नाईल्ल नाहण १० इस प्रकार गर्दभिल्ल आदि ६ पुरुषो में १५२ वर्ष का समावेश कर दिया है, किंतु यह अधिक हो जाता है। ऐसी स्थिति मे प्रसिद्ध वीर निर्वाण और जैन काल गणना के समीक्षक सशोधक पडित मुनिकल्याण विजयजी का यह अभिमत है कि विक्रमादित्य और धर्मादित्य बल-मित्र एव नभ. सेन से भिन्न नही। विक्रमादित्य धर्मादित्य राजत्व-काल मेरुतु ग क्रमश ६०, ४० वर्ष देते है। तव अनुक्रम से बलमित्र नभ.सेन ने भी ६०, ४० वर्ष राज्य किया है। मेरुतु ग विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र लिखते है :—

(तदनु गर्दभिल्लस्यैव सुतेन विक्रमादित्येन राज्ञोज यिन्या राज्य प्राप्य सुवर्ण पुरुष सिध्द वलात् पृथिवीमनृणा कुर्वता विक्रम सवत्सर. प्रवर्तित. । विचार)

वलमित्र को भी गर्दभिल्ल का पुत्र या वशज होना चाहिये, क्योकि गर्दभिल्ल के वाद वह उज्जैन का राज्याधि-

कार प्राप्त करता है। बलमित्र-भानुमित्र, १२ वर्ष तक उज्जैन का शासन करते हैं और इनके बाद सभवत: इन्ही का पुत्र या वशज नभ सेन ४० वर्ष तक उज्जयिनी का राज्य करता हैं। ये ५२ वर्ष गर्दभिल्लो के १०० वर्षो मे जुडा देने से १५२ वर्ष का गर्दभिल्लो का लेखा भी मिल जाता है और दर्पण १, बलमित्र २, भानुमित्र ३, नभ सेन ४, भाईल्ल ५, नाईल्ल ६, और नाहण ७, इस प्रकार गर्दभिल्लो की पुराणोक्त (सप्त-गर्दभिल्लाश्चैव) सख्या भी मिल जाती है।

स्पष्ट है कि 'जब सवत्सर की प्रवृति हुई वहा तक जैनो में महावीर निर्वाण के सबध मे कोई मत-भेद नही था, परन्तु पूर्व वर्णित ५२ वर्षों के इधर उधर हो जाने के बाद जब विक्कम राजाणतर तेरस वस्से ही वच्छर पवित्ती' और वीर निर्वाण के ४७० वर्ष के बाद विक्रम राजा हुआ और पृथ्वी को उऋण करके राज्य के १३ वर्ष मे उसने अपना सवत्सर चलाया। इस प्रकार की मान्यता रूढ हो जाने के बाद १३ वर्ष के आधिक्य वाली मान्यता का समर्थन भी किया जाने लगा।

प्रभावक—चरित्र के जीव देव सूरि प्रवन्ध मे प्रभा चन्द्र सूरि ने लिखा है कि जिस समय जीव देव-सूरि वायट नगर मे थे। उस समय विक्रमादित्य अवन्ती मे राज्य करता था। सवत्सर प्रवृत्ति के निमित्त पृथ्वी का ऋण चुकाने के लिये राजा ने अपने मत्री 'लावा' को बायट भेजा, जहा उसने महावीर मन्दिर का जीर्णोद्धार करवा कर विक्रम सवत ७ मे जीव देवसूरि के हाथ ध्वज-दण्ड प्रतिष्ठा करवाई (मूल श्लोक इस प्रकार है—इत श्री विक्रमादित्य शास्त्यवन्ती नराधिप आनृणापृथिवी 'कुर्वन् प्रावर्तयत वत्सरम्' ॥ वायटे प्रेषितामात्यो लिवारव्यस्तेन भूभुजा........। सवत्सरे प्रवृतेस षटपू वर्षेपु पूर्वत । गतेपु सप्तमस्यात प्रतिष्ठा) इसी प्रकार 'पावापुरी' कल्प मे भी जिन प्रभसूरी ने इसी आशय का उल्लेख किया हैं कि—महावीर निर्वाण के अनन्तर पालक, (युगप्रधान स्तोत्र यत्र के पत्र मे ऐसी गाथा है कि 'मह निव्वाणनिसाए गोयम पालम निवो अवन्तीए' अर्थात् जिस रात को महावीर निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्ती मे पालक राजा अभिपिक्त हुआ) इसको समर्थन देने वाली एक गाथा तित्थो गाली मे है—

'जरयणी सिद्धिगओ, अरहातीत्थकारो महावीरो त रयणीमवतीए, अभिसतो पालओ राया) नन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओ के बाद ४७० वर्ष पूर्ण होने पर विक्रमादित्य राजा होगा। वह सुवर्ण-पुरुप को सिध्द करके पृथ्वी को उऋण कर अपना सवत्सर चलावेगा (........ततो विक्कमइच्चो सो साहित्य सुवण्ण पुरिसो पुहवि अरिण काउ निम सवच्छर पवत्ती ही।)

इन उल्लेखो से यह तो स्पष्ट झलकता है कि वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य राजा हुआ और उसके वाद कालान्तर मे उसने अपना सवत्सर प्रचलित किया।

माधुरी वाचना वालो का मतोल्लेख करते हुये जैन सशोधको ने बतलाया है कि—इनके मतानुरुप–वीरनिर्वाण और विक्रम–सवत्सर का अतर ४७० वर्ष का था। इस मान्यता को व्यक्त करते हुये कहते है—

विक्रम रज्जारम्भ पुरओ सिरीवीर निव्वुई भणिया सुन्नमुणि वेयजुत्ती विक्कम कालाउ जिणकालो (यह गाथा मेरुतु ग की स्थविरावली धर्मघोषा की काल सप्ततिका एव प्रकीर्ण गाथा पत्रो में भी अनेक जगह है।)

अर्थात्—विक्रम-राज्यारम्भ के ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण हुआ, इसलिये विक्रम-काल में ४७० वर्ष मिला देने से, जिन काल होगा। इस मान्यता के उत्तर मे वाला भी वाचानुयायी कहते है कि नही। विक्रम-काल ४७० वर्ष ही नही, पर ४८३ वर्ष बढाने से जिन-काल आयेगा। क्योकि ४७० वर्ष का अन्तर तो विक्रमारम्भ और वीर निर्वाण का है। राज्यारम्भ के बाद १३ वर्ष मे विक्रम सवत प्रवृत हुआ इसलिये ४७० में १३ जोडने से ही वीर और विक्रम सवत का अन्तर निकलेगा। इसके समर्थन मे एक गाथा भी है।

"विक्कमराज्जाणतर तेरस्त वासेसु वच्छर पवित्तो" अर्थात् विक्रम के राज्यानन्तर १३ वर्ष के बाद सवत्सर प्रवृती हुई। इस गाथा का उल्लेख किसी मौलिक ग्रन्थ मे नही है। वडौदे के एक भण्डार के प्रकीर्ण पुराण पृष्ठो मे देखी है तथा विचार श्रेणी (मेरुतु ग) के परिशिष्ट मे भी

है और वहा यह लिखा है कि तित्थोगाली प्रकर्णिक मे है। "यद्यपि इस गाथा के सिवा दूसरे ग्रन्थ मे यह स्पष्ट नही लिखा है कि विक्रम राज्य के किस वर्ष मे सवत की प्रवृत्ति हुई थी। परन्तु अनेक लेखक यह तो अवश्य कहते हैं कि 'निर्माण से ४७० वर्ष में विक्रम राज्य प्रारम्भ हुआ और बाद में संवत्सर प्रचलित हुआ।'

जय जयति विक्रमादित्य।

जिस विक्रम की रश्मि राशि से समस्त भू-मण्डल ज्योतिर्मय बन रहा था और आज भी जिसके स्मरण मात्र से प्रत्येक भारतीय के मस्तक गौरवोन्नत बन जाते हैं, वही हमारी वन्दनीय विभूति है। जिसकी राजधानी उज्जयिनी के वैभव बाण, भास, कालिदास आदि सरस्वती के वरद अमर पुत्रो ने हृदयग्राही रम्य वर्णन किया है। जिसकी लोकप्रियता की गगन भेदी दुदभी की ध्वनि ने दो हजार वर्ष पूर्ण हो जाने पर भी प्रति-ध्वनि को अमन्द बनाए रखा है। जिसके द्वात्रिंशपुत्तलिका विनिर्मिता-सिहासन की चारु चर्चा ने समस्त देश की अनुश्रुतियो को सजग बनाए रखा है और जिसकी नवरत्न निर्मित नर-वरेण्य मालिका ने विश्व के विबुधवारो को विवेचनावस्था मे अवलम्बित बनाए रखा है। जिसकी दिग्विजय-कथा, शक पराभव, सम्वत प्रवर्तन और भारतीय-सस्कृति समुन्नयन की लक्ष-लक्ष गुण गौरव गाथाओ ने विद्वानो से लेकर अज्ञो, नागरिको से लेकर ग्रामवासियो तक को अपने अस्तित्व में आश्वस्त बनाए रखा है। वह चाहे इतिवृतो के परिगणित पण्डितो की पर-प्रेरित प्रज्ञा में सहज प्रविष्ट न हो सके। पर वह जन-गण के हृदयो मे उनकी समस्त सद्भावना और श्रद्धा का आराध्य केन्द्र-विन्दु बन सादर समासीन है। उसी की पावन पुण्य स्मृति मे हमारी असख्यात अविनाशी अक्षरो मे रचित भावाजली समर्पित है। 'शक पल्हव-यवननिषूदन, वर-वारण 'विक्रमादित्य' के नाम से हमारे देश की वह महनीय सस्कृति सन्निहित है, जिसकी धुधली आभामात्र प्राप्त करके हमारा इतिहास दो हजार वर्ष के पश्चात भी गर्वोन्नत मस्तक अनुभव करता है। विक्रम 'यह' था, कि 'वह' यह विवाद केवल अनुसन्धान प्रिय पण्डितो की समीक्षण का अधिकारी है। आज विश्व मे जिस तेजः पुन्ज की प्रकाश राशि अपना विमल-धवल प्रकाश प्रसारित कर रही है, वह कहां से और किस प्रकार उद्भूत है। इसके परिज्ञान-कर्ताओ की परिधि अनुसन्धान-शाला तक मर्यादित है। हम कोटि-कोटि मानव समूह को अपने हृदय मे उस जन वाणी पर अमर आसीन रहने वाली विक्रम की दिव्य ज्योति का परमालोक प्राप्त कर चिर-आलोकित बने रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं।

विक्रम मे हम अपने विशाल देश की समर्थ शक्ति की समभ्यर्चना करते है, जिसकी पावन-स्मृति की धरोहर 'सम्वत' वर्ष काल गणना की स्मरण-मणिकी तरह इतिहास की श्रृंखलाएँ एक दूसरे से जुड़ाती ही चली जाती है।

विक्रम-कालिदास और उज्जयिनी हमारे राष्ट्र की शौर्यमयी-स्वाधीनता और सुवर्ण युग की अभिमान वस्तु है। इस त्रिपुटी मे राष्ट्र की परमोन्नत सस्कृति का सर्वांगीण समावेश है। इस सस्कृति के गौरव-गिरि पर खडे होकर हम विश्व की समस्त सम्पदाओ को निम्न स्तर पर अपने सम्मुख आँचल पसारे हुए देखते है। आज हम कठोर श्रम एव त्याग से अर्जित स्वतन्त्रता की रक्षा मे तन मन धन अर्पित करने हेतु बल प्रदान करने के लिए शकारि विक्रम की साजलि समभ्यर्थना करते है

विक्रमी विक्रमादित्य की जय हो।
स्वतन्त्र भारत की जय हो।

'हिन्दुस्तान की कहानी' में उज्जैन

(श्री जवाहरलाल नेहरु कृत 'हिन्दुस्तान की कहानी' से सकालित)

ईसा से ५७ वर्ष पहले जब कि इस विक्रम सवत् का आरम्भ होता है इस तरह के किसी शासक का पता नही है । हां, उत्तर हिन्दुस्तान मे चौथी सदी ईस्वी मे एक विक्रमादित्य था, जो हूणो के साथ लडा था और जिसने उन्हे मार भगाया था । यही वह व्यक्ति है जिसके दरबार मे नवरत्नो का होना समझा जाता है और जिसके गिर्द यह कहानिया वनी है । अब सवाल यह होता है कि चौथी सदी ईस्वी के इस विक्रमादित्य का ताल्लुक उस सवत से कैसे हो सकता है, जिसका आरम्भ इससे ५७ वर्ष पहले होता है ? शायद इसकी व्याख्या इस तरह है कि मध्यभारत की मालवा रियासत मे ५७ ई० से शुरू होने वाला एक सवत चला आ रहा था । विक्रम के वहुत बाद यह सवत उसके नाम के साथ किसी तरह जुड गया और उसका नया नामकरण हुआ ।

(पृष्ठ क्रमाक ११६)

मिहिरगुल के बर्बर व्यवहार और पिशाची निर्दयता ने आखिरकार लोगो को जगाया और यशोवर्धन के नेतृत्व मे मिलजुलकर लोगो ने उन पर हमला किया । हूणो की ताकत तोड दी गई और उनके सरदार मिहिर-गुल को कैद कर लिया गया, लेकिन गुप्तो के वशज, बाला-दित्य ने अपने मुल्क के रिवाज के बमुजिब, उसके साथ उदारता का बर्ताव किया और उसे हिन्दुस्तान से वापस जाने दिया । मिहिरगुल ने इस बर्ताव का यह बदला दिया कि बाद मे वह फिर लौटा और उसने अपने मेहरवान पर कपट से हमला किया ।

(पृष्ठ क्रमाक १६०, १६१)

हर्षवर्धन कवि और नाटककार भी था और उसके दरबार मे वहुत से कलाकार और कवि बने रहते थे, और इसकी राजधानी उज्जयिनी सास्कृतिक कामो का एक मशहूर केन्द्र बन गई थी । हर्ष ६४८ ई० मे मरा । यह करीब-करीब वही वक्त था, जबकि इस्लाम अरब के रेगिस्तान मे उठ रहा था, जो बाद मे बडी तेजी से अफ्रीका और एशिया में फैलने वाला था ।

(पृष्ठ क्र० १६१)

उज्जयिनी (अब उज्जैन) मध्य हिन्दुस्तान मे जो बहुत बडी वेधशाला है, उसका मिस्त्र सिकन्दरिया से सम्बन्ध था ।

(पृष्ठ क्र० १८१)

कालिदास सस्कृत साहित्य का सबसे बडा कवि और नाटककार माना गया है । प्रोफेसर सिल्वान लेवी ने लिखा है, 'हिन्दुस्तानी कविता और साहित्य के क्षेत्र मे कालिदास का नाम चमक रहा है । नाटक, महाकाव्य, और विरहगीत आज भी इस कलाकार की प्रतिभा और सूझ-बूझ का सबूत दे रहे हैं । सरस्वती के वरद पुत्रो मे यह अद्वितीय हैं और इन्हे ही ऐसी महान रचना करने का सौभाग्य हुआ है, जिससे हिन्दुस्तान का आदर बढा है और खुद मानवता ने अपने को पहचाना है । उज्जयिनी मे शकुन्तला के जन्म पर जो आलोक हुआ था, उसने कई लम्बी सदियो बाद पश्चिम की दुनिया को भी तब आलो-कित किया था, जबकि विलियम जोन्स ने इसका उसे परिचय कराया । कालिदास ने अपने लिए उज्ज्वल तारो

के बीच स्थान कर लिया है, जहाँ कि हर एक नामी इन्सानी भावना के एक युग की नुमायन्दिगी करता है। इन नामो का सिलसिला इतिहास की रचना करता है। बल्कि यो कहिए कि खुद इतिहास बन जाता है।'

कालिदास ने और नाटक भी लिखे हैं, और कुछ लम्बे काव्य रचे हैं। उनका वक्त ठीक-ठीक नही तय हो पाया है, लेकिन अनुमान है कि वह चौथी सदी ईस्वी के अन्त तक लगभग, उज्जयिनी में, गुप्त खानदान के चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के जमाने मे थे।

परम्परा कहती है कि वह इस दरबार के नवरत्नो में से एक थे, और इसमे कोई शक नही कि उनकी प्रतिभा को लोगो ने पहचाना और उनकी अपनी जिन्दगी में पूरी कद्र हुई। वह उन भाग्यवानो मे से एक थे, जिन्हे कि जिन्दगी में आदर मिला और जिन्होंने सुन्दरता और कोमलता का, जिन्दगी की कडाइयो और रूखेपन के मुकाबले मे ज्यादा अनुभव किया। उनकी रचनाओ मे जिन्दगी के लिए प्रेम और प्रकृति की सुन्दरता के लिए एक उमग मिलती है।

कालिदास की एक बडी कविता है 'मेघदूत'। एक प्रेमी है, जिसे कि पकडकर अपनी प्रेयसी से अलग कर दिया गया है। बरसात के मौसम में, एक बादल से अपनी गहरी चाह का सन्देश उसके पास पहुचाने के लिए कहलाता है। इस कविता की और कालिदास की अमेरिकन विद्वान राइटर ने जी खोलकर तारीफ की है।

(पृष्ठ क्र० १८६)

पुराने नाटको की [कालिदास और दूसरो के] भाषा मिली जुली है यानी उसमें सस्कृत और एक या ज्यादा प्राकृतो का इस्तेमाल हुआ है। यह प्राकृत सस्कृत की ही बोलचाल का रूप है। एक ही नाटक मे पढे-लिखे लोग संस्कृत बोलते हैं और साधारण अनपढ़ लोग आमतौर से औरतें, प्राकृत बोलती हैं. हालाकि इसके अपवाद भी मिलेंगे। श्लोक या गीत जिनकी बहुतायत है, सस्कृत में हैं। इस मिली जुली भाषा की वजह से शायद नाटक आम तमाशबीनो को ज्यादा मकबूल होता था। यह साहित्यिक भाषा और आम पसन्द कला के तकाजो के बीच का एक समझोता था। सिल्वान लेवी, इसका कुछ मानो मे फरासीसी दुःखात नाटको से मुकाबला करता है जो अपने विषयो के चुनाव की वजह से आम लोगो से अलग जा पडा था, और जिसने असली जिन्दगी से मुडकर एक रस्मी समाज पैदा कर लिया था।

लेकिन इस ऊँचे दर्जे की साहित्यिक रगशाला को छोडकर, हमेशा एक आम लोगो की रगशाला रही है जिसकी बुनियाद मे हिन्दुस्तान के महाकाव्यो और पुराणो की कथाएँ होती थी, और इन मजमूनो से देखने वाले वाकिफ हुआ करते थे और उन्हे तमाशे से मतलब होता, नाटकीय तत्वो की जाच से नही। यह खेल लोगो की बोली मे होते, इसलिए अलग-अलग इलाको मे अलग-अलग बोलियाँ इस्तेमाल की जाती थी। दूसरी तरफ सस्कृत नाटक ऐसे थे, जिनका कि सारे हिन्दुस्तान में चलन था, क्योंकि सस्कृत सारे हिन्दुस्तान की भाषा थी।

[पृष्ठ क्र० १८६]

'नर-रूप रत्नों से सजी थी वीर विक्रम की सभा,
अब भी जगत में जागती है, जगमगी जिनकी प्रभा।
जाकर सुनो उज्जैन मानो आज भी यह कह रही,
मैं मिट गई, पर कीर्ति मेरी तब मिटेगी जब मही॥'

—मैथिलीशरण गुप्त

उज्जयिनी का मूर्ति-शिल्प *

श्री श्याम अग्रवाल,
बी. ई आनर्स, ए एम आई ई.

भारतीय कही जानेवाली कला की विशिष्टता का सम्बन्ध मूलत , भारत मे निर्मित मन्दिरो मे निहित है। प्राचीन भारत मे कला धार्मिकता का आवरण ओढे प्रस्तुत हुई। समय आया जब मन्दिरो का सम्पूर्ण वाह्य रूप तत्कालीन प्रचलित धार्मिक भावनाओ का दर्पण बनने लगा। तदनुसार समय के माननीय देवी देवताओ को उनकी विभिन्न मुद्राओ मे ईट पत्थरो के माध्यम से उच्चित्रित कर मन्दिर के वाह्य रूप पर छा दिया जाता, मानो मानसिक भावना इन जड पदार्थों मे साकार हो उठी हो।

कालान्तर मे मन्दिर केवल पूजा-अर्चन के केन्द्र न रहकर सामाजिक व सास्कृतिक जीवन मे भी प्रभावशील हो गये। प्रचुर मात्रा मे प्राप्त भूमि व अर्थदान उन्हे आर्थिक दृष्टि से भी पूर्णत' स्वावलम्बी बनाने में सहायक हुआ। फल यह हुआ कि समाज मे होने वाले उत्सवो से लेकर छोटी-बडी सभी आकस्मिक आवश्यकताओ के लिये मन्दिरो का आश्रय लिया जाता। इसी कारण मन्दिरो के वाह्य रूप मे आध्यात्मिकता के साथ साथ जन साधारण के दैनिक कर्मकाण्डो को भी स्थान मिलने लगा। यही कारण हैं कि जहा ऐलोरा की गुफा-मन्दिरो मे मुख्यत' देवी-देवताओ की मुद्राओ के उच्चित्र (रिलीफ) हैं, वहा (खजुराहो) के मन्दिरो पर मनोरजन व शृ गार-प्रसगो से लेकर कामासक्त मूर्तियो का बाहुल्य है।

यह सच है कि भारत में निर्मित मुख्य व विशाल मन्दिर अधिकतर नवी और सौलहवी शताब्दी के बीच के हैं, परन्तु 'उनको सजीवित करने वाली मूर्तिकला का इतिहास इनसे दो हजार वर्षों से अधिक प्राचीन है। विस्मृत काल से ही मनुष्य किसी न किसी रूप मे मूर्तिया बनाता आया है। प्रारम्भ मे सहज ही रूप दिये जा सकने योग्य पदार्थ, जैसे मिट्टी, गोवर आदि को उसने अपनी कल्पना को स्वरूप देने का माध्यम बनाया। धीरे-धीरे उसने मिट्टी को पकाना सीखा, लकडी को तराशना जाना। पत्थर को तराश कर प्रतिमाए बनाने की कला का ज्ञान तो उसे फिर भी बहुत देर से हुआ। परन्तु जब उसे इस माध्यम की उपयोगिता ज्ञात हुई तब से उसने इसे इतनी तेजी से अपनाया कि वह स्वय अपने प्रारम्भिक माध्यमो को भूल सा बैठा।

आज के मध्य प्रदेश मे स्थित उज्जयिनी को प्राचीन काल से ही, भारत का प्रमुख तीर्थ होने का गौरव प्राप्त

* उज्जयिनी के मूर्ति शिल्प से किसी विशेष शैली से सम्बन्ध नही है,- वरन् उज्जयिनी मे प्राप्त शेष मूर्तियो का विवेचन है। देश मे गुजरे प्राय: सभी राजनैतिक परिस्थितियो का इससे सम्बन्ध होने से यह स्थान उन सभी के कर्मों का मूक साक्षी है। सच तो यह है कि यहा प्राप्त मूर्तिकला, सहज ही, सपूर्ण भारतीय शिल्प का एक ही स्थान पर प्रतिनिधित्व करने में सफल है।

है। ईसा पूर्व छठवी सदी मे गौतम बुद्ध के समकालीन, अवन्ति-महाजनपद के शासक, चण्डप्रद्योत[1] के तीसरे पुत्र कुमारसेन का वध महाकाल के मन्दिर मे हो जाने के प्राप्त उल्लेख से स्पष्ट है कि आरम्भिक ऐतिहासिक काल मे भी नगरी मे मन्दिरो का विशिष्ट स्थान था। कहना न होगा, मन्दिरो के विकास के साथ ही कला के विकास में निरन्तर प्रगति होती रही।

धार्मिक स्थान होने के साथ ही, उज्जयिनी विभिन्न राजनैतिक, सास्कृतिक व सामाजिक गतिविधियो का केन्द्र रही है। भारत मे वनते विगडते अनेक राजवशो से यह प्रमुखरूप से सम्बन्धित रही। स्मृति स्वरूप प्राय' प्रत्येक अपनी कृति व कला यहा छोड गया। इन शेष स्मृतियो का दूसरा नाम ही यहा का इतिहास है।

उज्जयिनी मे प्राप्त मूर्तिकला को चार मुख्य भागो मे वाटा जा सकता है। १. पूर्व-गुप्त कालीन २ गुप्तकालीन व पूर्व-परमार कालीन ३ परमार कालीन और ४ पश्चात्-परमार कालीन।

पूर्व गुप्त कालीन–
(ई. पू. ६०० से ई. सन् ४०० तक)[2]

इस अवधि में उज्जयिनी ने अनेको राजवशो का उदय व अस्त देखा है। गुप्तकाल के पूर्व उज्जयिनी से सम्बन्धित मुख्य थे—यहां का प्रद्योतवश, मगध के नदी व मौर्यवश, विदिशा के शुगवश व नागवश, विदेश से आये शक व पल्लव वश, उज्जयिनी के ही गर्धभिल्ल वश और यही के शक-क्षत्रप।

प्रद्योतवश ई० पू० छठवी शताब्दी से प्रारम्भ होकर लगभग डेड सौ वर्ष उज्जयिनी पर प्रभावशील रहा। उस समय का शिल्प जो मुख्यत लकडी व मिट्टी के माध्यम से था, अव उपलब्ध नही है और सम्भवत नष्ट हो चुका है, परन्तु इस वश के प्रतापी शासक चडप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता और अवन्ति महाजनपद की सीमा से लगे, वत्स महाजनपद के शासक उदयन की प्रेम कथा को दर्शाने वाला पकाई मिट्टी का शिल्प (टेराकोटा) वत्स की राजधानी कौशाम्बी की खुदाई मे प्राप्त हुआ है। यह मिट्टी का शिल्प ई० पू० दूसरी शताब्दी का माना गया है।[3]

ई० पू० ३२५ से ई० पू० १५० तक का समय मौर्यकाल कहा जा सकता है, परन्तु शिल्प कला का विकास सम्राट अशोक के ई० पू० २६९ में सिंहासनारूढ होने के वाद ही हुआ। वैसे अपने पिता बिन्दुसार के राज्यकाल मे अशोक ई० पू० २८४ से २७३ ई० पू० तक, अवन्तिका राज्यपाल रह चुका था,[4] एव उसका मुख्यालय उज्जयिनी मे रहा। विदिशा की वैश्यकन्या असधमित्रा से विवाह होने के वाद ११ वर्ष यहा व्यतीत किये। इस कारण जब वह स्वय सम्राट बना, उज्जयिनी उसे प्रिय बनी रही। बौद्ध-धर्म

1—उज्जयिनी इन एनशियन्ट इडिया . पृ० १०४ विमलचरण लॉ

2—ऐतिहासिक काल ६वी शदी ई० पू० से माना जाता है क्योकि यहा से लिखित इतिहास योग्य प्रामाणिक सामग्री मिलना प्रारम्भ होने लगती है। मूर्ति-शिल्प के इतिहास को यहा से प्रारम्भ कर सन् ४०० ई० तक के एक हजार वर्ष को एक ही भाग मे रखा जा रहा है। इसका मुख्य कारण है कि उज्जयिनी ने समय के इतने चढाव उतार देखे हैं कि इस अवधि के उज्जयिनी-अवशेष अत्यन्त कम मात्रा मे उपलब्ध रह गये हैं। एक और विशेष बात ध्यान देने योग्य है। कला की काल–सीमा पूर्णत. राजनैतिक काल की सीमा से नही मिल जाती। उदाहरण के लिये गुप्तकाल का राजनैतिक प्रारम्भ ई० सन् ३०० से माना जाता है, परन्तु मूर्ति शिल्प कला की सीमा सन् ४०० ई० तक पूर्व गुप्तकालीन रखा गया है। कारण स्पष्ट है, राजनैतिक काल की सीमा पूर्णत विकसित हो जाने के वाद ही उसकी छाप किसी कला-सीमा पर पडती है।

3—मध्य भारत का इतिहास पृ० १७८ हरिहरनिवास द्विवेदी।

4—हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इडियन पीपल—वाल्यूम २, पृ० ७३।

स्वीकार कर लेने के बाद उसने जगह-जगह स्तूप बनवाये। उसकी वैश्य-पत्नी के सहयोग से बना उज्जयिनी मे भी एक स्तूप है, जो अब वैश्या टेकरी के नाम से जाना जाता है। नीचे गोलाई मे लगभग १०० मीटर और ऊपर तीस मीटर व्यास की टेकरी, जो कभी स्तूप थी, पकाई ईटो से बनी हुई है। ईटो की लम्बाई लगभग ५६ से० मी०, चौडाई ४५ से० मी० व मोटाई ९ से० मी० है। इनके बारे मे अनुमान है कि ये ई० पू० तीसरी सदी की बनी है।

बौद्ध स्तूपो के चारो ओर साधारणतः जो वेदिका (रेलिंग) रहती है, वह इस स्तूप के पास नही है। यदि कोई रेलिंग थी, तो वह लकडी की रही होगी जो अब नष्ट हो चुकी है।

पत्थरो को तराश कर प्रतिमायें बनाने का काम सम्राट अशोक के वैभव सम्पन्न राज्यकाल से चल पडा। सभवतः बाहर से भी अनुभवी शिल्पकार बुलवाए गये। माध्यम पत्थर व भावना विशुद्ध भारतीय रखकर, जन-साधारण के सम्मेलन स्थलो पर, राजाज्ञानुसार, पाषाण स्तम्भ बनवाए गये। इन स्तम्भो के शीर्षो पर पशुओ की प्रतिमायें बनवाई जाती थी जो बौद्ध धर्म में आदेशित पशु प्रेम का प्रतीक थी। वृषभ, हस्ति, अश्व व सिंह, स्तम्भो के शीर्ष के लिए चुने गये थे। उज्जयिनी के पास सोढग नामक ग्राम में एक हस्नि प्रतिमा का अवशेष प्राप्त हुआ है। चुनार पत्थर से बने इस हस्ति-प्रतिमा पर चिकना ओप (पालिश) है, जो अशोक कालीन मूर्तिओ की अचूक पहचान है। इससे ज्ञात होता है कि उज्जयिनी के आसपास भी अशोक ने स्तम्भ अवश्य निर्माण करवाए होंगे।

मौर्यकालीन शिल्प के उक्त शेष अवशेषो को छोड कर, उज्जयिनी के कुम्हार टेकरी के उत्खनन से प्राप्त कुछ मिट्टी से बने चिकने पात्र व हाथी दाँतो के सामान हैं, जो इस काल की शिल्पकारी से सम्बन्धित हैं। ये अवशेष अब ग्वालियर के गूजरी महल सग्रहालय में है।

पत्थर को गोलाकृत (अर्थात जिसे चारो ओर से देखा जा सके) तराशकर बनाने की प्रथा शुंग काल मे भी प्रचलित रही। इस समय के कुछ अवशेषो में एक पुरुष प्रतिमा का ऊपरी भाग है। इस मानव प्रतिमा को शुंग-यक्ष कहा गया है। बलुआ पत्थर पर तराशी मूर्ति गोलाकृत है और ई० पू० प्रथम शताब्दी की आँकी गई है। मूर्ति का चेहरा भारी, किन्तु हसमुख है। उस समय के पुरुष पहरावे पर यह प्रतिमा अच्छा प्रकाश डालती है।

उज्जयिनी के सादिपनि आश्रम मे, एक मन्दिर के सामने नन्दी की एक प्रतिमा है। डेक्कन ट्रेप पत्थर पर गोलाकृत मूर्ति की बनावट पूर्व गुप्त कालीन है। उदयपुर (मध्यप्रदेश) मे भी इसी प्रकार की खडे नन्दी की प्रतिमा प्राप्त हुई है। परन्तु उज्जयिनी के नन्दी की प्रतिमा उससे अधिक सुगढ है।

प्रस्तर मूर्ति शिल्प का विकास होते ही जन-साधारण अपने इष्ट-देवताओ को इस माध्यम मे उतारने के लिए लालायित हो उठा। वह इन देवी-देवताओ को मन्दिर में स्थान देना चाहता था, ताकि वहां जाकर अपने इष्ट-देव के समक्ष अपनी प्रार्थना अर्पित कर सके, मानो सर्वोच्च पालनहार -शासक अपने दरबार मे बैठा, उसकी माँग सुनने के लिये तत्पर बैठा हो। इस भावना ने भारतीय शिल्पकार के गोलाकृत मूर्ति बनाने की प्रवृत्ति में मोड ला दिया। प्रतिमाओ का उच्चित्र स्थान दीवार था और दीवार के पीछे जाने की आवश्यकता नही थी। अब गोलाकृत मूर्तिया होने के बदले उच्चित्र (रिलीफ) शिल्प अधिक बनने लगा।

उक्त आवश्यकतानुसार शिल्पकार प्रारम्भ में गोलाकृत मूर्तियो में जहाँ हो सका, उच्चित्र सम्मिलित करने लगा। सभवत एक मुख, त्रिमुख, पचमुख आदि शिवलिंग के प्रारूप इसी भावना से ओतप्रोत है। उज्जयिनी के पास पिंगलेश्वर ग्राम में एक चतुर्मुख शिवलिंग है। बनावट में यह कुशान कालीन प्रतीत होता है। वैसे कुशानो का सीधे उज्जयिनी पर कभी अधिकार नही रहा। परन्तु दूसरी सदी ई० के पूर्वार्द्ध मे जब शक क्षत्रप चष्टन का उज्जयिनी पर शासन था, तब उसके समकालीन कुशान शासक, कनिष्क, ने उसे हरा कर शको को कुशानो की श्रेष्ठता मानने के लिये बाध्य कर दिया था। इस परिस्थिति से शिल्प अप्रभावित रह सका हो, इसकी सभावना नगण्य ही है।

PHOTO SHYAM AGRAWAL

शुंग-यक्ष ।
बलुआ-पत्थर पर तराशी यह मानव प्रतिमा गोलाकृत है ।
(ई० पू० प्रथम शताब्दी)
(पृ० १६)

सांदिपनि-आश्रम के पास, गङ्गे-नदी की प्रतिमा
बलुआ-पत्थर की इस गोलाकृत प्रतिमा की बनावट पूर्व-गुप्तकालीन है ।
(पृ० १६)

सूर्य ।
लाल-बलुआ पर बनी इस प्रतिमा पर गुप्तकाल की स्पष्ट छाप है ।
(शल्प-६वी सदी)
(पृ० १७)

S.S

PHOTO . SHYAM AGRAWAL

चतुर्मुख-शिवलिंग (कुशान-कालीन)
(पृ० १६)

दुर्भाग्यवश अत्यत भद्दे ढग से, सिमेन्ट द्वारा, उस मूर्ति की मरम्मत करने का प्रयत्न किया गया है। प्रतिमा पर पेन्ट लगाकर आखो की पुतलिया, दाढी आदि बनादी गई हैं, जिससे उसके मूल रूप को भारी क्षति पहुची है। यह शिल्प तीसरी सदी के अन्त अथवा चौथी सदी के पूर्वार्द्ध का है।

गुप्तकालीन व पूर्व-परमार कालीन (सन् ४०० से सन् ९०० ई.)

यद्यपि गुप्त वश का उदय तीसरी शताब्दी मे हो चुका था, तथापि उज्जयिनी से उसका सीधा सवध उस समय हुआ जव गुप्त वश के पाचवें शासक सम्राट चद्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१४ ई०) ने सन् ३८८ ई० में शक क्षत्रप रूद्र-दामन को मार कर शकारि की उपाधि ग्रहण की। इसलिये उज्जयिनी मे गुप्त कालीन शिल्प का प्रारम्भ चौथी शताब्दी के वाद ही मानना उचित होगा। इसी प्रकार इस शैली का प्रभाव छठवी सदी मे गुप्तो के अवसान के वाद भी यहा रहा आया।

गुप्तकाल मे उच्चित्र-मूर्ति शिल्प पूण रूप से विकसित हो सका। गोलाकृत-शिल्प भी पीछे नही रहा। सुअनुपात एव सौन्दर्य इस काल के शिल्प की अपनी विशेषता है, जिसे किसी शैली ने नही पाया। पूर्व गुप्तकालीन प्रतिमाओ की तुलना मे इस काल मे आभूषण एव अलकरणो में वृद्धि अवश्य की गई, किन्तु उनका उपयोग इतने सुचारू रूप से हुआ है कि वह सौन्दर्य पर कही भी हावी नहीं हो सका। इस काल की कृतियां भारतीय मौलिकता का अद्वितीय उदाहरण है।

गुप्त सम्राट विष्णु पूजक थे और 'परम भागवत' कहलाते थे। परन्तु सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता उनकी अपनी विशेषता थी। इस कारण उस समय के मान्य सभी धर्मों के देवताओ की प्रतिमाए विकसित कलाकृति वन सकी।

उज्जयिनी के पास कायथा से प्राप्त सूर्य-प्रतिमा का ऊपरी भाग इस काल की सुन्दर कृति का उदाहरण है। सूर्य की यह प्रतिमा लाल वलुआ पत्थर की वनी है। यद्यपि इसका निचला हिस्सा प्राप्त नही हो सका है, तथापि जो कुछ प्राप्त हैं वह मानव शरीर के अगो का सुअनुपात दर्शाने के लिये पर्याप्त है। हसमुख चेहरे के पीछे प्रभा-मण्डल है। आभूषणो का उपयोग सुसस्कृत है। शिल्प लगभग ६ वी शताब्दी का है।

इसी काल का दूसरा सुन्दरतम् उदाहरण उज्जयिनी के गढकालिका मन्दिर से कुछ ही मीटर दूर पर स्थित चार-विष्णु प्रतिमाए हैं। चार अलग-अलग प्रतिमाए एक के पास एक, चारो दिशाओ की ओर मुख किये, शान्त मुद्रा मे शिल्पित की गयी है। विष्णु के इन चारो रूपो मे से एक नरसिंह रूप भी है। मुद्राए इतनी सजीव हैं कि देखते ही बनता है। शिल्प सातवी सदी के अन्तिम दशक का या आठवी सदी के प्रारम्भ का है।

नवमी शताब्दी मे शिल्पित गोवर्धनधारी-कृष्ण का उच्चित्र-मूर्ति-शिल्प, उज्जयिनी मे प्राप्त कृष्ण की कतिपय मूर्तियो मे से है। इसमें कृष्ण को बाए हाथ से, हथेली पर, गोवर्धनपर्वत उठाये दर्शाया गया है। दूसरा हाथ प्राकृतिक ढग से जांघ के पास रखा गया है। मुख्य मूर्ति के एक ओर गायो को विभिन्न अवस्थाओ में वतलाया गया है और कृष्ण के साथी, ग्वालगण, दूसरी ओर हैं। इसी ओर एक स्त्री को दही विलोने में रत वताया गया है। नीचे की ओर दो स्त्रिया हाथ जोड़े हुए हैं।

इसी शताब्दी की जनसाधारण के आमोद-प्रमोद का एक प्राप्त उच्चित्र शिल्प, विषय में सामान्य होकर भी, शिल्पकारी में किसी से कम नही है। इस उच्चित्र मे दो पुरुष नृत्य में मग्न दिखाये गये हैं। वेश-भूषा अत्यन्त सादी है। आधे जाघो तक वधी धोती, सिर पर साधारण-सी पगडी और गले, कान, हाथ व कमर में साधारण आभूषण, परन्तु शरीर के अगो की सुन्दरता, भाव में नृत्य तल्लीनता दर्शनीय है। जो व्यक्ति पीठ की ओर दिखाया गया हैं, वह तो ऐसा लगता है जैसे अभी-अभी उछल कर घूम पडा हो।

परमार कालीन (९०० ई. से १३००)

उपेन्द्र देव अथवा कृष्णराज ने नौवी शताब्दी के प्रारम्भ मे मालवा में परमार वश की नीव डाली थी,

किन्तु वह और उसके वशज पूर्ण रूप से ९४१ ई० तक प्रमुख शक्ति का रूप धारण न कर सके । इस अवधि में उन्हे कभी प्रतिहारो के और कभी राष्ट्रकूटो के अधीनस्थ रहकर शासन करना पड़ा । सीयक द्वितीय (९४१—९७३ ई०) अथवा हर्षदेव[5] ने राष्ट्रकूट शासक खोट्टिगदेव को पराजित कर मालवा मे परमारो के पूर्णरूप से स्वतत्र राज्य की स्थापना की । उज्जयिनी उनकी राजधानी ग्यारहवी सदी के पूर्वार्द्ध तक रही, जब इस वश के सबसे अधिक प्रख्यात एव शक्तिशाली शासक भोजदेव (१०१०--१०५५ ई०) ने धार को अपनी राजधानी बना लिया ।[6]

सभी परमार शासक शिव भक्त थे । उनके लगभग ३०० वर्षो के शक्तिशाली राज्य में अनेक शिवप्रतिमाओ एव शिव मन्दिरो का निर्माण हुआ । उज्जयिनी आज भी इनके अवशेषो से भरी पडी है । शिव को अनेकानेक मुद्राओ में विभिन्न आकारो में शिल्पित किया गया है । इसके साथ ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवियो में महिषासुर-मर्दिनी, चामुण्डा आदि की सुन्दर कलाकृतिया भी उपलब्ध हैं । शिल्प का स्तर धीरे धीरे बढकर इतना ऊचा हो गया कि कही-कही उनके गुप्तकालीन होने का भ्रम होने लगता है ।

प्रारभिक परमारकालीन शिल्प के उदाहरण स्वरूप दसवी सदी का शिवपार्वती प्रणय का उच्चित्र-मूर्ति शिल्प है । इसमे इन्हे शिव के वाहन नन्दी पर आसीन बताया गया है । उच्चित्र को देखकर पहली ही दृष्टि मे जो बात प्रभावित करती है वह है मानव शरीरो का कुछ अधिक भारीपन लिये बनाये जाना । स्त्री-मूर्ति को गुप्तकालीन शैली के अनुरूप ही न्यूनतम वस्त्र पहनाऐ गये है । अगो मे सुअनुपात है व अलकरणो का उपयोग अधिक नही हैं ।

विष्णु के अवतारो मे वराह-अवतार की प्रतिमाओ का निर्माण गुप्तकाल से ही प्रचलित हो चुका था । पौराणिक कथाओ के अनुसार भगवान विष्णु ने महावराह का रूप धारण कर पृथ्वी को ऐहिक महासागर के सकट से उबारा था । दसवी सदी के गोलाकृत शिल्प मे परमार काल मे भी इसका शिल्पांकन हुआ । प्राप्त शिल्प का सामने का भाग खण्डित हो चुका है, परन्तु पृथ्वी को स्त्री रूप मे प्रस्तुत करने वाली प्रतिमा अखण्डित है । पृथ्वी के मुख पर भय के भाव दिखाने का प्रयत्न किया गया है । मुख की रचना पूर्णत मालवी है, जो सन् १०३४ ई० की भोज की वाग्देवी प्रतिमा (जो अब ब्रिटिश म्युजियम् लदन में है) के मुख की बनावट से मिलती जुलती है । फिर भी कृति उच्च कोटि की नही बन पडी है ।

दसवी सदी का महिसासुर-मर्दिनी का उच्चित्र शरीर के भारीपन के साथ शिल्पित किया गया है । यह शिल्प भी उच्च कोटि का नही है ।

दसवी सदी के शिल्प देखने से यह स्पष्ट होता है कि, यद्यपि परमार कला प्रेमी थे, तथापि इस समय तक वे इस ओर पर्याप्त ध्यान नही दे पा रहे थे । यह इस बात का द्योतक है कि अब तक परमारो के पैर मालवा मे अच्छी तरह नही जम पाये थे ।

ग्यारहवीं सदी मे परमार काल की मूर्तिकला पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी । ध्यानस्थ-शिव की भव्य चतुर्भुज प्रतिमा इ१ का उदाहरण है । अगो का सुअनुपात, मुख पर शात भाव व आभूषणो का नपा तुला उपयोग दर्शनीय हैं ।

विष्णु, तीन-मूर्ति मे द्वितीय क्रम, का कर्म रक्षा है । इसे मूलरूप मे गरुड पर, ग्यारहवी शताब्दी के उच्चित्र मे अत्यन्त कलामय शिल्प द्वारा प्रस्तुत किया गया है । परमार काल की कला उच्चकोटि तक पहुच चुकी थी इसका सहस ही आभास हो जाता है ।

इसी शताब्दी की गोलाकृत प्रतिमा का सुन्दरतम उदाहरण सुन्दरी की एक प्रतिमा है । इस प्रतिमा का सिर व घुटनो के नीचे का भाग और दोनो हाथ टूट चुके हैं, किन्तु जो कुछ बचा है उसे देखकर शिल्पकार की उत्कृष्टता फूट-फूट पडती है । इस सदी की परम्परा के अनुसार आभू-

---

[5] रासमाला पृ० ६४ (द्वितीय सस्करण)

[6] धार स्टेट गजेटियर पृ० १४१ सी ई० लुअर्ड ।

षणो का उपयोग अधिक हुआ है, परन्तु इससे कृति की श्रेष्ठता मे कही भी कमी नही हुई है।

बारहवी सदी मे शिव की मूर्ति के साथ-साथ भूले-विसरे देवताओ को एक बार पुनः कुछ अधिक प्रस्तुत किया जाने लगा। विष्णु के १० अवतारो मे से पाँचवा अवतार वामन है। वैज्ञानिक दृष्टि से यहाँ से मनुष्य का स्वरूप प्रारम्भ हो रहा है—छोटे प्रमाण मे। इसे मुख्य मूर्ति के रूप में शिल्पित कर उसकी पृष्ठ भूमि मे अन्य अवतार बताये गये हैं।

ब्रह्मा, 'तीन-मूर्ति' के क्रम मे प्रथम देव, सृष्टि के रचियता हैं। इनकी पूजा प्रथम सदी के बाद घटती गई, जबकि तीन-मूर्ति के अन्य दो देवो, विष्णु और शिव, के मानने वालो मे निरन्तर वृद्धि होती रही। बारहवी सदी के इस शिल्प में ब्रह्मा को शांत मुद्रा मे प्रस्तुत किया है।

उक्त दो उदाहरणो से यह तो स्पष्ट है ही कि उज्जैन के परमार कालीन मूर्ति-शिल्प के स्तर मे एक बार पुन: गिरावट आ गई।

पश्चात परमार-कालीन ई० (१३०० के पश्चात)

ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से ही अवन्ति पर यवनो के आक्रमण होते आये थे। इन आक्रमणकारियो ने विकास में बाधा अवश्य डाली, परन्तु वे किसी न किसी वीर के पराक्रम के कारण जम नहीं पाये थे। गुप्त काल के अन्तिम दशको मे जब हूणो के भयकर आक्रमण हो रहे थे दशपुर (मन्दसौर) के यशोधर्मन ने उन्हे हराकर (५३३ ई०), हूणशाह मिहिरकुल के, किसी के सामने न झुकने वाले, मस्तक से यशोवर्मन के पैर छूने पर बाध्य किया[7]। महमूद गजनवी ने तीसरा व अन्तिम हमला सन् १०२५ ई० मे सोमनाथ के मन्दिर पर किया, उसे लूटा और नष्ट किया। परन्तु योजना होने पर भी उसे आगे बढने का साहस नही हुआ, क्योकि परमदेव, हिन्दुओ का राजा रास्ता रोके हुआ था[8]। उसे भय हुआ कि उसकी महान सफलता कही असफलता में न बदल जाय। इतिहासकारों का मत है कि यह 'परमदेव' परमार भोजदेव ही था। इनसे ही भयभीत हो वह सीधे रास्ते से वापस न लौटकर रेगिस्तान के रास्ते, मुल्तान की ओर से चल पडा व भयकर विपत्तिओ का सामना करते हुए किसी तरह गजनी पहुच सका।

तेरहवी सदी के बाद यवनो के आक्रमण अत्यन्त प्रबल हो चुके थे और उनको रोक देने वाली कोई शक्ति रह नही गई थी। यवनो ने मालवा को रौंद डाला इसके साथ ही मूर्ति-शिल्प पर भी भयकर आघात हुए। इस आघात से उज्जयिनी मूर्तिशिल्प ऐसा आहत हुआ कि फिर न उठ सका। चौदवी सदी के बाद यहाँ पुन: एक बार शिल्पकारो ने छैनी हथौडी उठाई और आकृतिया गढना प्रारम्भ किया। पर इन आकृतियो मे न वह स्वरूप रहा, न वह भावना जो पत्थरो मे प्राण डाल दिया करते थे। कलाशून्य ये प्रतिमाए, पूजन की सामग्री से अधिक कुछ नही है।

---

[7] कार्पस इसक्रिप्शन्स, इण्डिकारम् तृतीय खण्ड, न० ३३, पृ० १४६-१४८ दि मदसौर इसक्रिप्शन्स आफ यशोधर्मन।
चूडा-पुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चित पादयुगमम्।

[8] अलगार्दीजी का सन् १०४९-सु०५२ ई० का लिखा 'झैमूल अखबार'।

न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्
रत्न नही ढूँढता, रत्न ही ढूढा जाता है।

कुमारसंभव

कालिदास-प्रशस्तिः

—श्रीनानालाल जवरचन्द रुनवाल,

वागर्थौ नित्यसम्पृक्तौ शर्वाणीशर्वसन्निभौ ।
वाणी सार्थामतो वन्दे विद्वज्जनाय सिद्धिदाम् ॥१॥

सवत्सरो विक्रमसञ्ज्ञकोऽसौ प्रवर्तितो भूपतिविक्रमेण ।
अवन्तिकाया विरराज यश्च खृष्टाब्दपूर्वं न तु तस्य पश्चात्॥२॥

जातो द्विभेदः स च देशभेदाश्चैत्रादिरेकोऽप्यथ कार्तिकादि ।
पूर्वस्तयोर्मालव सञ्ज्ञितो यो ह्यभूदुदक्प्राग्विषयेषु मान्यः ॥३॥

परश्च यो गुर्जरनामधेयो मान्योऽभवद्दक्षिणपश्चिमेषु ।
तत्पण्डिता 'मालव' सञ्ज्ञयैव भ्रान्ति गताश्चेति मत मदीयम्॥४॥

आसीदाश्रित एव मालवपते. श्रीविक्रमार्कस्य वै
विद्वन्मण्डलमण्डनः कविवरो विद्योत्तमायाः पतिः ।
आकृष्टैर्यशसा तयोरनुकृते चान्यैर्द्वयोनामिनी
तद्भ्रान्त्यैव बुधा भ्रमन्ति च मुधा कालस्य वादे तयो ॥५॥

काश्मीरांश्च वदन्ति केऽपि सुधियो जन्मस्थली सत्कवे.
केचिद्विंध्यहिमाचलौ दशपुर गगातट केऽपि वा ।
किन्त्वेके नृपविक्रमस्य नगरी ख्याता विशालापुरीम्
मन्यन्ते हि महाकवेर्जनिभुव तामेव कर्मस्थलीम् ॥६॥

धन्या भारतभूश्च मालवमही धन्या विशालापुरी
जातो यत्र स विश्वविश्रुतमह श्रीकालिदास कवि. ।
धन्ये कालयुगे च मासदिवसे धन्य मतं तत्क्षणम्
सजातश्च यदा महाकविरसौ श्रीकालिदास सुधीः ॥७॥

गीर्वाणवाणी रसवाहिनी ते नान्या क्षमा तत्पदलब्धये च ।
विभूषिता सा कृतिभिस्तवैव विभूषितास्ते कृतयस्तयैव ॥८॥

जात लोके कवीना शतशतशतक शारदा सेवमानम् ।
नैको जातः समर्थ. स्वहृदयकमले वाक्प्रसाद ह्यवाप्तुम् ॥
यद्वत् प्राप्तस्त्वयासावति विमलतराद् भक्तिभावाद्धि तस्या
धन्यस्त्व कालिदास ! ह्यवनिरपि तु ते जन्मदात्री च धन्या ॥९॥

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्
शरीर रक्षा सबसे पहला धर्म है ।
कुमारसभव

चार-विष्णु प्रतिमा

चार अलग-अलग प्रतिमाए चारो दिशाओ की ओर मुख किये, शिल्पित हैं। विष्णु का एक रूप नरसिंह भी हैं।

(शिल्प ७वी सदी)

(पृ० १७)

PHOTOS . SHYAM AGRAWAL

चार विष्णु प्रतिमा (अन्य रूप)

सुन्दरी की खंडित प्रतिमा ।
(११वीं सदी)
(पृ० १८)

PHOTO SHYAM AGRAWAL

गोवर्धनधारी–कृष्ण का उच्चित्र–मूर्ति–शिल्प उज्जयिनी मे प्राप्त कतिपय मूर्तियो मे से है। मुख्य मूर्ति के एक ओर गायो को विभिन्न अवस्थाओ मे दर्शाया गया है व दूसरी ओर हैं कृष्ण के साथी ग्वाल गण । इसी ओर एक स्त्री दही विलोने मे रत है ।

(शिल्प-९वीं सदी)
(पृ० १७)

सोलहवीं शताब्दी का विक्रमादित्य

श्री हरिहर निवास द्विवेदी,

ग्वालियर के तोमर राजा मानसिंह की मृत्यु सन् १५१६ ई० में हुई। उनके पश्चात् उनके बडे राजकुमार विक्रमादित्य तोमर सिंहासन पर आरूढ़ हुए। उन्हे मानसिंह की अत्यन्त समृद्ध विद्वत् सभा और वैभव दाय मे प्राप्त हुए थे। चम्बल और सिन्ध के बीच का समस्त भूभाग उनके आधिपत्य मे था, जिसकी वार्षिक राजस्व आय बाबर ने दो करोड तेईस लाख सत्तावन हजार चार सौ पचास तन्के (रुपये) कूती थी [१]। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि मानसिंह के समय में समस्त तोमर राज्य में सिंचाई की बहुत अच्छी व्यवस्था करदी गई थी और जनता सम्पन्न तथा सुखी थी।

विक्रमादित्य का परिवार भी उस समय भरापुरा था। उनके दो पुत्र रामसिंह और अजयसिंह के नामो का उल्लेख तो इतिहास मे ही प्राप्त होता हैं। उनके परिवार के अनेक तोमर, सामन्तो के रूप मे समस्त राज्य में गढियो को सम्हाले हुए। उनमे सबसे अधिक उल्लेखनीय है घुरमगद, (जिन्हे विभिन्न इतिहास लेखक मगतराय या मगलदेव लिखते हैं और बाबर उन्हे 'धर्मानकत' लिखता है)। एक तोमर सामन्त सलहदी मानसिंह के राज्य काल में ही ग्वालियर छोड गये थे और राणासांगा द्वारा इन्हें भेलसा का परगना जागीर में दे दिया गया था।

विक्रमादित्य ने मानसिंह की सगठित विशाल सेना भी दाय में प्राप्त की थी। ग्वालियर गढ को, प्रतिरक्षा की दृष्टि से, मानसिंह के समय में ही अत्यन्त सुदृढ बना दिया गया था। उरवाही द्वार और ढोढा द्वार पूरी तरह बन्द कर दिये गये थे। उत्तर-पूर्व की ओर गढ के नीचे अत्यन्त सुदृढ बादल गढ का निर्माण भी मानसिंह करा चुके थे।

सिकन्दर लोदी का आक्रमण:—

विक्रमादित्य के राज्यारोहण के साथ ही ग्वालियर गढ पर उत्तर की ओर से विनाश की घनघोर घटायें मडराने लगी। मानसिंह के समय में आगरा का सुलतान सिकन्दर लोदी अनेक बार ग्वालियर विजय के असफल प्रयास कर चुका था। मानसिंह की मृत्यु का समाचार सुनकर ही सिकन्दर ने अपनी उस आकाक्षा की पूर्ति का प्रबल प्रयास प्रारम्भ किया। सन् १५१७ ई० के प्रारम्भ में ही वह धोलपुर पहुचा और ग्वालियर विजय के अभियान की योजनाएँ बनाई। आगरा लौटकर उसने अपनी सीमान्त तक के अमीरो को ग्वालियर-विजय के प्रयोजन से सेनाओ सहित बुलाया। तैयारियाँ चल ही रही थी कि सुलतान अत्यधिक बीमार हो गया और ग्वालियर-विजय की अतृप्त वासना हृदय में सँजोये इस ससार से ही कूच कर गया। विक्रमादित्य के ऊपर घिरी हुई युद्ध की घटायें कुछ समय के लिए टल गयी।

गढ़ की दृढ़ता के लिए निर्माण:—

विक्रमादित्य इस घटना से सतर्क हुआ। ग्वालियर गढ के सूक्ष्म निरीक्षण से उसे ज्ञात हुआ कि यद्यपि बादल-

[१] बाबरनामा, बैमरिज, पृष्ठ ५२१।

गढ अजेय है, तथापि यदि उसे तोड दिया गया तब शत्रु सीधा चित्र मन्दिर (मान मन्दिर) तक पहुच जाएगा और मार्ग में उसे रोकना कठिन होगा। यह स्मरणीय है कि मानसिंह के समय मे मानमन्दिर से गूजरी महल नामक भवन तक आने-जाने का सीधा मार्ग था, यद्यपि उसका प्रयोग राज परिवार के व्यक्ति और उनके सेवक ही करते थे। गूजरी महल स्वय वादलगढ का ही एक अश था। विक्रमादित्य ने इस मार्ग को वहुत सुदृढ रूप से वन्द कराया। जहाँ आज शाहजहानी और जहाँगीरी महल है वहाँ से मानमन्दिर तक वहुत ऊँचे-ऊँचे सुदृढ निर्माण किए गए। शाहजहाँनी और जह गीरी महल के स्थान पर वुर्जे वनाकर सैनिको के आवास वनाए गए। उसके पश्चात वह सुदृढ महल वनाया गया जहाँ से विक्रम अपने सेनापतियो और सामन्तो के साथ युद्ध का सचालन कर सके और आवश्यकता होने पर ढोढा द्वार की ओर से होने वाले आक्रमण का भी प्रतिरोध कर सके। इस महल का नाम विक्रमादित्य ने अपने परम प्रतापी पूर्वज के नाम पर कीर्ति मन्दिर रखा। इसके पश्चात् मान मन्दिर से लगा हुआ उसने अपने निवास के लिए महल वनाया जिसका नाम विक्रम मन्दिर रखा गया। विक्रम मन्दिर से मान मन्दिर जाने के लिए एक गुप्त मार्ग भी वनाया गया। इस प्रकार गढ की इस दिशा की कमजोरी दूर कर दी गई[१]।

परन्तु ज्ञात यह होता है कि विक्रमादित्य सैन्य सगठन उतना सुदृढ न वना सके जितना, वदली हुई परि-स्थितियो मे, आवश्यक था। उन्हे इस बात का अनुमान सम्भवत नही था कि समस्त भारत के अफगान अमीर ललचाई दृष्टि से ग्वालियर गढ की अपार सम्पति और अप्रतिम विलास वैभव की ओर टकटकी लगाये हैं और घेरा चार पाच वर्ष चल सकेगा।

इब्राहीम और जलाल खां—

अफगान सुल्तान की मृत्यु के पश्चात तख्त के लिए गृह कलह होना अनिवार्य था। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात उसके दोनो वेटे इब्राहीम और जलाल खाँ तख्त के दावेदार वने। इब्राहीम ने आगरा में अपना राज्या-रोहण समारोह कराया और जलाल खाँ ने जौनपुर के इलाके पर कव्जा कर लिया। अफगान अमीरो के दो दल हो गये। एक दल का मत था कि सल्तनत का वटवारा कर दिया जाए, आगरा का भाग इब्राहीम को मिले और जौनपुर जलाल खाँ को। दूसरे दल का मत था कि सल्तनत में एक ही सुल्तान होना चाहिए। इब्राहीम ने अपनी कूटनीति से जलाल खा के पक्षपाती अनेक अमीरो को अपनी ओर मिला लिया। जलाल खाँ जौनपुर से भाग कर कालपी आया और वहाँ पर जलालउद्दीन शाह का नाम धारण कर उसने राज्यारोहण का समारोह कराया। आजम हुमायू सिरवानी सिकन्दर शाह के समय से ही वहुत प्रवल, शक्तिशाली, अनुभवी तथा वीर अमीर था। उन दिनो वह कालपी गढ को घेरे हुए था। जलाल खाँ ने उसे अपनी ओर मिला लिया। इब्राहीम ने ७ जनवरी १५१८ ई० को सेना सहित कालपी की ओर प्रस्थान किया। जव वह भुई गाँव पहुचा तव उसे समाचार मिला कि आजम हुमायू जलाल खाँ का साथ छोडकर उससे मिलने आ रहा है। परम कुटिल इब्राहीम ने कूटनीति से कार्य किया। उसने आजम हुमायू का स्वागत किया और उसे अपने साथ मिला लिया, यद्यपि समय-साधने के पश्चात् वह उसके विनाश के उपाय भी मन मे गुनता रहा। जलाल खाँ की शक्ति का मेरुदण्ड ही टूट गया। इब्राहीम ने कालपी पर आक्रमण किया। जलाल खा ने कालपी मे मुकावला करने के वजाय आगरा पर आक्रमण कर दिया।

१—वावर ने लिखा है 'विक्रमादित्य के भवन उसके पिता के भवन का मुकावला नही कर सकते।' यह स्मरणीय है कि पुत्र को मान मन्दिर जैसा अनुपम चित्र महल दाय मे प्राप्त हुआ था। उसे रहने के लिए नये भवन की आव-श्यकता न थी। विक्रम ने कोई नवीन महल न बनवाकर केवल सामरिक रूप से गढ़ को सुरक्षित करने के लिए ये निर्माण कराये थे। तवकाते अकव्वरी मे निजामुद्दीन ने केवल यह लिखा है कि 'राय विकरमाजीत अपने पिता के स्थान पर गद्दी पर वैठा और किले को दृढ वनाने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करने लगा।' निजामुद्दीन ने यह नही लिखा कि विक्रमादित्य ने क्या-क्या निर्माण कराये थे। पर यह स्पष्ट है कि जो कुछ भी निर्माण विक्रमा-दित्य ने कराये थे वे उसे एक या सवा वर्ष मे पूरे करने पडे तथा वे केवल गढ को सुदृढ करने की दृष्टि से किये गये थे।

ब्राहीम ने मलिक आदम को आगरा की रक्षा के लिए भेजा। मलिक आदम ने जलाल खाँ को समझा-बुझा कर राज्यचिन्ह छोड देने पर राजी कर लिया और वह वचन देया कि वह इब्राहीम से जागीर दिलवा देगा। इब्राहीम कालपी से इटावा आ चुका था। आदम ने जलाल खा द्वारा छोडे राज्यचिन्ह तथा सन्धि की शर्ते इब्राहीम के पास भेजी। इब्राहीम ने सन्धि अस्वीकार की और जलाल खाँ के विरूद्ध प्रस्थान किया। यह समाचार सुनते ही जलाल खा ग्वालियर की ओर भागा और विक्रमादित्य की शरण मे पहुच गया। सिकन्दर की ग्वालियर की विजय की आकांक्षा को पूरा करने का इब्राहीम को बहाना मिल गया।

अशरण शरण.—

चितौड के हम्मीरदेव ने इसी प्रकार मुगलो को शरण दी थी। प्राण दिया, राज्य गवाया, सर्वस्व न्योछावर किया पर अपने शरणार्थियो को न लौटाया। हम्मीर देव का वह आदर्श नयचन्द्र सूरि अपने हम्मीर महाकाव्य द्वारा विक्रमादित्य के पूर्वज वीरमदेव के समक्ष प्रस्तुत कर चुके थे। मानसिंह ने उसका अनुसरण किया था और विक्रमादित्य ने भी उसका पालन किया। जलालखा ग्वालियर गढ पर सम्मान पूर्वक रखा गया।

सूर्य ग्रहण का प्रारम्भ:—

अब तक लोदियो ने जितने आक्रमण ग्वालियर पर किये थे उनमे उनके हाथ विपत्ति और पराजय ही रही थी इब्राहीम ने अत्यन्त चतुराई से कार्य किया। जलालखा को बन्दी बनाने और ग्वालियर गढ पर अधिकार करने का भार उसने आजम हुमायू को सौपा। उसे निश्चय था कि आजम हुमायू की शक्ति ग्वालियर मे नष्ट हो जायगी और यदि आजम हुमायूं जीत भी गया तो सुल्तान की तीन पीढी की आकाक्षा पूर्ण होगी तथा ग्वालियर गढ उसके आधिपत्य में आजायगा। भारत विजय की महात्वाकांक्षा मे ग्वालियर गढ दिल्ली के सुल्तानो के मार्ग मे भीषण रोडा था, वह इस प्रकार हट जाएगा।

इस आदेश के पालन मे पचास हजार घुड सवारो की सेना का स्वामी[१] आजम हुमायू ग्वालियर की ओर अग्रसर हुआ। सुल्तान ने उसके साथ तीस हजार शाही सेना के अश्वारोही तथा तीन सौ रण मे आजमाए हुए हाथी भी भेजे। चौदह प्रतिष्ठित अमीर[२] जिनमे सात राजा भी थे[३] ग्वालियर विजय के लिये भेजे गये।

धावको ने इस विशाल वाहिनी के चम्बल घाट उतरने का समाचार ग्वालियर गढ पर विक्रमादित्य के पास पहुचाया। जिस जलालखाँ के कारण यह विग्रह खड़ा हुआ था वह इस समाचार को सुनते ही ग्वालियर गढ छोडकर मालवे के सुल्तान के पास भाग गया। आजम हुमायू क पराक्रम को जानता था और सम्भवत. उसे विक्रम पर विश्वास नही था।

दोनों ओर का विक्रमवाद:—

सुल्तान की सेना का नेतृत्व कर रहा था उस युग का सर्व श्रेष्ठ सेनापति आजम हुमायू, जिसने अपनी तलवार के बल पर ही अमीरूल-उमरा का पद प्राप्त किया था। उसके साथ थे शाही सेना के तीस हजार अश्वारोही और तीन सौ हाथी, जिसका अर्थ होता है कम से कम एक लाख व्यक्ति और पचास हजार पशु। अफगानो के प्रत्येक योद्धा के साथ शिविर-रक्षक और नौकर-चाकर भी चला करते थे। जो अमीर और राजा आए थे उनकी सेनाएँ अलग थी। लौदियो के पास उत्तर भारत के अनेक स्थानो से अपार धनराशि आती थी और उन्हे मन्दिरो मे पीढियो से सचित धनराशि लूट मे मिलती थी। उस युग में धन के बल पर इच्छानुसार सेना भरती कर ली

---

[१] तारीख दाऊदी, रिजवी, बाबर, पृष्ठ ४४३

[२] तारीखे दाऊदी, रिजवी, उ० तै० भाग, १, पृष्ठ २९७।

[३] ओझा, मुहणोत नेणसी की ख्यात, पृष्ठ ४७६, टिप्पणी।

जाती थी[१]। उस समय तक इब्राहीम ने अपने अफगान अमीरो को रूष्ट नही किया था। इन्हे ग्वालियर गढ पर एक सौ बीस वर्ष से सचित अपार स्वर्ण राशि और अगणित रत्नराशि का भी प्रलोभन था। आजम हुमायू को अपने सम्मान का ध्यान था। जो राजपूत राजा इनके साथ थे वे मानसिंह और उसके पूर्वजो के शौर्य और वैभव से डाह करते थे। कछवाहे तो ग्वालियर पर अपना दावा ही समझते थे और बान्धवगढ तोमरो से राणा सग्रामसिंह के कारण रुष्ट था। इस प्रकार यह समस्त महासेना अत्यन्त निष्ठापूर्वक आगे बढ रही थी।

दूसरी ओर का नेतृत्व था अपेक्षाकृत कम अनुभवी विक्रमादित्य के हाथ मे, जो अपने पिता के सरक्षण मे तोमर प्रासादो के विलास मे पला था। हिम्मतगढ के राय डूगर[२] और सलहदी के कारण तोमर सामन्तो मे विक्षोभ ही था। इतनी विशाल सेना इसके पहले कभी ग्वालियर क्षेत्र मे आई भी न थी।

विक्रमादित्य के पास कितनी सेना थी इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। खड्गराय ने मानसिंह के पास अस्सी हजार सवार और असख्य हाथी होना लिखा है। यह अतिशयोक्ति ज्ञात होती है। आजम हुमायू के पहले हल्ले मे ही चम्बल और ग्वालियर के बीच की समस्त गढियाँ पराजित हो गयी, उसकी विशाल सेना ने ग्वालियर गढ के चारो ओर की बस्ती को भी उजाड दिया था। तोमरो की ओर के समस्त योद्धा ग्वालियर गढ मे बन्द हो गए थे। नगर के समस्त निवासी या तो जगलो मे भाग गए थे या गढ पर चढ गए। यद्यपि गढ पौने दो मील लम्बा और अट्ठाइस सौ फीट से छेह सौ फीट तक चौडा है, तथापि रनवास, अन्न भडार, हाथी, घोडे आदि के साथ उस पर पच्चीस हजार से अधिक सैनिक नही समा सकते। इस विषम विक्रमवाद मे विक्रमादित्य का एक मात्र सहारा ग्वालियर गढ की अभेद्यता थी।

'पंछी पवन न गढ़ पर जाई':—

आस पास के समस्त इलाके को पूर्णत अपने कब्जे मे कर आजम हुमायू ने ग्वालियर गढ को घेर लिया। इस घेरे की समग्रता का वणन खड्गराय ने एक अर्धाली मे किया है—"पंछी पवन न गढ पर जाई।"

घेरे के पश्चात आक्रमण प्रारम्भ हुआ। यह आक्रमण ग्वालियर गढ के उत्तर पूर्व की ओर से, जहाँ आज कल 'ग्वालियर द्वार' है, हुआ था। सबसे नीचे था मानसिंह निर्मित बादलगढ जिसका प्रवेश द्वार 'हिंडोला पौर' कहलाता था। इसी बादलगढ मे गूजरी महल था और था वह विशाल शिव मन्दिर जिसके द्वार पर धातु का विशालकाय नन्दी प्रतिष्ठित था। हिंडोला पौर से ढाई हजार फीट ऊपर था गढ का अन्तिम द्वार 'हथिया पौर' जिसके सामने पूरे आकार का हाथी बना हुआ था। सामने था स्वर्ण मडित ताम्रपत्रो से जडी हुई गुम्बदो युक्त चित्र मन्दिर (मान मन्दिर)। हिंडोला द्वार से हथिया पौर तक पहुचने के लिए तीस फीट चौडी साढ़े तीन हजार सीढियाँ थी, जिन्हे बीच मे भैंरो पौर, गणेश पौर और लक्ष्मण पौर के सुदृढ फाटक रक्षित करते थे।

बादलगढ़ का युद्ध:—

बादलगढ पर आक्रमण प्रारम्भ हुआ। गढ के बाहर था अपार सैन्य समूह जो उस समय उपलब्ध श्रेष्ठ-तम हथियारो से युद्ध कर रहा था। गढ के भीतर क्या हो रहा था, किस प्रकार प्रतिरोध के प्रयत्न हो रहे थे, इसका वर्णन सुल्तानो के इतिहासकारो ने नही किया। खड़गराय भी इस विषय मे मौन है। इसका केवल अनु-मान किया जा सकता है। बाहर लोदियो की सेना क्या कर रही थी, इसका वर्णन अवश्य अहमद यादगार ने

१—बाबर, रिजवी, पृष्ठ १५४

२—हिम्मतगढ़ का सामन्त राय डूगर मानसिंह से असन्तुष्ट होकर धोखा दे गया था और हुसैनखा बनकर लोदियो से जा मिला था।

किया[1] है। "ग्वालियर के किले को घेर कर उसने (आजम हुमायूं ने) वीरो को मोर्चे बाट दिये। मन्जनीक तथा अश्वो की व्यवस्था करके हुक्को को जला-जलाकर किले के भीतर फेंकना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दुओ ने रूई से भरे गिलाफो को तेल मे भिगोकर जला-जलाकर नीचे फेंकना शुरू कर दिया। दोनो ओर से आदमी जल रहे थे। आजम हुमायू ने किले के नीचे मोर्चे लगवाये और वहाँ तोपखाने रखवा कर वह इस प्रकार गोले फेंकता था कि किले वाले प्रागण के बाहर न निकल सकते थे। किले वाले व्याकुल हो गये[2]।" सम्भवत: विक्रमादित्य से कोई सन्धि की बातचीत भी चली[3]। परन्तु इसी बीच इब्राहीम ने आजम हुमायू के पास फरमान भेजा कि वह तुरन्त आगरा पहुचे। सुल्तान को यह पता लग गया था कि आजम हुमायू ग्वालियर को लगभग जीत चुका है, वह यह श्रेय आजम हुमायू को नहीं देना चाहता था।

खग्रास:—

आजम हुमायू को इब्राहीम ने आगरा बुलाने के साथ ही "उसकी सहायता के लिए" (अथवा अपने फरमान का पालन कराने के लिए एव ग्वालियर गढ का घेरा बनाये रखने के लिए) अनेक अमीरो को सेना सहित ग्वालियर भेजा। आजम हुमायूं अब आगरे की ओर चला तब उसके कुछ साथी उसे पहुचाने चम्बल के घाट तक गए तथा उसे विद्रोह के लिए प्रेरित करने लगे। आजम हुमायू ने उन्हे समझा-बुझा कर ग्वालियर लौटा दिया और स्वय आगरा चला गया। इब्राहीम ने उसे वन्दीगृह मे डाल दिया। इसी बीच इब्राहीम का भाई जलाल खाँ मालवा के सुल्तान से तिरस्कृत होकर गढ कटगा के राजा के पास पहुचा, इब्राहीम ने उसे झासी के कैद-खाने की ओर भेजा और मार्ग मे मरवा डाला। इब्राहीम के दोनो काँटे मार्ग से हट गये। जलाल खाँ मार डाला गया था और आजम हुमायू कैद मे बन्द था। निश्चिन्त होकर इब्राहीम स्वय ग्वालियर विजय के लिए चल दिया। ग्वालियर गढ के नीचे शाही दीवानखाने का निर्माण किया गया[4]। वहाँ समस्त अमीर एकत्रित होकर गढ के विजय की योजनायें बनाते थे। लगभग चार वर्ष बीत गये, गढ को आच नहीं आ रही थी।

शक्ति के साथ सुल्तान ने युक्ति के प्रयोग की सोची। बादल गढ की दीवार मे सुरग लगवाई गई और उसमे बारूद भर दी गई। बारूद मे आग लगते ही दीवार फट गई और सुल्तान की सेना उसमे प्रवेश करने लगी। विक्रमादित्य ने वहाँ घोर युद्ध किया। बादलगढ मे तोमरो की अधिकाश सेना इकट्ठी थी, क्योकि वही प्रमुख सैन्य निवास था, परन्तु सख्या मे वह सुल्तान की सेना की तुलना मे नगण्य ही थी। बचे हुए तोमर सैनिको को पीछे लौटना पडा और वे भैरो पौर बन्द कर उसके पीछे चले गये। सुल्तान की सेना ने बादलगढ को पूरी तरह नष्ट भ्रष्ट कर दिया। उसका शिव मन्दिर पूर्णत ध्वस्त कर दिया गया और उसमे स्थित धातु-निर्मित विशाल नन्दी दिल्ली लेजाकर बगदाद द्वार पर डलवा दिया गया[5]। ज्ञात होता है कि बादलगढ के युद्ध में विक्रमादित्य की सेना का प्रमुख भाग नष्ट हो गया था तथापि अभी गढ के चार

---

[1] तारीखे शाही, रिजवी, उ० ते० भा०, भाग १ पृष्ठ ३४७

[2] यह वर्णन बादलगढ के युद्ध का है। स्मरण रहे कि इस ओर से हथिया पौर के ऊपर गोले फेंक सकने वाली तोपें लोदियो के पास नही थी। हिंडोला पौर के बाहर से बादलगढ मे तोप के गोले अवश्य जा सकते थे।

[3] अहमद यादगार ने लिखा है कि विक्रमादित्य ने सात मन सोना, श्यामसुन्दर हाथी तथा अपनी पुत्री सुल्तान को देना स्वीकार किया था। यह स्मरणीय है कि अहमद यादगार सर्वाधिक तअस्सुबी इतिहास लेखक है। उसने सिकन्दर की स्पष्ट पराजयो को भी विजयो मे बदल दिया है। उसका कथन इसी पृष्ट-भूमि में आकना होगा।

[4] तबकाते अकबरी, वही, पृष्ठ २३६

[5] इस नन्दी को तुडवा कर अकबर ने उसकी धातु से तोपें और वर्तन बनवाए थे।

द्वार और शेप थे। ज्ञात यह होता है कि जिस प्रकार वादलगढ तौडा गया उसी उपाय से भैरो द्वार और गणेश द्वार भी तौडे गये। तौमरों ने गढ की एक-एक सीढी के लिये युद्ध किया। लक्ष्मण द्वार पर यह युद्ध भीषणतम हो गया। इस युद्ध मे इब्राहीम का एक प्रसिद्ध अमीर ताज निजाम धाराशाही हुआ। परन्तु प्रबल पराक्रम भी सुल्तान की असख्य सेना का सामना करने मे समर्थ नही हुआ और लक्ष्मण द्वार टूट गया। समस्त अवशिष्ट सेना हथिया पौर को बन्द कर उसके पीछे चली गई। वादलगढ से हथिया पौर तक कितनी सेना नष्ट हो चुकी थी यह कल्पनातीत है। तोमरो की अपार जन क्षति हुई थी और उसकी पूर्ति का कोई साधन नही था और सुल्तान की और इतना जनवल था कि दस वीस हजार सैनिक और ताज निजाम की वलि देकर भी उसमे कोई कमी आने की सभावना नही थी।

हथिया पौर बन्द कर अब चित्र मन्दिर (मान-मन्दिर) से युद्ध प्रारभ हुआ। घेरा चार वर्ष चल चुका था। गढ पर जल की कमी नही थी, परन्तु भोजन सामग्री समाप्त हो चली होगी, इसका अनुमान सहज ही किया जासकता है। अन्न के साथ साथ वस्त्र और तेल भी समाप्त हो गये जिनको आक्रामको पर फेंका जाता था। वाहर से खाद्य सामग्री अथवा आयुध ला सकने का कोई प्रश्न ही नही था। यद्यपि ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि राणा-सागा, इस सघर्ष काल मे, ग्वालियर की सहायता को आये थे, परन्तु वे कोई प्रभावशाली सहायता न पहुचा सके।

विक्रम का साहस डिग उठा। सुल्तान भी हथिया पौर की अमेद्यता का अनुभव कर रहा था। वहा बारूद की सुरग नही लगाई जा सकती थी और न वहा तोपें ले जाई जा सकती थी। परन्तु विक्रम इतना निराश हो गया था कि उसने सन्धि की चर्चा प्रारभ की।

इब्राहीम ने यह शर्त रखी कि ग्वालियर गढ छोड दो और शमशावाद की जागीर ले लो। धन सम्पत्ति और रनवास ले जाने की भी उसने अनुमति देदी। विक्रमा-दित्य के राजकुमार रामसिंह ने विरोध किया। घुरमगद ने भी इस सधि को अपमानजनक समझा, परन्तु विक्रमादित्य ने उसे स्वीकार कर लिया। समस्त अवशिष्ट साथियो को और परिवार को अन्न के अभाव मे भूखा मर जाने देने की अपेक्षा यह अपमान जनक सन्धि सहन कर ली गयी। सन् १५२१ के अन्त मे अथवा सन् १५२२ ई० के प्रारम्भ मे विक्रम ने ग्वालियर गढ छोड दिया। सन् १३९४ ई० मे प्रारभ हुआ ग्वालियर के तोमरो का राज्य समाप्त हुआ ग्वालियर का अन्तिम स्वतत्र राजा पराभूत हुआ।

विक्रमादित्य की मनोदशा का वर्णन खड्गराय ने अत्यन्त सक्षेप मे परन्तु सटीक रूप मे किया है:—

घेरैं रहे बरस छै-पांच, गढ पर कवहु न आई आँच।
जब गढ परैं न ताके हाथ, सिंहरू पठयो कागद साथ।
कागद बाचौ कानन सुनो, भयौ उदास राय मन भनो।
लग्यो सिंहरू छुटिगौ मान, मिट्यो राजु मिटि गयौ गुमान।
सो नृप अजौ चाकरी कीयो, समसावाद परगनो दीयो।
गढ ऊपर लोदी को राज, उतरौ विक्रम नृप कौ साज॥

भारत मे अनेक विक्रमादित्यो के राज बने और विगडे, इसका मलाल किसी को नही होना चाहिए। राज-पूतो का तन्त्र ही ऐसा था। उनके आपसी विग्रह ही इतने थे तथा उनमे कूट नीति का इस सीमा तक अभाव था कि केवल लूट-मार पर निर्भर तुर्कों और अफगानो से उनका पराजित होना सुनिश्चित था। वे न उतने क्रूर हो सकते थे और न उतने विश्वासघाती। जिस इब्राहीम ने विक्रमा-दित्य का सब-कुछ लूट लिया, पानीपत के युद्ध के समय उसकी वेगमो और खजाने की रक्षा करता रहा विक्रम का छोटा युवराज अजीतसिंह और पानीपत के मैदान मे जव इब्राहीम का साथ लगभग सभी अफगान अमीर छोड गए तव उसकी रक्षा के लिए प्राण दिए विक्रमादित्य ने। जव आजम हुमायू इधर-उधर डावा-डोल होता रहा तब इब्रा-हीम के भाई जलालखा के लिए ग्वालियर गढ खोया विक्रमादित्य ने।

ग्वालियर गढ तोमरो से लौदियो को मिल गया या फिर मुगलो के पास चला गया, इसका मलाल आज के इतिहास लेखक को नही होना चाहिए, परन्तु तोमरो के हाथ से ग्वालियर चले जाने का जो भीषण परिणाम हुआ उसका पाठ भयकर है। सवा सौ वर्षों मे जैन साधुओ, सन्तो, पण्डितो, कवियो, नायको और सूफियो ने जिस

सास्कृतिक नमोन्मेष को जन्म देकर पल्लवित और पुष्पित किया था उसका मूलोच्छेदन हो गया। वे पीढियाँ जो इतना उदात्त सकल्प लेकर जमी थी उन्हे उनके वृ त से तोड-मरोड कर फेंक दिया गया, विखेर दिया गया। विक्रम की यह पराजय इतिहास के सामने इतना बडा अपराध वन गई कि आज का इतिहासकार यह भूल गया कि ग्वालियर की भूमि ने नय चन्द्र सूरि की सरस्वती को जाग्रत किया था, यहा पद्मनाभ, गुणकीर्ति जैसे कवियो की वाणी मुखरित हुई थी, यहां विष्णुदास, नारायणदास, देवचन्द्र जैसे महाकवियो ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया था और हिन्दी भाषा को अपभ्र श के केंचुल से निकालकर उसका परिष्कृत रूप निखारा था। यहाँ चतुर्भु जदास, दामोदर, मानिक, कुतवन और मझन ने अपनी रस कथायें सुनाई थी। यहां कल्लोल कवि ने "नरवर का ढोल" वजाया था। यहा सूर, गोविन्ददास, हरिदास, वैजू, गोपाल, वक्शू और तानसेन जैसे गायको ने स्वर साधना की थी। यहां के शिल्पियो ने पत्थर मे प्राण फूंकने वाली कला का चर्मोत्कर्ष किया था। यहा के चितेरो ने चित्रकला को परिष्कृत रूप दिया था और दुनियाँ के मारे-पीटे कवीर को अपनी अटपटी वाणी सुनाने की यहा पूर्ण स्वतन्त्रता थी। जो सास्कृतिक प्रतिमान सवा सौ वर्ष की साधना द्वारा स्थापित किये गये थे वे चार पाँच वर्ष के घेरे मे बिखर गये। इस घेरे से जो विद्वान और कवि भाट बच सके वे अपने पोथी-पन्ने, ग्रन्थ आदि लेकर इधर-उधर फैल गये तथा कलावन्त मथुरा-वृन्दावन अथवा अन्य राज्य सभाको मे पलायन कर गये।

सर सूखे पक्षी उडे औरे सरन समाहि,
मीन हीन बिनु पख के कहु रहीम कह जाहि।।

रह गया ग्वालियर गढ और उस पर अपनी सूनी गोद लिये चित्र-महल, जिसका मुगलो ने कैदखाने के रूप मे उपयोग किया। उस समय जिनमे शस्त्र-बल रह गया था वे चम्बल के वीहडो मे जा बसे। विक्रमादित्य हार सकते हैं, परन्तु जनता अजेय है। लोदी गये और मुगल भी गये, अनेक आततायी आये और चले गये, सबने लूटा, सबने शोषण किया। ग्वालियर फिर बसा, फिर पनपा और वन गया ससार के विशालतम गणतत्र का एक अग। अब तो हमे केवल एक ध्यान रखना है। फिर कोई लुटेरा हमारी भारत भूमि की ओर न दौड पडे। और यदि वह ऐसा साहस करे भी तब उसे उचित पाठ पढाने की शक्ति और बुद्धि हममे हो। अब हमारी पराजयो के इतिहास न लिखे जाकर विजयो के इतिहास लिखे जायें।

संवत्सर

दो सहस्र सवत वीते हैं।
हम निज विक्रम विना आज फिर मरे मरे जीते हैं।
नित्य नये शक हूण हमारा जीवन रस पीते हैं,
होकर भी क्या हुए आज भी उनके मन चीते है।।
आपस के सम्बन्ध हमारे कडुवे हैं तीते हैं,
भरे भरे हैं हाय हृदय ये किन्तु हाथरीते हैं।।

राष्ट्र-कवि श्री मैथलीशरण गुप्त

उज्जयिनी

शास्त्रों एवं लोक-कथाओं के आधार पर भौगोलिक दृष्टिकोण

डा बी एम सिंहल

अवन्ती (उज्जैन का एक प्राचीन नाम) भारत के सात पुण्य नगरो मे से एक है। क्षिप्रा नदी जिस पर यह नगर बसा हुआ है तथा महान 'महाकाल' का मन्दिर (महाकाल वन मे स्थित) — दोनो ही सस्कृत साहित्य मे अनगिनत सदर्भों के विषय रहे हैं। 'उज्जयिनी' (उज्जैन) जिसका अर्थ 'विजेता' अथवा 'भव्यता के साथ विजय' होता है, पाली भाषा का शब्द है, जो प्राकृत भाषा के शिलालेखो पर 'उजैनी' अथवा 'उज्जैनी', तथा प्राचीन ग्रीक लेखको का 'ओजेन' है। स्कन्दपुराण' मे अवन्ती खण्ड के अनुसार, 'अवन्तीपुर' (अवन्ती) जो कि अवन्तियो की राजधानी थी, भगवान शिव (महादेवजी) द्वारा बलवान दानव 'त्रिपुरा' जो देवो को सता रहा था, पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष मे खुशी के अवसर मे 'उज्जयिनी' हो गया। यह भी पता चलता है कि इनके अतिरिक्त इस पावन नगरी के छ भिन्न-भिन्न कल्पो (काल) मे छ प्राचीन अन्य नाम रहे हैं, जो क्रमश. 'स्वर्णश्रृंग', 'कुशस्थली' 'अवन्तिका', 'अमरावती', 'चूडामणि' एव 'पद्मावती' है। इसीलिये दीपवश (पृष्ठ ५७) के अनुसार 'अवन्ती' के लिए 'प्रतिकल्पा' नाम भी सुझाया गया है।

यह प्रमाणित है कि नगर का नाम उज्जयिनी काफी देर से पडा। यह भी सम्भावित है कि नगर का नाम समय-समय पर उसके शासको द्वारा बदल कर रखे गए और इसमे कोई अतिशयोक्ति भी नही, क्योकि इतिहास की ये घटनायें, उज्जैन की मालवा के उर्वर पठार पर उसकी उपयुक्त भौगोलिक स्थिति से सम्बन्धित है। कालिदास एव सोमदेव जैसे प्राचीन कवियो की भाषा मे यह नगर क्रमश. 'विशाला' अथवा 'वैशाला' (मेघदूत मे) एव 'पद्मावती', 'भोगवती' एव 'हिरण्यवती' (कथा-सरित-सागर मे) के नाम से अमर है।

उज्जैन, अवन्ती प्रदेश (जो पाणिनी के अनुसार एक स्त्रीलिंग शब्द है) की राजधानी थी जिसका वशिष्ठी-पुत्र पुलुमाई द्वारा नासिक की गुफाओ मे आलेख मिलता है और उन्होने इसे 'अकरावन्ती' पुकारा है। रूद्रदमन प्रथम के जूनागढ आलेख, एक नही बल्कि दो 'अकरावन्ती' का वर्णन करते हैं—एक 'पूर्व' तथा दूसरा 'अपरा' (पश्चिम)।

वराह-अवतार एव पृथ्वी-उद्धार।
(१०वी सदी)
(पृ० १८)

PHOTO SHYAM AGRAWAL

शिव-पार्वती प्रणय
(११वी सदी)
(पृ० १८)

जनसाधारण के आमोद-प्रमोद का उच्चित्र मूर्ति-शिल्प। वेषभूषा अत्यंत सादी है, परन्तु शरीर के अंगो की सुन्दरता और भाव मे नृत्य तल्लीनता दर्शनीय है। जो व्यक्ति पीठ की ओर दिखाया गया है, वह तो ऐसा लगता है, जैसे अभी-अभी उछलकर घूम पड़ा हो।

(शिल्प ९वीं सदी)

(पृ० १७)

'अवन्ती' का सम्बन्ध पश्चिमी मालवा से बताते हैं, जिसकी राजधानी 'उज्जयिनी थी। डा० भण्डारकर के विचार से दो 'अवन्ती' थी—एक उत्तरी जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी तथा दूसरी दक्षिणी जिसकी राजधानी 'माहिष्मती' थी। डा० मललालशेखर का कहना है कि समय बीतने पर जैसे-जैसे 'माहिष्मती' का महत्व कम हुआ—'उज्जयिनी' ने उसका स्थान ले लिया।

चीनी यात्री, ह्वान-चाग भी 'उ-शे-येन्-ना' (उजयाना अथवा उज्जयिनी) नगरी की स्थिति 'कोण्कणपुरा' 'महाराष्ट्र', भरूकच्छ', 'मालवा', 'कच्छ', 'बल्लसी' एव 'सौराष्ट्र' प्रदेशो से घिरी हुई बताते हैं। उनकी, उस समय की जानकारी के अनुसार 'उज्जयिनी' (अवन्ती) प्रदेश का परकोटा लगभग ६,००० ली (१,२०० मील), और इस प्रदेश की राजधानी 'उज्जयिनी' लगभग ३० ली (६ मील) घेरे की थी। उनके अनुसार यह एक घना बसा हुआ नगर था।

प्रसिद्ध राजनैतिक नाटक 'मुद्राराक्षस' एव प्राचीन 'वायु पुराण' भी उज्जयिनी के प्राचीन इतिहास पर समुचित प्रकाश डालते है। 'स्कन्द-पुराण' मे भी उज्जयिनी के धार्मिक एव लोक-कथाओ पर आधारित नामो का उल्लेख मिलता है, जो 'कनकश्रृ ग', 'कुमुद्वती' एव 'विशाला' हैं। लुअर्ड ने भी इस उज्जयिनी नगरी को 'नवतेरी' एव 'शिवपुरी' नामो से सज्ञा दी है। 'नवतेरी' नामकरण इस नगर की सम्भावित लम्बाई चौडाई (९ कौस १३ कोम) के कारण किया गया हो।

'कथा-सरित-सागर' मे 'उज्जयिनी' के लिए 'पद्मावती', 'भोगवती' एव 'हिरण्यवती' का उल्लेख है, जब कि सस्कृत साहित्य मे 'उज्जयिनी' के लिए 'महापुरी', 'पुष्पकरन्दिनी', अकरावन्ती' एव 'हेमश्रृ ग' इत्यादि अन्य पर्यायवाची नामो का विवरण है। 'ब्रह्म-पुराण' मे भी 'उज्जयिनी' को 'महानगरी' (महापुरी) की सज्ञा दी है।

भिन्न-भिन्न लेखको एव विद्वानो द्वारा 'उज्जयिनी' का उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है जैसे—'ओजिन', 'ऐजिन', 'ऐरिन', 'उजेन', 'उजे न', 'उज्जैनी', 'ऊज़े न', 'ओजे न', 'ऊजाइन', 'ऊजीन', 'उदजीन', 'ऊजिन' एव 'उजयाना' इत्यादि।

'उज्जैन का भूत (काल) भव्य रहा है। प्रागऐतिहासिक समय से, यह नगर आर्य-सस्कृति का एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा है और किसी समय शिक्षा का भी बडा केन्द्र रहा है। यह कहा गया है कि भगवान कृष्ण एव उनके भ्राता बलराम ने यही पर 'सान्दीपनि आश्रम' मे शिक्षा ग्रहण की—इसका उद्धहरण भारत के लगभग सभी पुण्य ग्रन्थो मे मिलता है। प्राचीनतम नगरो मे 'उज्जैन' का देश मे जो स्थान है वह अन्य किसी नगरी को प्राप्त नही। 'कुरुक्षेत्र की महिया तीनो लोको मे गाई गई है, वाराणसी कुरुक्षेत्र से दस गुना अधिक पुण्य है, 'महाकाल-वन' (उज़्जैन के महाकाल मन्दिर के चारो ओर का क्षेत्र) वाराणसी की भी तुलना मे दस-गुना और अधिक पवित्र है..........इसमे कोई सन्देह नही कि वाराणसी एक पुण्य तीर्थ स्थान है लेकिन 'महाकाल वन' वाराणसी से भी दस-गुना अधिक पुण्य तीर्थ स्थान है। [१] क्षिप्रा नदी, जिसके तट पर नगर बसा हुआ है, भी भारत की सात पुण्य नदियो मे से एक है। अत उज्जैन नगरी एव क्षिप्रा नदी दोनो ही महत्व एव धार्मिक पवित्रता के द्योतक हैं।

एक समय, यह नगरी 'अशोक महान' की प्रादेशिक राजधानी थी, जिसने समस्त एशिया महाद्वीप मे बौद्ध मत को फैलाया। इसी बीच लोक-कथाओ पर आधारित 'विक्रमादित्य' नाम के प्रतिष्ठित व्यक्ति का आगमन हुआ जिसने कि एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया जिसकी राजधानी 'उज्जयिनी' थी। इसी विक्रमादित्य के नाम पर 'विक्रम युग' (सम्वत) का शुभारम्भ हुआ। यह वही व्यक्ति है जिसके दरबार में साहित्य, कला एव सगीत के 'नवरत्न' पनपे। कवि कालिदास भी इन्ही 'नवरत्नो' मे से एक थे, जो अपने प्राचीन प्रतिष्ठित नाटको एव काव्य के लिए ससार मे प्रसिद्ध है। अपने प्रतिष्ठित नाटक 'मेघदूत' मे उन्होने 'उज्जयिनी' एव 'क्षिप्रा नदी' का विस्तृत वर्णन जिस

निपुणता से किया है, उससे यह विदित होता है कि वह केवल किताबी-ज्ञान तक ही सीमित नही थे वरन् वह एक बहु-विषयक ज्ञाता थे जो जिज्ञासु की भाति काफी घूमे-फिरे थे। [२] यह भी कहा जाता है कि कालिदास ने 'उज्जयिनी' मे जन्म लिया एव यही उनका प्राणात हुआ। यह नगर प्राचीन भाषा 'पाली' का भी जन्म स्थान रहा प्रतीत होता है। [३]

'उज्जयिनी' प्राचीन भारत मे, विद्वता का भी केन्द्र रहा है। यदि राजशेखर द्वारा रचित 'काव्य मीमासा' को मान्यता दें तो इस नगरी मे विद्वानो की एक सभा भी थी जो साहित्यिक रचनाओ के प्राविण्य को परखती थी। यदि विद्वानो की यह सभा, किसी रचना की प्रभुता को मान्यता देती थी तो वह सब के द्वारा प्रमाणित एव मूल्यवान मान लिया जाता था। राजशेखर के अनुमार कालिदास, भर्तृहरी, भैरवी, अमरू, हरिचन्द्र एव चन्द्रगुप्त की रचनाओ की परख इसी समिति द्वारा की गई थी। ऐसा भी कहा जाता है कि धन्वन्तरि, शकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर एव वररुचि भी विक्रमादित्य के ज्ञान के 'सितारो' मे मे थे।

चक्रवर्ती इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि हिन्दू सभ्यता के दिलचस्प अवशेष दिल्ली, जयपुर, उज्जैन एव वाराणसी मे पाए जाते हैं लेकिन प्राचीन भारत मे इसके मुख्य केन्द्र पटना एव उज्जैन ही थे। उज्जैन गणित, नक्षत्र विज्ञान (जिसका आवास–विश्वविद्यालय था) इत्यादि का केन्द्र था। [४] उज्जैन, शायद, नक्षत्र-विद्या के अध्ययन का भारत मे प्राचीनतम केन्द्र है और पाषाण युग की वेधशाला का सीमा चिन्ह है। शायद यह भी ठीक है कि भारतीय भूगोलवेत्ताओ एव नक्षत्रवेत्ताओ ने प्रथम देशान्तर की गणना उज्जयिनी से की हो। यद्यपि उज्जैन को इस दृष्टि से ससार का केंद्र माना गया और भारतीय भूगोलवेत्ताओ की मुख्य देशान्तर यही से गुजरी। जयपुर के राजा जयसिह द्वारा, एक वेधशाला के लिए इससे अच्छा स्थान उपलब्ध नही था और उनके अनुसार, उज्जैन का अक्षास २३°१०" उत्तर था जिममे केवल १" की त्रुटि रही।

उज्जैन की विख्याति केवल बौद्ध मत के केन्द्र के कारण नही थी, बल्कि जैन-धर्म के बडे उपासक महावीर स्वामी ने अवन्ती प्रदेश की राजधानी 'उज्जयिनी' मे ही कुछ बडे पश्चाताप किए हैं। [५] चीन जाने वाले समस्त भारतीय भिक्षुओ मे परमार्थ के अतिरिक्त शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति अधिक प्रसिद्ध हो। उज्जयिनी मे जन्म लेकर वे बौद्ध साहित्य की समस्त शाखाओ मे निपुण हो गए। चीन के निमन्त्रण पर वे ५४६ ई० मे चीन पहुँचे, वहाँ वे अपने अन्त समय (५६९ ई०) तक रहे और वहाँ उन्होने बौद्धमत की कम से कम ७० पुस्तको का अनुवाद किया।

टौलमी, अपनी पुस्तक 'पेरीप्लस आफ दि एरीथ्रीयन सी' मे यह बताते हैं कि 'ओजेन' (उज्जैन) व्यापार का एक बडा केन्द्र था जो कम से कम तीन व्यापारिक मार्गों द्वारा अन्य स्थानो से जुडा हुआ था। यह वही केन्द्र था जहाँ से प्रत्येक वस्तु का पश्चिमी तट के भागो से लेन-देन होता था। उज्जैन का पश्चिमी ससार एव एशियाई देशो से निर्यात व्यापार स्थापित था। २३ दिसम्बर १९६१ को विक्रम विश्वविद्यालय के दीक्षात समारोह के अवसर पर दीक्षात-भाषण देते हुए, डॉ सी. पी. रामास्वामी अय्यर ने कहा—'उज्जैन का–बौद्धिक केन्द्र–के रूप में विकसित होना उसकी राजनैतिक एव व्यापारिक क्षेत्र मे उन्नति एव अटूट सास्कृतिक परम्पराए हैं।' अकबर महान के शासन-काल मे उज्जैन मे एक टकसाल भी थी जिसमे तावा एव चादी के सिक्कें बनाये जाते थे। [६] ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी एव प्रथम शताब्दी ई० के कटे एव गढ़े सिक्के यहा पाए जाते हैं। [७]

इस प्रकार, उज्जैन वह सगम था जहा पर शहशाह, शासक, राजदूत, तीर्थयात्री तथा हमलावर गुजरते, मिलते तथा रात्रि को आराम के हेतु ठहरते थे। महात्मा बुद्ध के समय मे, उज्जैन 'दक्षिणपट्टी' अथवा 'दक्षिणपथ' पर एक मुख्य एव प्रसिद्ध ठहरने का स्थान था। [८] जनवरी, १६१६ मे इसी स्थान पर शहशाह जहागीर ने अग्रेज राजदूत सर थामस रो से बिदा ली थी। इस पावन नगरी ने मालवा के होशागशाह गौरी गुजरात के एहमदशाह एव शहशाह अकबर को साक्षात मे देखा है और इसके प्रतीक स्वरूप शिलालेख भी हैं।

विदेशियो द्वारा उज्जयिनी की प्रशसा खुले दिल से की गई है। चीनी यात्री ह्वानचांग उज्जैन, २० फरवरी,

६४१ ई० को आया था। [९] उज्जैन, उनके शब्दो मे 'एक घना शहर था। नगर मे अनेक धार्मिक सस्थान थे लेकिन खण्डहर के रूप मे। वहुत से साधु भी थे।' [१०] चीनी यात्री, फाह्यान ने भी उज्जैन की भरसक प्रशसा की है।

उत्पत्ति से अब तक, उज्जैन नगर अपनी उपयुक्त भौगोलिक स्थिति के कारण, विभिन्न अवस्थाओ से गुजर चुका है, जो यहा की लोक-कथाओ, लोकगीतो एव इतिहास मे निहित हैं।

REFERENCES

1 Bhavan's Journal, Bombay, vol XIII, No 10, 1966, P 74
2 Mirashi, V V. — Studies in Indology, Vol II, Nagpur, p. 294
3 Oursel, P M — Ancient India and Indian Civilization, London, 1951, p. 26.
4. Chakravarty, K. C Ancient Indian Culture and Civilization, Bombay B 1952, pp. 252–75.
5. Stevenson, S — The Heart of Jainism, p 33.
6. Allami, Abul-Fazal—Ain-i-Akbari, Calcutta, 1939, p 32.
7. Law, B. C. — Historical Geography of Ancient India, Paris, 1954 p 333.
8. Davids, Rhys — Buddhist India, p 103.
9. Julien's Hiouen Thsang, Vol I, p 190.
10. Law, B. C. — Indological Studies, Part III, Allahabad, 1954, p 165.

श्री विक्रमार्क-प्रशस्तिः

—श्री नागालाल जवरचन्द रूनवाल

सत्कीर्ति ममवाप्तवान् सुविमला छित्वा शकाना वलम्
भीतीत्योर्भयहीनतामगमयल्लोक समृद्धि तथा।
लोकेऽस्मिन् परदु.खभजनपद यातः पर यो नृपो
जीयाद् विक्रमभास्वरो नरवर सवत्सरस्थापकः ॥१॥

विक्रम संवत्

(प्रा० कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय)

इस समय भारत मे जो सवत् प्रचलित है, उनमे विक्रम सवत् का विशिष्ट स्थान है। इसकी प्राचीन सज्ञाए 'कृत' तथा 'मालव' थी, जैसा कि प्राचीन अभिलेखो से विदित होता है। सवत् २८२ (ई० २२५) से स० ४८१ (ई० ४२४) तक के १० लेख उपलब्ध हुए हैं।

इनका विवरण इस प्रकार है.—नादसा (उदयपुर १ लेख), वडवा (कोटा—३ लेख), बर्नाला (जयपुर—२ लेख), विजयगढ (भरतपुर—१ लेख), मदसौर (मध्यप्रदेश—१ लेख), गगधार (पूर्व राजस्थान—१ लेख) तथा नगरी (चित्तौड—१ लेख)। इन सब मे सवत् के साथ 'कृत' शब्द जुडा हुआ मिलता है। इनमे से मदसौर वाले स० ४६१ के लेख मे 'कृत' और 'मालव' दोनो शब्द आये हैं और उनके प्रयोग से विदित होता है कि वे एक ही सवत् के सूचक हैं, अर्थात् कृत या मालव सवत् एक ही हैं।

इस सवत् के साथ 'मालव' नाम सवत् ४६१ (मन्दसौर का उक्त लेख) से लेकर प्राय इस सवत् की दसवी शती (स० ९३६ का ग्यारसपुर का लेख) तक के प्राप्त लेखो मे मिलता है। इसके बाद से सवत् के साथ 'विक्रम' नाम जुडा हुआ पाया जाता है। आज तक इसी अतिम रूप मे इस सवत् का प्रयोग होता आया है।

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार नवीन सवत् का आरम्भ किसी प्रतापी शासक के राज्यारोहण या उसके द्वारा किसी प्रबल शत्रु को विजित करने की तिथि से प्राय होता रहा है। सप्तर्षि तथा कलियुग सवत् के विषय मे हमे विशेष ज्ञात नही है, परन्तु बाद के सवतो—मौर्य, शक कलचुरि, गुप्त, हर्ष, चालुक्य, विक्रम, गगा आदि पर ऊपर की ही परम्परा लागू है। यही बात विक्रम सवत् के सबध मे भी उपयुक्त बैठती है। यह सर्वविदित है कि इस कृत-मालव-विक्रम संवत् का प्रारम्भ ईसवी पूर्व ५७ से होता हैं। अब यहा विशेषकर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं पहला यह कि उस समय कौन प्रतापी राजवश था और उसने किस विजय के उपलक्ष्य मे उक्त सवत् का प्रवर्तन किया। दूसरा यह कि इस सवत् की विभिन्न सज्ञाए क्यो हुई। यहा इन दोनो प्रश्नो पर सक्षेप में विचार किया जाएगा।

विक्रम संवत् का प्रवर्तकः

"५७ ई० पू० के लगभग किसी प्रतापी भारतीय नरेश का पता न लग सकने के कारण कतिपय विदेशी तथा देशी विद्वानों को इस सवत के प्रवर्तक के विषय मे शका उपस्थित हो गई। इसके फलस्वरूप अनेक मतो का प्रतिपादन हुआ। कुछ लोगो ने पार्थियन शासक ऐजेज को, कुछ ने कनिष्क को और कुछ अन्य विद्वानो ने मालवा के यशोधर्मन को विक्रम सवत का प्रवर्तक माना है। दूसरे विभिन्न अनुमानो के अनुसार पुष्यमित्र, अग्निमित्र, शूद्रक, गौतमीपुत्र, सातकर्णि अथवा गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को इस सवत् की स्थापना करने का गौरव दिया गया। इनमे से कई अनुमान निराधार हैं। अन्य मतो की पुष्टि के लिए भी यथेष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलते। आज तक की उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर इतना कहा जा सकता

महिसासुर-मर्दिनी
(१०वी सदी)
(पृ० १८)

PHOTO SHYAM AGRAWAL

ध्यानस्थ-शिव
अगो का सुअनुपात व आभूषणो का नपा तुला उपयोग दर्शनीय है।
(शिल्प-११वी सदी)
(पृ० १८)

विष्णु, 'तीन-मूर्ति' में
द्वितीय क्रम, का कर्म रक्षा है
इन्हे मूर्तरूप मे गरुढ पर
आसीन प्रस्तुत किया, इस
ग्यारहवी सदी के उच्चित्र-
शिल्प ने ।
(पृ० १८)

है कि इस सवत् का प्रवर्तन ई० पूर्व ५७ मे हुआ।

भारत मे शक लोगो का प्रभुत्व लगभग ईसवी पूर्व द्वितीय शती के मध्य से आरम्भ हुआ। उज्जैन और उसके आसपास से कुछ ऐसे सिक्के हाल मे मिले हैं जिन पर ई० पूर्व द्वितीय तथा प्रथम शती की ब्राम्ही लिपि मे हमुगम, वलाक, हउमष आदि नाम लिखे हैं। आकार—प्रकार मे ये सिक्के उज्जयिनी के प्राचीन जनपदीय सिक्को से बहुत मिलते-जुलते हैं। इन सिक्को को इन पक्तियो के लेखक ने 'भारतीय मुद्रा शास्त्र की पत्रिका' मे प्रकाशित किया है और उनके सबध मे यह मत स्थापित किया हैं कि उन पर लिखे हुए नाम उन विदेशी शको के हैं, जिन्होने मौर्य साम्राज्य का पतन होने के बाद सिन्ध और काठियावाड से लेकर पश्चिमी मालवा तक अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया था।

इन शको के बारे मे अभी तक अधिक विवरण प्राप्त नही हुए। ईसवी द्वितीय शती के आरम्भ में शको की क्षहरात-शाखा ने काठियावाड़, गुजरात और पश्चिमी मालवा मे अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस वश के राजा नहपान तथा उसके दामाद उषवदांत ने क्षहरातो की शक्ति का विस्तार किया। उन्होने दक्षिणपूर्वी राजस्थान तक अपने अभियान किये और वहा बसे हुए मालव-जन को दूर चले जाने पर मजबूर कर दिया। क्षहरातो की शक्ति का उन्मूलन सातवाहन-शासक गौतमी पुत्र सातकर्णि के द्वारा किया गया। परन्तु उसके पश्चात् १५० ईसवी के कुछ पहले पश्चिमी भारत की दूसरी शक-शाखा के अधिपति रुद्रदामा प्रथम ने सातवाहनो को पराजय दी। रुद्रदामा तथा उसके कई परवर्ती वशजो ने शको की शक्ति का विस्तार किया और चौथी शती के प्रायः अन्त तक पश्चिमी भारत के बड़े भाग का आधिपत्य शक-क्षत्रयो के अधीन रहा।

मालवों का उल्लेख 'मल्लोइ' नाम से यूनानी लेखको ने किया है। मालव लोग सिकन्दर के समय मे पश्चिमी पजाब मे रहते थे। वे लोग धीरे-धीरे पजाब के दक्षिणी भाग मे चले गए। फिर वे हरियाना तथा पूर्वी राजस्थान मे जा बसे। ईसवी चौथी शती में मालवो का एक बड़ा समूह वर्तमान मध्यप्रदेश के पश्चिमी भाग मे बस गया।

विदेशी शको के साथ स्वतत्रता-प्रेमी मालवो के सघर्ष दीर्घ काल तक चलते रहे। शको पर अपनी विजयो के उपलक्ष मे मालवो ने कुछ ऐसे सिक्के चलाए, जिन पर 'मालवाना जय' या 'मालवगणस्य जय' लेख मिलते है। मालव-गण की अनेक मुहरें भी प्राप्त हुई है, जिन पर इस गण का नाम अकित है। इन सिक्को तथा मुहरों का समय ईसवी पूर्व प्रथम शती से लेकर ईसवी द्वितीय शती तक है। तांबे के कुछ ऐसे सिक्के भी मिले हैं, जिन पर मजुप, मपोजय, मगजश आदि नाम ब्राह्मी मे लिखे है। ये सिक्के उन विदेशी शको के प्रतीत होते हैं, जिन्होने दूसरी-तीसरी शती मे पूर्वी राजस्थान के कुछ भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। पश्चिमी भारत मे शको की प्रमुख चष्टन-शाखा का अन्त चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के द्वारा ईसवी चौथी शती के अन्त मे कर दिया गया।

ईसवी पूर्व प्रथम शती के मध्य मे पश्चिमी मालवा में शको की स्थिति का सम्यक् पता नही चलता। उस समय तक्षशिला तथा मथुरा मे शको का आधिपत्य कायम था। मथुरा की शाखा मे मेवकि राजुवुल तथा षोडाश प्रसिद्ध शक-शासक हुए। बहुत सभव हैं कि मथुरा के इन शको के साथ मालवो के सघर्ष हुए हो। शक लोग मथुरा के दक्षिण-पश्चिम की ओर बढना चाहते थे, अतः मालवो के साथ उनका संघर्ष अनिवार्य था। काठियावाड़ तथा गुजरात की ओर से भी शक लोग मालवा की ओर बढने का प्रयास कर रहे थे। हमुगम, वलाक आदि के जो सिक्के पश्चिमी मालवा से मिले हैं, वे इस बात की ओर इगित करते हैं। सातवाहनो के अतिरिक्त उज्जैन और विदिशा के स्वतत्र भारतीय शासको ने शको की शक्ति को आगे बढने से रोका। मालव गण ने इस कार्य मे विशेष भाग लिया। ५७ ई० पूर्व के लगभग शको की पराजय हुई। अपनी विजय के उपलक्ष्य मे भारतीय शासको द्वारा विशेष समारोह का आयोजन युक्ति सगत था। इस उपलक्ष्य मे नए सवत् का प्रवर्तन हुआ। सभवतः मालव गण के तत्कालीन प्रमुख को 'विक्रम' उपाधि से विभूषित किया गया। यह उपाधि सर्व प्रथम देवताओ के

द्वारा विष्णु को प्रदान की गई थी । जब कि उन्होने देवो का पक्ष लेकर असुरो के विरुद्ध अपने विक्रम का प्रदर्शन किया था। विष्णु की उपाधि अथवा उपनाम वेदो मे 'विक्रम' मिलता है। इस गौरवपूर्ण उपाधि का महत्व भारतीय साहित्य मे शताब्दियो तक अक्षुण्ण वना रहा। कई गुप्त सम्राटो ने भी इस उपाधि को अपना कर अपने को गौरवान्वित किया। कालान्तर मे 'विक्रम' तथा 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी अनेक नरेश हुए।

प्रारम्भ में विक्रम सवत् की सज्ञा 'कृत' हुई। यह नाम सतयुग या स्वर्णयुग का बोधक था। विदेशी शको की पराजय के पश्चात् नवीन कल्याण-सूचक युग का आगमन हुआ। अत. नए सवत् की 'कृत' सज्ञा समीचीन थी। कालान्तर में मालवगण के नाम पर सवत् को मालव सवत् एव तत्पश्चात् विक्रम सवत्' कहा गया।

प्रश्न यह है कि पाचवी शताब्दी के अन्त से ही इसकी सज्ञा 'कृत' से बदल कर 'मालव' कैसे हुई ? मदसौर के उक्त सवत् ४६१ के लेख में यद्यपि 'मालव' नाम का प्रयोग हुआ है, परन्तु वहां उस शब्द से केवल यही सूचित होता है कि 'कृत' शब्द व्यवहारतः मालव-गण में प्रचलित था। यही बात स ४८१ के नगरी वाले लेख से भी प्रकट होती है। पहला लेख जिसमें 'कृत' शब्द न होकर केवल 'मालव' शब्द हैं, वह कुमार गुप्त प्रथम और वन्धु वर्मा का (स. ४९३ का) मन्दसौर वाला लेख है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसी समय 'कृत' नाम बदल कर सवत् की 'मालव' संज्ञा हुई। तत्कालीन इतिहास से विदित होता है कि उस समय हूणो का आतक उत्तरी भारत मे व्याप्त हो गया था। ये हूण शको से कही अधिक क्रूर तथा अत्याचारी थे। गुप्त सम्राट कुमार गुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने हूणो से कठिन सग्राम कर उन्हें परास्त किया। परन्तु हूणो की शक्ति काफी बढ़ गई थी। तोरमाण के एरण (जिला सागर), कूर (नामक की पहाडी) तथा ग्वालियर से मिले हुए लेखो और मालवा, विन्ध्य क्षेत्र तथा राजस्थान में पाये गए हूण सिक्को से ज्ञात होता है कि इन प्रदेशो मे कुछ काल के लिये हूणो की सत्ता जम गई थी।

भिन्नरुचिर्हि लोकः।

सबकी अपनी-अपनी पसन्द है।

—रघुवश

'विक्रम'

श्री सियारामशरण गुप्त

युग सहस्र वर्षान्त प्रसारित
काल स्रोत के इस तट पर,
विजयी विक्रम की गाथा में
ध्वनित आज कवि का जो स्वर ।

मानस क्षिप्रा की लहरो मे
उमग उठा वह उल्लासी,
उस सुदूर मे महाकाल के
पदस्पर्श का अभिलाषी ।।

नूतन साके के प्रभात मे
फहरा जो जयकेतु वहाँ,
बरसी जिस पर वरुण कलश की
अभिषेकोदक धारासी ।।

किस अनन्त मे है, वह उसकी
आती यह फहराहट भर,
युग सहस्र वर्षान्त प्रसारित
काल स्रोत के इस तट पर ।।

जिस विक्रात बली विक्रम से
अभय कण्ठ का विजयोच्चार,
अब्द शब्द के नित रव रथ मे,
कर इतना पथ पार ।।

यहा आज के उत्सव में वह
थम न सकेगा एक निमेष,
शतियो के मुख से है उसको
आगे का आव्हान अशेष ।।

विकट पराभव की तमसा मे
जहा निराशा की वर्षा,
उसे वहा देते जाना है
पूर्व पराक्रम का सन्देश ।।

हुआ हमारा ही अपना यह
निखिल राष्ट्रमय जयजय कार,
उस विक्रान्त बली विक्रम के
अभय कण्ठ का विजयोच्चार ।।

हुआ अधोन्मूलन ध्वनि गू जी
भय क्या है किसका क्या भय,
जब वह दुराक्रम दु शासक
कठिन दस्युदल था दुर्जय ।।

देखा जब भी हमने तब से
वह वैताल 'पुन. तत्रैव',
उद्धत रहा हमारा विक्रम
नव वेशो मे सततत्तयैव ।।

वार मास वत्सर वत्सर की
प्रतिनिधी के मस्तक पर नित्य,
अविच्छिन्न अंकित रखा है
उस विक्रम का स्मरण सदैव ।

त्रि सहस्त्राब्द द्वार पट फिर से
उठे वही स्वर निः संशय,
अहरह जाग्रत है, वर विक्रम,
भय क्या है किसका क्या भय ।।

वह विक्रम जो उठा गगन मे
धारण किए समस्त प्रकाश,
नरादित्य सा तिमिर सेज पर
पूरा कर निज निरभ्र निवास ।।

नहो भले मिट्टी पत्थर पर
उसके पद चिन्हो की रेखा,
हृदय हृदय मे उर्ध्व लोक मे
अक्षय है उसका अभिलेख ।।

प्रति रजनी मे राज मुकुट तज,
जनमन की उज्जयिनी मे,
मधुर स्वप्न बन विचर रहा है
वह भय भजनकारी एक ।।

समाश्वस्त है कुटी कुटी का
भवन भवन का पवनाकाश,
वह आदित्य उदय फिर होगा
प्रकटित करके पूर्वप्रकाश ।।

तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ।

तेजस्वियो की अवस्था नही देखी जाती ।

—रघुवंश

पुष्पेषु जाती नगरेषु कांची
नारीषु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः ।
नदीषु गंगा नृपती च रामः
काव्येषु माघः कविकालिदास

—घटखर्पर

मालवा के हिन्दी कवि

डा. राममूर्ति त्रिपाठी

'मालवा के हिंदी कवि' विषय पर विचार करने से पूर्व 'मालवा के' किन्हे स्वीकार किया जाय ? क्या केवल उन्हें जिनकी जन्म भूमि मालवा हो अथवा उन्हे भी जिनका कवित्व कालीन कार्य क्षेत्र मालव रहा हो। यह भी सभव है कि मालव जन्मा कवि प्रवासी हो चुके हो और अन्यत्र उत्पन्न मालववासी ? इन आशकाको और सभावनाओ को निश्चय कोटि तक पहुचा देने का कार्य स्वय मे एक पृथक निवन्ध का विषय है—अतः इन अनुत्तरित विकल्पो के उपरान्त मैं यह मान कर चलता हू कि 'मालव के' कवि इनमे से हर तरह के हो सकते हैं और हैं। इसी प्रकार 'हिन्दी' का अर्थ यदि 'भाषा' और उसकी बोलियो को भी लें तो 'हिंदी' कवियो मे न केवल उन्ही का समावेश होगा जो साहित्यिक स्तर पर परिष्कृत हिंदी मे लिखते हैं, बल्कि उनका भी जो मालवी मे भी लिखते हैं। इस प्रकार 'मालव के हिंदी कवि' की वर्गीकृत रूप रेखा कुछ इस प्रकार की होगी—
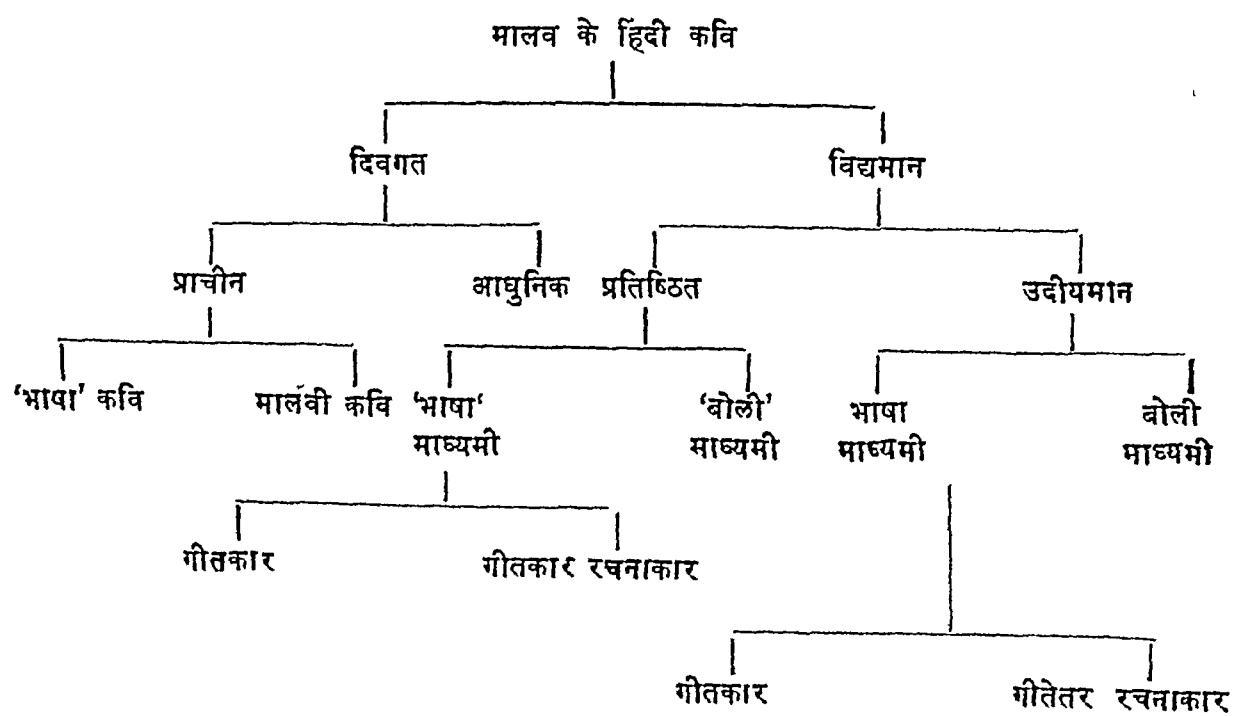
राजशेखर ने न जाने कब से चलती चली आ रही परम्परा का उल्लेख करते हुए कहा 'उज्जयिन्या हि काव्य-कार परीक्षा'। उज्जयिनी वह केन्द्र थी, जहा कवियो की परीक्षा हुआ करती थी। जहा कवियो की जाच-परख होती रही हो, वहा की कवि-परम्परा का ऐसे अवसर पर स्मरण औचित्य का तकाजा है।

राहुल साकृत्यायन ने 'पुरातत्व निबधावली' मे 'हिंदी के प्राचीनतम कवि और कविताएँ' शीर्षक एक निबन्ध सकलित कर रखा है, जिसमे अनेक स्थानो के कवियो का उल्लेख करते हुए 'तान्तीया' नाम के प्रसिद्ध चौरासी सिद्धो मे से एक सिद्ध का उल्लेख किया है। यह मालव देश के अवन्तिका नगर (उज्जैन) का कोरी (तन्तुवाद) था। तन्जौर के पुस्तकालय मे चतुर्योगभावना' नाम का इनका एक ग्रन्थ उपलब्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'अपभ्र श मे है। राहुल जी 'अपभ्र श' को भी 'हिंदी' मानते थे—यद्यपि अब यह मत अमान्य हो चुका है, परन्तु यदि इन्हे टेण्ढणपाद से अभिन्न मान लिया जाय और 'चर्या-गीति' की भापा देखी जाय—तो उसे हिंदी' कहने मे उतना सकोच नही। कारण वह उत्तरकालीन अप-भ्र श है—सक्रान्तिकालीन हिंदी है।

हिंदी साहित्य के आदिकाल की सामग्री जिन सर-हदी प्रदेशो मे बनी मिलती है, मालव प्रदेश भी उनमे उल्लेख्य है और उस क्षेत्र मे अथवा अन्यत्र के भाण्डागारो की खोज चलती रही तो ऐसे मालव के हिंदी कवियो की उपलब्धि भी सभव है, जिन्होने हिंदी साहित्य की आदि-कालीन कृति निर्माण मे योग दिया हो। धार नरेश भोज के चाचा मु ज और मृणालवती-मृणलवइ को लेकर अनेक एसी रचनाएँ अज्ञात नामा कवियो की सम्भावित हैं। सभव है 'मु जराज' किसी प्रदेश के कवि ने लिखा हो। वैसे धार के भग्नावशेषो प्रासादो एव भोजशाला मे जडे हुए शिला खण्डो पर न जाने कितने अज्ञात नाम कवि हो और सभव हैं परवर्ती अपभ्र श मे कतिपय रचनाएं भी उनकी पडी हो, अस्तु। अवन्तिका अपनी समृद्धि के कारण आक्राताओ की शताब्दियो तक चर भूमि बनी रही। इस अस्तव्यस्तता के कारण यहा की 'भापा' साहित्य उपलब्ध नही होता।

यो तो हिन्दी के एक पुराने इतिहासकार शिवसिंह सेंगर ने लिखा है कि स० ७७० मे 'मान' (भोज का पूर्व पुरुष) अवन्तीपुरी का बडा पडित और अलकार विद्या मे निष्णात व्यक्तित्व था। इसी का सभासद पुष्य या पुष्य नाम का कोई भाट था। सभवतः 'भाषा' अर्थात हिंदी का प्रथम कवि यही हो। टॉड ने भी इसका समर्थन किया हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पुष्प को पुज्पदत से अभिन्न माना है और उनका समय सातवी के बदले दसवी शती निर्धारित किया है। यदि पुष्प पुष्पदत है मायाणी के शब्दो मे वे 'माषा' के नही 'अपभ्रंश' के भवभूति हैं। यद्यपि राहुलजी एव शुक्लजी प्रभृति मनीषियो ने 'अपभ्र श' को 'हिन्दी' या 'प्राकृतभास हिन्दी' कहा हैं—पर अब अप-भ्र श और विशेषकर पुष्पदत के प्रतिमित (Standard) अपभ्रंश को 'हिन्दी' कोई नही मानता। अत इन्हे हिन्दी का प्रथम कवि कहना विवादग्रस्त ही नही, अब तो विपक्षी निर्णय भी हो चुका है।

जनश्रुति मे हिन्दी के अनेक प्राचीन कवियो का सबध उज्जयिनीवासी कह कर प्रचलित है। मध्य भारतीय साहित्य-सम्मेलन के महू अधियेशन के सभापति पद से भाषण देते हुए डा सूर्य नारायण व्यास ने यह स्पष्ट कहा है कि उज्जैन के प्राचीन कवियो में दत्तनाथ बाबा एव मेघराज उल्लेख्य हैं। सुना जाता है कि भालेरावजी के पास इनकी रचनाए है और मराठी ज्ञान कोष में तो इनकी रचनाओ का उल्लेख भी है। इसी प्रकार डॉ हरिहरनाथ टंडन ने पुष्टिमार्गीय वार्ता साहित्य का अनुशीलन प्रस्तुत करते हुए कहा है पुष्टिमार्गीय वार्ताकारों मे सबसे पहली प्रति के लेखक श्री कृष्ण भट्ट जी उज्जयिनी के ही थे।

इस प्रकार प्राचीन युग के हिन्दी साहित्य सेवियो और कवियो की परम्परा की क्षीण-काय धारा का पता जहा तहाँ से थोडा बहुत मिलता है-पर बहुत स्वल्प। लेकिन यहां की मिट्टी और हवा में जो चेतना व्याप्त है, उसमे परम्परा से साहित्यिक सुगध की प्रचुरता अवश्य थी। इसका प्रमाण यहां की आधुनिक साहित्य की चेतना से मिलता है।

दिवगत प्राचीन साहित्यकारो मे 'भापा' कवि

तो थे ही, मालवी बोली में भी अपनी रचना प्रस्तुत करने वाले कई साधक कवियो का नाम मिलता है। इस श्रेणी में निर्गुणी सत बाबा हरिदास, भक्त कवि दीनानाथ तथा स्वनामधन्य प नारायण व्यास का नाम लिया जा सकता है। बाबा हरिदास ने अधिकतर दोहे लिखे हैं और वे अब प्राप्त हो चुके है। भक्त दीनानाथ के पदो का सग्रह 'लक्ष्मीकात पदावली' शीर्षक से उपलब्ध है। स्व० व्यासजी यद्यपि सस्कृत भाषा और साहित्य के निष्णात पडित थे, तथापि उन्होने मालवी भाषा मे कुण्डलिया रामायण लिखी है।

दिवगत प्रतिभाओ मे, जिनमे अपेक्षाकृत नया युग और साहित्य के बदलते हुए स्वर श्रुतिगोचर होते हैं—पडित रमाशकर शुक्ल हृदय तथा प० बालकृष्ण शर्मा नवीन शीर्ष स्थानीय है। विजयवैजयती, करुणाकण तथा शैवाली इनकी काव्यात्मक रचनाए है। पहली दोनो रचनाओ का सबध शिंदे राजवंश से है और तीसरी उनकी प्रकीर्णक कविताओ का सकलन है। शुक्लजी की रचनाओ को देखने से लगता है कि हृदय उनका उपनाम सार्थक है। हृदय की उफान और वेदना उनकी रचनाओ मे प्रतिबिंबित है। अभिव्यक्ति के धरातल पर अभिधा की प्रसन्नता तो है ही, लक्षणा और व्यजना गर्भ छायावादी पद्धति की चमक भी विद्यमान है :

प बालकृष्ण शर्मा नवीन राष्ट्रीय धारा के उन्नायक कवियो मे महत्वपूर्ण स्थान रखते है। कुकुम, रश्मिरेखा, अपलक, क्वासि, विनोबास्तवन, उर्मिला, तथा प्राणार्पण इनकी कीर्ति के स्तम्भ है। नवीन जी भौतिक धरातल पर अतृप्त फलतः उदात्तीकृत स्नेह की धारा को समाज, राष्ट्र और फिर विश्व के धरातल पर उडेलने वाले साधक थे। व्यष्टि और समष्टि दोनो ही भूमिकाओ पर वे अतर्वेदना को सुनते थे और अनुभव करते थे, उनकी समूची काव्य सर्जना इसी स्वर का साकार रूप है।

इन दिवगत शहीदो की श्रेणी मे परिगणनीय छायावादी भावनाओ के विपक्ष में उभरती हुई गैररोमैण्टिक आधुनिकता के अग्रदूत श्री गजानन माधव मुक्ति बोध का भी कार्यक्षेत्र मालवा रहा है और मालव की भूमि उन्हे भी अपना समझती है। मुक्तिबोध जीवन, साहित्य और अभिव्यक्ति तीनो स्तर पर सघर्ष की जीवन्त प्रतिमा थे। अपने इस आधुनिकता-गर्भ व्यक्तित्व को उन्होंने सशक्त स्वर दिया है- 'चाद का मुंह टेढा है' शीर्षक कृति में सघर्षों से वज्रायमाण धरती मे गडकर भी जिसने आशा की लौ बराबर दीप्त रखी, अनास्था के प्रति कभी आत्मसमर्पण नही किया, ऐसे दीप्ति-पुज की मूर्त प्रतिमा आज की धरा पर दुर्लभ है।

विद्यमान साहित्य सेवियो मे ऐसी प्रतिभाए भी मालवा की बन चुकी है—जो "उपजहि अनत अनत छवि लहही" के ज्वलत दृष्टान्त है" डॉ शिवमगलसिंह सुमन ऐसी ही विभूति है। सुमन जी मूलत रोमैण्टिक भावधारा के कवि है। यो समय के प्रवाह मे उनकी प्रतिभा प्रगतिवादी भूमि पर भी सचरण कर चुकी है और यदा-कदा करती रहती है। सवेदनशील होने के नाते सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ से भी प्रभावित हो जाते है और अनुरूप रचनाए भी उनकी लेखनी से निकल जाती हैं। इन सबके बावजूद घूम फिर कर उनके मन की आंखे सौन्दर्य और श्रृगार पर ही जा टिकती हैं। जीवन के गान, प्रलय सृजन, विन्ध्य हिमालय, "पर आखे नही भरी" तथा हिल्लोल के साक्ष्य पर उक्त सत्य की पुष्टि होती है।

'अमिताभ' जैसे भावमय आदर्शमण्डित एव शक्त खण्ड काव्य के प्रणेता प प्रभागचन्द्र शर्मा तो मालवा की उपज ही हैं और उनका कार्य क्षेत्र भी मालवा है। श्री भगवत शरण जौहरी भी मालव के कवि हैं और छायावादी वातावरण में उन्ही भावभूमियो पर इनकी लेखनी सक्रिय हुई है। जहा-तहा समाज की अर्थ वैषम्य पीडित दशा ने भी कवि को क्षुब्ध किया है और फलत आक्रोश की लपट भी इसकी वाणी मे लक्षित हो जाती है। 'अर्चना' 'विदा वेला में' 'स्वप्न और सत्य' के अतिरिक्त 'नील गगन के नीचे' जैसी इनकी रचनाएं अभी अपना प्राप्य नही पा सकी हैं। इनके छोटे भाई महेश शरण जौहरी भी उज्जैन के विशिष्ट कवि हैं। इनकी रचनाए हैं—ज्वाला और ज्योति, पथिक के स्वर, मेघ मल्हार, अधेरी-उजेरी, आव्हान विसर्जन, धूल के फूल, पर अब भी, नुग्रह-शाम तथा

(रूपान्तरित) देवदास। छायावाद की कोकिला महादेवी वर्मा का कल कण्ठ 'नीहार' भी इसी प्रदेश के अन्तर्गत फूटा था।

यह सही है कि प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति में उसके विकास और ह्रास के बीज निहित रहते हैं—साथ ही आश्रय के अवयव सस्थान जब शिथिल होने लगते हैं तो उसकी सभावनाए दूसरा आश्रय खोजने लगती हैं। ठीक यही स्थिति छायावादी काव्य भूमि की भी रही। एक ओर जहाँ उसके ह्रास के कारण उन्होंने 'हृदय का भार' 'अरमानो' की चिता' 'तू' और 'मैं' की रचना की है। प. दीनानाथ इस प्रसग मे विशेष स्मरणीय है। वही दूसरी ओर छायावाद की सभावनाए 'प्रगति' और 'प्रयोग' की भूमियो में 'पत' और 'निराला' के माध्यम से सचरण कर रही थी।

चिन्तको की धारणा है कि उत्तरापथ के मध्यभाग मे स्थित चेतना यथास्थितिवादी रही है। उसमे प्रगति की तरगे जिन धक्को से उद्भूत होती रही है। वे प्राय मध्यभाग की सरहदे हैं। जीवन और साहित्य के क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाली क्रान्तियो और परिवर्तन का इतिहास इसका दृष्टान्त हैं। यह तथ्य केवल प्राचीन युग के परिवर्तनो के विलय मे हीनही, वर्तमान युग के साहित्य और जीवन के सदर्भ मे भी सही है। द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक चेतना मे वक्रिम तरगो के उत्पादन का श्रेय जिस प्रकार इन्ही सरहदी प्रतिभाओ पाडेय बंधुओ आदि को है उसी प्रकार 'तार सप्तक' के माध्यम से उद्भूत होनेवाली नई चेतना, प्रयोगवादी आदोलन के उपयुक्त उठने वाले मेघ खण्ड मालव मे ही एकत्र हो रहे थे। **नेमीचन्द जैन, प्रभाकर माचवे** तथा **मुक्तिबोध** जैसी एक साथ 'प्रगति' और प्रयोग की भूमियो पर उभरने वाली प्रतिभाए इस समय इसी प्रदेश में थी। इनकी सकल्पना 'तारसप्तक' मे साकार हुई। यद्यपि मुक्तिबोध घोर व्यक्तिवादी थे, पर सामाजिक चेतना ने ऊन्हे पथ भ्रष्ट होने से बचा लिया। मिट्टी मे गडकर भी वे आस्था और आशा की लौ बने रहे। जीवन, साहित्य और अभिव्यक्ति तीनो स्तर पर निरतर सघर्ष करते रहे। इसी सघर्ष का स्वर इनकी रचनाओ मे सुनाई पड़ता है। चाद का मु ह टेढा है'—इनकी कीर्ति का एक स्तम्भ है। नेमीचन्द्र की कविताओ मे सक्रान्ति के रगों की ही प्रधानता है-फिर भी उनमे जो प्रभाव है वह उनकी ईमानदारी तथा भावुकता के कारल। माचवे का विचारक उनके कवित्व से कही अधिक आकर्षक है। इनकी रचनाए हैं—स्वप्न भग, अनुक्षरण तथा मेपल।

इस सभी के अतिरिक्त प्रयोगवाद अथवा उसका निखरा हुआ रूप 'नई कविता' के दो और प्रवासी मालवी कवि स्मरणीम हैं—श्री नरेश मेहता तथा हरिनारायण व्यास। वह तारसप्तक के आकर्षक स्वर हैं तो ये दोनो दूसरा सप्तक के उल्लेख्य कवि हैं। श्री मेहता उदात्त मानवीय विचारो और स्वस्थ सामाजिकता के वाहक हैं। उनका यही रूप जब शक्त शिल्प के साथ सहज गठवन्धन करके उभरता है, तव उनकी रचना उत्कर्ष का विन्दु छूने लगती है। इसी सतुलन मे जब उनकी समाधि शिथिल हो जाती है, तब वे दुर्बल जान पडने लगते हैं। 'सशय की एक रात' से भी हम इन्हे जानते हैं। जहा तक व्यासजी का सम्बन्ध है, वे भी सामाजिक चेतना के कवि हैं। यह बात अलग है कि उन्होंने यत्र-तत्र अपने व्यथित मन के चित्र दिए हैं, लेकिन जहा ऐसा है भी, वहा भी उनकी सामाजिक चेतना का पहरा है। शिल्प के क्षेत्र में व्यासजी बराबर सतर्क रहते हैं।

'नई कविता' का 'तीसरा सप्तक' निकलते-निकलते इस क्षेत्र के प्रतिष्ठित कवियो और कविताओ के प्रति एक तीखी प्रतिक्रिया पुन· जिन विभिन्न कोनो से सुनाई पडी और काव्य मे पुन एक नई भूमि उभरती हुई लक्षित होने लगी—उनमें मालवी प्रतिभा भी एक कोना है। इस धारा की रचनाएँ अब लोगो की वाणी, छद्मभेष धारिणी तथा समय की अभिनव चेतना से दूर पडती सी लगने लगी। विरोध मे 'ताजी कविता', 'अभिनव कविता' और 'अकविता' का स्वर मुखर होने लगा। सन् १९६३ में इसी अवन्तिका को कार्यक्षेत्र बनाने वाली एक उभरती हुई प्रतिमा श्री जगदीश चतुर्वेदी ने 'प्रारम्भ' नामक सकलन निकाला, जिसमें कुल चौदह कवियो की रचनाएँ संकलित हैं।

इस उदीयमान पीढी को 'आक्रोशी' सज्ञा दी जा सकती है। जगदीश चतुर्वेदी के साथ मालव की प्रतिभा के

रूप में डॉ. श्याम परमार का भी नाम जुडा हुआ है। इन लोगो ने 'नई कविता' के विरुद्ध उसके छायावादी छद्म सस्कारो और समझौतावादी दृष्टि के विपक्ष मे–'अकविता' का प्रवर्तन किया। 'प्रारम्भ' के आवरण पृष्ठ पर लिखा है—'पुरानी मान्यताओ, पुराने नियमो तथा पुराने सस्कार एव रीति-रिवाजो के विरुद्ध एक सहज आग्रह आज के कवि का है जो युग सापेक्ष है। इस विरोध का कारण पुरानी मान्यताओ के प्रति गहरी ऊब तथा नये के प्रति एक सहज आकर्षण है। पुरानी काव्य परम्परा के प्रति विद्रोह भी इसीलिए आवश्यक सा है। इगलैंड के 'एग्री यग मैन' की तरह एक क्षुब्धता आज के हिन्दी कवियो में है, किन्तु इन युवा आक्रोशी कवियो में असामाजिकता कही भी नहीं है। वे समाज को विध्वस नही करना चाहते। मात्र एक परिवर्तन चाहते हैं। इस 'अभिनव काव्य' (प्रारम्भ) के सकलन में प्रथम बार हिन्दी के क्षुब्ध पीढी क कवि एक स्थान पर सग्रहीत हैं।'

ये आक्रोशी भी कुछ तो इस प्रकार के हैं जो नितान्त वैयक्तिक चेतना के कवि हैं। इसलिए उनमें विघटनकारी प्रवृत्तिया सहज ही उभरती हुई लक्षित होती है। श्री चतुर्वेदी का आक्रोश व्यक्तिगत दबाव का आक्रोश है। आक्रोशी मात्र दबाव के अनुभव से ही यह लाए हुए हैं। यह दबाव कभी हम व्यक्तिगत धरातल पर अनुभव करते हैं और कभी सवेदनशील होने के कारण पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दबाव का धरातल जितना ही व्यापक होगा—कवि का स्तर उतना ही महान होगा। आक्रोश श्री चन्द्रकान्त देवताले में भी है, पर वह दबाव वैयक्तिक धरातल से आगे बढकर महसूस करता है। व्यक्तिगत धरातल का दबाव भी बहुतो का एक सा है—देवताले इस सामान्य भूमि पर आक्रोश व्यक्त करता हुआ अपना उदात्तीकरण कर लेता है। कौशल मिश्र भी इन्ही आक्रोशी कवियो की श्रेणी मे एक दैदीप्यमान नक्षत्र हैं।

आक्रोश से ज्यादा आज का व्यक्ति तनावो में जी रहा है। चाहे जिस स्तर पर जो स्थिर हो, किसी न किसी प्रकार का तनाव सबमे है। 'तनाव' मे रहते-रहते वह उससे मुक्त होने के लिये या तो उसे जो भी सीढी मिले उतर जाता है अथवा थकान का स्वर भरने लगता है। इसी मालवे की उभरती प्रतिमा श्री प्रमोद त्रिवेदी में यही थकान का स्वर कभी-कभी सुनाई पडता है। जब वे कहते हैं कि पुराने जूते की तली हमे गडती है और नया जूता काटता है, तो वे अपनी विवश स्थिति का ही इजहार करते हैं और थकान महसूस करते लक्षित होते हैं। इस प्रकार मालव की दैदीप्यमान पीढी के कई गीतेतर रचनाकार हिन्दी भाषा के माध्यम से अपने को व्यक्त कर रहे हैं।

श्री प्रकाश उप्पल हमे इन सबसे हटकर विचारक और प्रतिमासम्पन्न कवि लगता है। श्री सरल उदीयमान नही, अब तो प्रतिष्ठित राष्ट्रीय धारा के कवि हैं।

जहा तक मालव के उदीयमान और प्रतिष्ठित गीतकारो का सबध है—वे गीत साहित्य की भाषा मे भी लिखते हैं और मालवी बोली मे भी। भाषा-माध्यमी उदीयमान गीतकारो मे कुछ गीतकार हैं और कुछ नवगीतकार।

मालव के उदीयमान गीतकारो में खुर्शीद अजेय, अनोखेलाल त्रिवेदी मुकुल, भागीरथ बडोले, मानसिंह राही, रमेश चातक, रबीन्द्र कुमार चौरे, डॉ. पवन कुमार मिश्र, यशवन्त भारद्वाज, राजेन्द्र आर्य, चन्द्रसेन विराट, मोहन सोनी प्रभृति का नामोल्लेख किया जा सकता है। इन गीतकारो मे चन्द्रसेन विराट की चार-पाच सकलनात्मक कृतिया प्रकाशित हो चुकी हैं। विराट् का कार्य क्षेत्र साहित्येतर होते हुए भी उसमें गीतकार विराट की कविता का विकास ही नही, सभावनाएं भी हैं। गीत के अतिरिक्त विराट् ने गजल का हिन्दी मे सफल प्रयोग किया है। आसू अथवा करुणा इनकी केन्द्रीय भावभूमि है। यद्यपि अपने गीतो मे इन्होंने नई चेतना भी भरने की कोशिश की है पर मूलत मे नवगीत कार नही, गीतकार ही हैं और अच्छे है।

नवगीतकारों मे नईम खां प्रशसनीय ढग से उभर रहा है। उसमे सभावनाए हैं। नवगीत भी गीत हैं अर्थात् गीत की समस्त मूलभूत विशेषताओं के साथ उसकी विशेषता समय की ताजी चेतना की सजग अभिव्यक्ति है।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय काव्यधारा के कवि श्री कृष्ण सरल, डा महेन्द्र भटनागर, श्री नटवरलाल स्नेही,

श्री कुजबिहारी पाण्डेय की प्रतिभा अपने-अपने क्षत्र मे विशेष उल्लेखनीय है।

इनके साथ-साथ नीलकण्ठ तिवारी, वीरेन्द्रकुमार, कमलाकान्त पाठक, अनत कुमार पाषाण, शकरलाल राठी, बद्रीप्रसाद विरमाल, मोहन अम्बर, कलानिधि चचल, हरीश प्रधान, प्रदीप, सरोज कुमार, शेखमुइनुद्दीन, सुदीपकुमार बैनर्जी, गिरिवरसिंह भवर, सुलतान मामा रमेश जोशी, मदन मोहन व्यास, टीकम, भावसार, प्रकाश उप्पल, नरहरी पटेल, महेश राजा' शिवकुमार मधुर, अरुण वर्मा, दशोत्तर, नरेन्द्र समाधिया, हरीश पाठक, रामरतन ज्वेल, उत्सवलाल, प्राण वल्लभ गुप्त, मणिशकर आचार्य आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात स्तर की प्रतिभाए अपने अपने क्षेत्र मे सक्रिय हैं।

मालय प्रदेश मे भाषा के कवि तो हैं ही, बोली मे भी रचना करने वाले लब्ध प्रतिष्ठ गीतकार हैं। इस क्षेत्र मे सर्व श्री बालकवि बैरागी, हरीश निगम, श्रीमती पुखराज पाण्डेय, मोहन सोनी, राजेन्द्र आर्य, शिवनारायण चौरसिया, जगन्नाथ विश्व, भावसार बा, पूनमचन्द सोनी, प्रभृति हैं। अज्ञात रूप मे जाने कितनी प्रतिभाए सक्रिय होगी। शिष्ट साहित्य का अपना सौन्दर्य है और लोक-साहित्य का अपना आकर्षण तथा अपेक्षाकृत स्थायी मार्दव।

श्री बालकवि बैरागी मालव के कवि और मालवी गीतकार हैं। आपकी वाणी मे शक्ति और ओज है।

श्री हरिश निगम भी इसी धारा के सशक्त लोक कवि हैं। हास्य-व्यग के छीटे भी इनके गीतो मे मिलते है। सामाजिक और उपादेयभावगर्भता तो रहती ही है। भावसार बा मुख्यत सामाजिक व्यग के गीतकार हैं। मोहन सोनी की रचनाओ मे वैविध्य लक्षित होता है। शिव के गीत अपने अनुभवो मे आकर्षक हैं। लोक गीतों मे लोक भाषा के माध्यम से लोक की मिट्टी की सोधी गंध सस्कारो और भावो मे आपादमस्तक सिक्त बोलचाल के शब्दो मे बाधकर रखदी जाती है। सभावनाओ के ये कवि यदि जीवन के ताजे और गभीर अनुभवो की अनुरूप भाषा मे अपेक्षित अभिव्यक्ति कौशल के साथ इसी प्रकार बांधकर चलते रहे-तो वे निसदेह किसी भी बोली मे रचितलोक साहित्य की प्रतिभाओ के बीच अपना स्थान बनाए गे।

कलेवर वृध्दि के भय से मालव की कारयित्री प्रतिभाओ का यथा सभव यह सक्षेप परिचय दिया जा रहा है। जिनका उल्लेख न हो पाया हो, दोष या कमी उनकी नहीं, मेरे ज्ञान की परिधि की संकीर्णता ही है। मेरे ज्ञान का अधूरापन है।

स्तोत्रं कस्य न तुष्टये।

प्रशसा किसको प्यारी नही?

—शकुन्तला

सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति।

सभी अपनी वस्तुओं को सुन्दर ही समझते हैं।

—शकुन्तला

कालिदास

'दिनकर'

समय-सिन्धु में डूब चुके हैं मुकुट हर्म्य विक्रम के,
राज सिद्धि सोई कब जाने महागर्त मे तम के।
समय सर्व भुक लील चुका सब रूप अशोभन-शोभन,
लहरो मे जीवित है कवि, केवल गीतो का गु जन ।।

शिला-लेख, मुद्रा के अ कन, सब हो चुके पुराने,
केवल गीत कमल-पत्रो के हैं जाने पहचाने।
सबके गये, शेष हैं लेकिन कोमल प्राण तुम्हारे,
तिमिर-पु ज मे गूंज रहे ज्योतिर्मय गान तुम्हारे ।।

काल-स्रोत पर नीराजन-सम ये चलते आये हैं,
दिनमणि बुझे, बुझे विधु पर, ये दीप न बुझ पाये हैं।
कवे ! तुम्हारे चित्रालय के रग अभी हैं गीले,
कली कली है, फूल फूल, फल ताजे और रसीले ।।

वाणी का रस-स्वप्न खिला था जो कि अवन्तीपुर मे,
ज्यो का त्यों है जड़ा हुआ अब भी भारत के उर मे।
उज्जयिनी के किसी फुल्ल-वन शोभी रूप-निलय से,
विरह-मिलन के छन्द उडे आते हैं मिले मलय से ।।

एक सिक्त-कुन्तला खोलकर मेघो का वातायन
अब तक विकल रामगिरि-दिशि मे हेर रही कुछ उन्मन।
रसिक-मेघ पथ का सुख लेता मन्द-मन्द जाता है,
अलका पहुच सदेश यक्ष का सुना नही पाता है ।।

और हुताशनवती तपोवन की निर्धूम शिखाए,
लगती है सुरभित करती-सी मन की निखिल दिशाए।
एक तपोवन जीवित हैं अब तक भारत के मन मे,
जहां अरुण आभा प्रदोष की विरम रही कानन मे ।।

बंधे विटप से वैखानस के चीवर टगे हुए हैं,
ऋषि-रजनीमुख हवन-कर्म मे निर्भय लगे हुए हैं।
मुनिवाला के पास दौडता मृगशावक आता है,
ज्यो-त्यो दर्भजनित क्षत अपने मुख का दिखलाता है ॥

वह निसर्ग-कन्या अपने आश्रमवासी परिजन को,
लगा इंगुदी-तैल, गोद ले सुहलाती है तन को।
बहती है मालिनी कही अब भी भारत के मन मे,
प्रेमी प्रथम मिला करते जिसके तट वेतस-वन मे ॥

प्रथम स्पर्श से झकृत होती वेपथुमती कुमारी,
एक मधुर चुम्बन से ही खिल कर हो जाती न्यारी।
दर्भांकुश खीचती चरण से झुकी अरालासन से,
देख रही रूपसी एक प्रिय को मधु-भरे नयन से ॥

इस रहस्य-कानन की अगणित निबिडोन्नत ललनाऐं
कान्तप्रभ शरदिन्दु-रचित छवि की सजीव प्रतिभाएं।
हसकर किसकी शमित अग्नि को जिला नही देती है ?
किस पिपासु को सहज नयनमधु पिला नही देती है ?

अमित युगो के अश्रु, अयुत जन्मो की विरह-कथाए,
अमित जनो की हर्ष-शोक उल्लासमयी गाथाए।
भूतल के दुख और अलभ सुख जो कुछ थे अम्बर मे
सब मिल एकाकार हो गये कवे ! तुम्हारे स्वर मे ॥

किसका विरह नही बजता अलका वासिनी के मन में ?
किसके अश्रु नही उडते हैं बनकर मेघ गगन मे ?
किसके मन की खिली चांदनी परी न बन जाती है ?
वन कन्या बन, लता-ओट छिप किसे न ललचाती है ?

कम्पित रूधिर थिरकता किसका नही रणित नूपुर मे ?
मिलन-कल्पना से न दौड जाती विद्युत किस उर मे ?
गीत लिखे होंगे कवि गुरु, तुमने तो अपने मन के,
झकृत क्यो होते है स्वर इनमे त्रिकाल-त्रिभुवन के ?

ब्रह्मा, 'तीन-मूर्ति' मे प्रथम देव, सृष्टि के रचयिता हैं। इनकी पूजा प्रथम-सदी के बाद घटती गई, जब कि अन्य दो देवो, विष्णु और शिव, के मानने वालो मे निरन्तर वृद्धि होती गई।

(शिल्प-१२वीं सदी)

(पृ० १९)

PHOTOS . SHYAM AGRAWAL

विष्णु के दस अवतारो मे से पाँचवा -वामन अवतार। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, यही से मनुष्य का स्वरूप प्रारम हो रहा है-छोटे प्रमाण मे।

(शिल्प : १२वी सदी)

(पृ० १९)

PHOTO & COURTESY SHYAM AGRAWAL

शंकु-यंत्र (वेधशाला, उज्जयिनी)
SHANKU–YANTRA (Observatory, Ujjain)
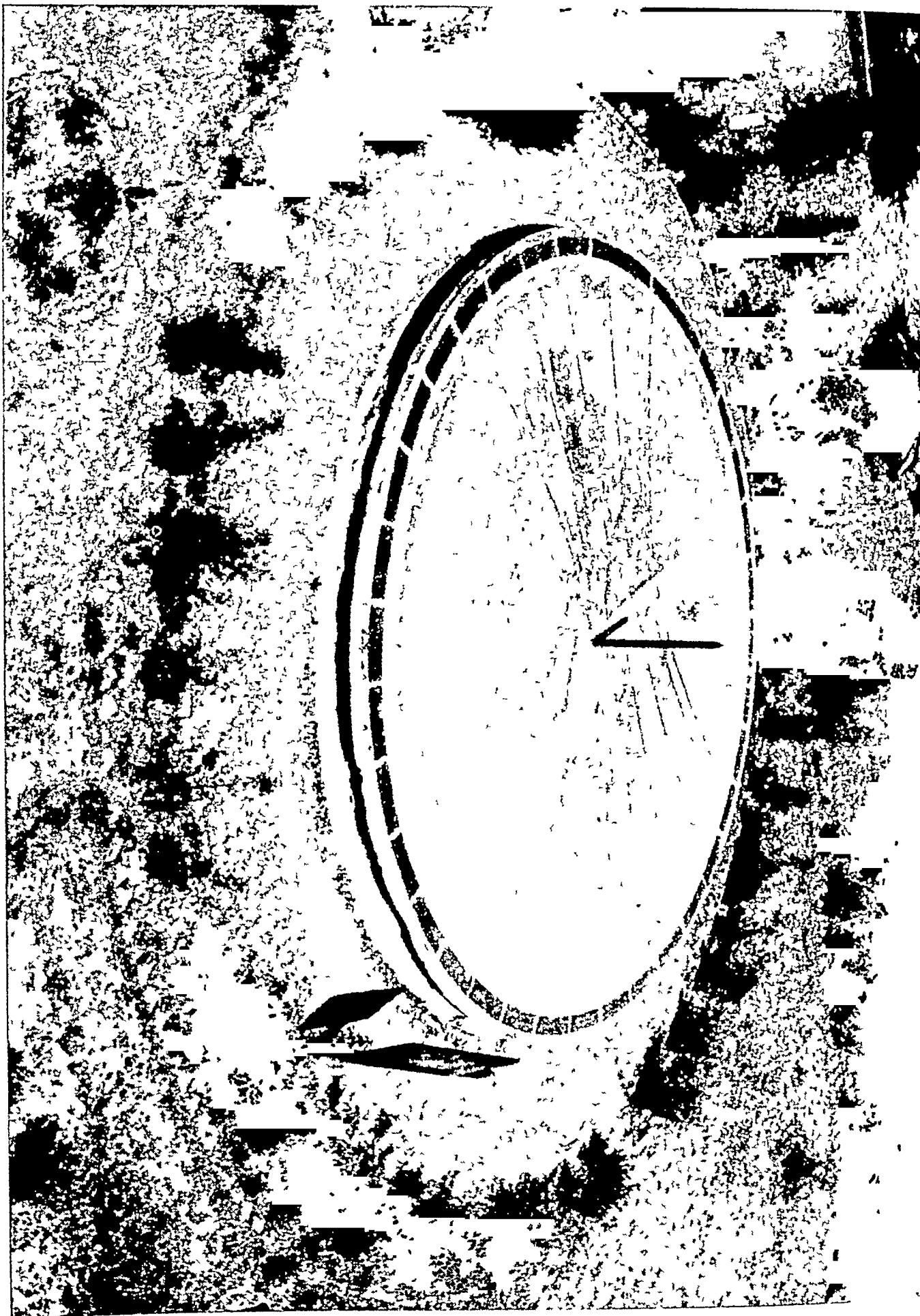
इतिहास में विक्रम

—प्रो शरद पगारे

विक्रम भारतीय इतिहास का आदर्श परन्तु विवादास्पद व्यक्तित्व है। वह शौर्य, साहस और कला-साहित्य का मर्मज्ञ था। महाकाव्य कालीन नायकों के समान उसने भी इतिहास-साहित्य मे ख्याति अर्जित की। इतिहास मे होते हुए भी उसकी ऐतिहासिकता शका से परे नहीं है। उसकी कीर्ति समय और देश की सीमाओ को लाघ गई है। उसने कल्पना को ओज दिया, और वह मुस्लिम तवारीख पर भी छा गया। विक्रम भारतीय इतिहास का प्रेरणा-बिन्दु बन बैठा और उसके आस-पास अनेक रोमाचक कथाए गूथ दी गई। सस्कृत साहित्य की 'बेताल पच्चीसी 'द्वाविशत पुत्तलिका' 'कथा सरित्सागर' और वृहत्कथा मजरी' से लेकर आधुनिक 'चन्दा मामा' मे प्रति माह प्रकाशित होने वाली 'विक्रम और वैताल' की कहानिया इसकी कडी हैं। विक्रम ने बौद्ध, जैन, संस्कृत, यहा तक कि अरबी-फारसी साहित्य को भी अनुप्राणित किया।

विक्रम इतिहास का सर्वाधिक सदेहास्पद चरित्र-नायक है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से विक्रम 'प्रताप' और वैभव' का सूचक है। महाकवि कालिदास अपने 'विक्रमोर्वशीय' मे उल्लेख करते हैं, "अनुत्सेक. खलु विक्रमालकार." अर्थात् विनय पराक्रमी का भूषण है। (अक १, श्लोक १६-१७)। एक अन्य स्थान पर कविराज 'दिष्टय् महेन्द्रोपकार पर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवन्' प्रस्तुत करसे हैं। तो क्या विक्रम शौर्य-साहस का पर्यायवाची है? किसी ऐतिहासिक नायक का नही? परन्तु विक्रम के साथ ही हमे इतिहास मे 'सिह विक्रम', 'विक्रमादित्य' 'अजीत विक्रम', 'विक्रमाक', 'साहसाक' आदि विशिष्ट उपाधियों का भी पता चलता है। शायद इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए इतिहासविद् कीलहार्न विक्रम नामक किसी राजा के अस्तित्व को मानने से ही इकार करते हैं। वे 'विक्रम' को मात्र विरुद बतलाते है। उनके मतानुसार विक्रम ऋतु परिवर्तन का सूचक हैं। जिसे मालवो ने प्रचलित किया। (इन्डीयन एन्टीक्विरी, भाग १६–२०)। पर इतिहासकार स्तीनकोनो, डा. के पी. जायसवाल, डा. भडारकर, डा. राजबली पाडे, डा विन्सेन्ट स्मिथ, डा. राधा कुमुद मुकर्जी प्रभृति विद्वान भारतीय इतिहास मे विक्रम के अस्तित्व को स्वीकारते है। उनमे इतनी ही मत-भिन्नता है कि कौन नरेश विक्रम था?

विक्रम की कीर्ति ने कई शासको को प्रभावित किया। ईसा पूर्व की पहली सदी से लेकर सोलहवी सदी तक कई विक्रमादित्य नामधारी राजा हुए। सन १५५६ ई० मे अकबर कालीन सूर सुल्तानो के सेनाध्यक्ष हेमू ने भी महाराज विक्रमादित्य नाम धारण किया था। (मुन्तखब उत-तवारीख, भाग १, पृष्ठ ६५)। दक्षिण भारत भी इससे अछूता न बचा। सातवी-ग्यारहवी सदी में बादामी के चालुक्य वशी नरेश ने भी विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। कलचुरी गागेयदेव भी विक्रमादित्य थे। ग्यारहवी सदी के कल्याणी के चालुक्येश विक्रमादित्य षष्ट ने भी सर्वाधिक प्रसिद्धि पाई। सन १०७६ ई० मे शक सम्वत को खत्म कर उन्होने 'चालुक्य विक्रमकाल' चलाया। विक्रम

भारत तक ही सीमित नही रहा । कनिंघम कनिष्क को ही विक्रम मानते हैं। (जनरल आफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९१३, पृष्ठ ६२७) । अनेक विक्रमो की इस भीड में वास्तविक विक्रम को ढूढना असम्भव नही तो कष्टसाध्य तो है ही । फिर भी इतिहासकारो ने विक्रम-समस्या को सुलझाने का भगीरथ प्रयत्न किया। उन्होने कृत, विक्रम, शक सवतो का मनन, अभिलेखो-पुरातत्व सामग्री, मुद्राशास्त्र आदि का गहन अध्ययन कर कुछ निष्कर्ष दिये । जैन, बौद्ध, सस्कृत के साथ देशी विदेशी सामग्री का भी अवगाहन किया।

इतिहास की विक्रम समस्या मे असहमति के कई स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं। पर सहमति के स्वर भी है। जसे—

१. विक्रम मालवगण से सम्बन्धित था और उज्जयिनी उसकी राजधानी थी।

२ उसने विदेशी शको को हराया।

३ विक्रम सवत उसी की देन है।

४ ईसा पूर्व की पहली सदी और पाचवी सदी के बीच ही विक्रम हुआ।

इतिहासज्ञ डॉ० स्तीन कोनो विक्रम को ईसा पूर्व की पहली सदी (सन् ५६-५७ ई० पूर्व) मे रखते हैं। जैन रचना 'कालकाचाय कथानक' को वे प्रामाणिक ग्रथ मानते है। 'कालकाचार्य कथानक' के अनुसार उज्जयिनी के गर्दभिल्ल राजा ने कारावास के आचार्य कालक की सुन्दरी बहिन साध्वी सरस्वती का बलात् अपहरण किया। कालक ने सिंधु देश के 'साहाणुसाहि नामेण' शक 'राया' की सहायता से गर्दभिल्ल सरस्वती के पुत्र वीर विक्रम ने मालव गण की सहायता से शको को मार भगाया। उसने विक्रम सवत चलाया। (खरोष्ट्री इन्सक्रिप्सन भूमिका डॉ० स्तीन कोनो—पृष्ठ २६)।

'कालकाचार्य कथानक मे निम्न तथ्य है—
'शकाना देश मुच्छेद्य कालेन किय तापिहि।
राज्ञा विक्रमादित्य सार्वभौममों भवत् ॥
...... मेदिनी मनृणा कृत्वा प्रारम्यते सम्वतसर निजम्

(इपी ग्राफिका इ डिका—XIV—पृष्ट २९३-९५)

डा० ए० एस० अल्तेकर और श्री हरिहर निवास द्विवेदी स्तीन कोनो के समर्थक है। (The Vikram-Page 1-19 & 131) सरस्वती-पुत्र विक्रम उज्जयनी का था। शको को परास्त कर उसने 'विक्रम सवत' चलाया पुराणो मे भी गर्दभिल्ल राजाओ का उल्लेख है।

डॉ० के० पी० जायसवाल के मत से गौमतीपुत्र शातकर्णी ही विक्रम था। 'गाथा सप्त शती' उनका आधार है। आध्रवशी गौतमीपुत्र ने सन् १०६-१३ ई० के मध्य शासन किया। शातकर्णी ने शहरातो शक नरेश नहपान को हराया था। अतएव वह शकारि विक्रम था। (J. B. O R S. voll xvi Part ii & iv Page-226-316) पर शातकर्णी ने कभी भी 'विक्रम' विरुद्ध धारण नही किया। दूसरे उज्जयिनी से वह सम्बन्धित न था। जबकि जैन परम्परा विक्रम को स्पष्ट 'मालवराय नामेण विक्रम माइच्चो" 'मेरूतु ग पट्टावलि तथा श्री देवचन्द्र—कालक कथा—३४) मालवा का विक्रम कहते हैं।

अधिकाश इतिहासकार गुप्तवंशी, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को ही वास्तविक विक्रम मानते हैं। डॉ० फर्ग्युसन के विचार से हूणो को हराकर चन्द्र ने 'विक्रम' उपाधि धारण कर 'विक्रम सवत्' चलाया था। (Journal of the Royal Asiatic Societies-1870 Page-81) चन्द्र को 'उज्जयिनी पुरवरार्धाश्वर' भी माना गया है। (Chandra Gupta II Vikramaditya-Dr R K Mukarjee. Vikram vol Page-337) भविष्योत्तर पुराण मे भी गुप्त नरेश चन्द्र को ही विक्रमादित्य कहा गया है:—

'तस्यपुत्रोऽपरश्चन्द्रगुप्ताख्यो वीर केसरी।
यवनाश्च तथा हूणान देशात् विद्रावयन् बलात् ॥
विक्रमादित्यवन्नित्य पडितैः परिसेवित।
श्रुति स्मृति पुराणेतिहास काव्य विचक्षणः।
विक्रमादित्य इत्येव भुवनेषु प्रथागतः ॥

(History of Classical Sanskrit Literature troduction – M Krishnamachari—Page iii–)

बारहवी सदी का मुस्लिम लेखक अबुल हसन भी द्र को 'वरकमारीस' नाम से सम्बोधित करता है। अपने मुजमुल-उत-तवारीख' मे 'वरकमारीस' (विक्रम) 'रव्वाल' राम गुप्त), खूबसूरत शहजादी (ध्रुव स्वामिनी) तथा रव्वाल के पिता के शत्रु (शको) की कथा उसने गूंथी है। इलियट व डाव्सन–हिस्ट्री ऑफ इण्डिया–भाग १ पृष्ठ ११०-१२), वह चन्द्र को ही वरकमारीस मानता है।

गुप्त काल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग था। कालिदास समेत सम्भवत अन्य नवरत्न भी विक्रम की राजसभा की शोभा थे। उसने पूर्वी मालवा और उज्जयिनी से हूणो-शकों को भगाकर 'शकारि', 'सिंह विक्रम' की उपाधियाँ ली थी। गुप्त कालीन मुद्राएँ इसकी साक्षी हैं। अतएव बहुसख्यक इतिहास शास्त्री गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही विक्रम मानते है।

परन्तु श्री वाकणकर अपनी नई शोध के आधार पर उज्जयिनी समेत मालवा को गुप्त राज्य से बाहर मानते हैं। (Tha Vikram Journal, Vol, VIII & IX).

इस प्रकार इतिहास मे विक्रम की समस्या दो विन्दुओ—'गर्दभिल्ल विक्रम (ईसा पूर्व की पहली शताब्दी) और 'चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य' (पाँचवी सदी) तक ही सीमित मानी जा सकती है। इतिहास विक्रम पर अभी भी नई शोध सामग्री की बाट जोह रहा है। पर इसमे सन्देह नही कि विक्रम के व्यक्तित्व ने इतिहास को बड़ा प्रभावित किया। उसका सभी कुछ भारतीय नरेशो के लिए नही वरन् विश्व के शासकों के लिए अनुकरणीय आदर्श बन गया, इसीलिए डा० विन्सेंट स्मिथ को स्वीकार करना पडा, 'इस नरेश के अतिरिक्त भारत कभी भी इतना बढिया सुशासित नही हुआ।' इतिहास मे विक्रम एक जाज्वल्यमान नक्षत्र सिद्ध हुआ है।

दिष्ट्या देशे पुनरपि नवं जीवन स्पन्दमानं।
लुप्तप्रायो निजजनकृतिष्वेवमानोऽभिमानः॥
युक्तं तस्माद्यविकुलगुरो. स्मारणे भव्यमान।
नानारूप प्रभवति समारोहसकीर्तनं न ॥१॥
सौभाग्वान्न. स च विजयतामुज्जयिन्या कवेर्या।
वाण्याश्चेतोहरतभरुचे प्रेयसी भूमिरासीत्॥
धन्या मन्ये कविनुतिपरा भारतीनां वय च ॥२॥

—श्री सी डी देशमुख

विक्रम कीर्ति-कीर्तन

श्री जगन्नाथराय शर्मा एम ए.

जग मे व्याप्त जय-जयकार।
भूप विक्रम ! न्याय, साहस शौर्य के अवतार।

आर्य-कुल गौरव-पताका, मातृभू के लाल।
दानि-भूषण, प्रजावत्सल, प्रणतपाल, कृपाल ॥

देख वर्बर क्रूर-शक-दल से धरा भयभीत—
प्रकट तुमने की समर मे शक्ति नीतातीत ॥

कुचल बर्बर-वाहिनी ली विजय-लक्ष्मी छीन,
हे शकारि ! सुकीर्ति तव हो रही नित्य नवीन ॥

तव सभा-नवरत्न की वह परम उज्वल काति।
पकट कर महिमा हमारी हर रही जग भ्राति ॥

देव ! तव यश-चद्रिका मे मग्न यह ससार।
पर अहो ! हम दीन, हीन, अधीन आज अपार ॥

आज तव स्मृति से जगे वह शक्ति पारावार।
जग उठे हुकार कर, पौरुष बने श्रगार।

बस यही वरदान दीजै, है यही अभिलाष।
उदित विक्रम भानु हो, ले सुख-समृद्धि प्रकाश ॥

कालिदास की जन्म-भूमि

रामसेवक गर्ग

कविता-कामिनी के विलास, कविकुल कुमुद-कलाधर महाकवि कालिदास की परित परिस्पन्दिनी प्रतिभा के कारण उनके ग्रन्थो मे प्राप्त स्थल विशेष के वर्णन को आधार मानकर उनके जन्म-स्थान की भौगोलिक सीमाएं निर्धारित करना एक कठिन कार्य है। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानो ने अलग अलग अपनी मान्यताएं प्रतिस्थापित की हैं। इसके कारण जितनी समस्या कालिदास के काल-निर्धारण की है उससे भी वडी समस्या उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध मे भी खडी हो गई है।

वगाली विद्वानो के अनुसार कालिदास की जन्म-भूमि वगाल थी। उनके अनुसार कालीदेवी की उपासना का प्रमुख केन्द्र बगाल रहा है और 'कालिदास' नाम बगाल मे प्रचलित नामो में से है। कवि स्वय इस आद्यशक्ति काली का भक्त था। उन्ही विद्वानो का दूसरा तर्क मेघदूत के एक श्लोक 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' की विवेचना पर आधारित है। बगाल में सौर मास की गणना का प्रचलन है, जिनमे शुक्ल और कृष्ण पक्षो की द्विविघ भिन्न भिन्न तिथिया नही होती और दिवस गणना एक से इक-तीस तक चलती है। कालिदास ने वगाली होने के कारण ही मेघदूत के उक्त श्लोक मे आषाढ कृष्णपक्ष प्रतिपदा के स्थान पर 'आषाढ महीने के प्रथम दिन' का वर्णन किया है। किन्तु उपरोक्त दोनो तर्क असगत से प्रतीत होते हैं। 'कालिदास' का अर्थ काल (महाकाल) के पुत्र के दास के रूप मे भी हो सकता है [1] और महाकाल उज्जयिनी नगरी के प्रमुख देवता हैं [2]। अतः कवि का जन्मभूमि वगाल के स्थान पर अवन्ती क्यो नही ? जहा तक 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' श्लोक के विवेचन का प्रश्न हैं, उस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। [3] इस प्रकार यह मान्यता

---

१ 'कालस्य अपत्यम् पुमानन् कालि.' व्याख्या करते हुए डॉ० प्र० ना० कवठेकर ने १९७० के कालिदास समारोह के समय पढ़े गए अपने शोध निबध मे यह सिद्ध किया है कि कवि कालिदास काल (शिव) के पुत्र कार्तिकेय के भक्त थे। प्रो० मिराशी का इस मान्यता से मतभेद है।

२ अमरेश्वर मदिर मे उत्कीर्ण 'हलायुध स्तोत्र' से भी इसकी पुष्टि होती है—देखिए—एपि०इण्डि० २५, पृ० १८५ इत्यादि—

'अविमुक्तश्च केदार ओङ्कारश्चामरस्तथा।
पञ्चमं (मस्)तु महाकाल: पञ्चलिङ्गा प्रकीर्तये ॥
इसके अतिरिक्त 'शिवपुराण' ज्ञानसहिता-३८, ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो० जिल्द दस पृष्ठ ४५, वृहत्स्तोत्र-रत्नाकर स्तोत्र ६१ भी उल्लेखनीय हैं।

३ डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी का लेख—'सागरिका' वि० स. २०२४, पृ० १४०-४२.

कि महाकवि कालिदास की जन्मभूमि बगाल है, उचित प्रतीत नही होती।

एक दूसरी मान्यता है कि कालिदास का जन्म विदर्भ मे हुआ था। प्रो० पीटर्सन तथा स्व० प० चन्द्रबली पाण्डेय इस मत के प्रमुख समर्थक हैं। इसके लिए उन्होने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं —

(१) कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' की नायिका विदर्भ देश की राजकुमारी है और रघुवश जैसे महाकाव्य मे विदर्भ राज्यकन्या इन्दुमती के स्वयवर तथा प्रणय का मार्मिक वर्णन किया गया है।

(२) मेघदूत का रामटेक विदर्भ भूमि मे है और कालिदास ने अपनी मनोरम काव्य रचना के लिए वैदर्भी रीति को अपनाया है।

(३) कालिदास ने रघुवश मे (६/१ व १८/२७) उत्तर-कौशल शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् महाकवि दक्षिण कौशल के थे और उत्तर-कौशल लिखकर उन्होने उसकी ही सूचना दी है[१]।

किन्तु उपरोक्त तर्क अधिक तर्कसगत नही हैं। मालविकाग्निमित्र की नायिका यदि विदर्भदेश की राजकुमारी है तो नायक अग्निमित्र मालव या दशार्ण देश का है। इसी प्रकार रामटेक विदर्भ भूमि मे जरूर है, परन्तु जितना सुन्दर वर्णन मेघदूत मे कवि ने मालवा तथा वहा के नगरो का किया है, उतना सुन्दर वर्णन रामटेक आदि का नही कहा जा सकता। जहाँ तक वैदर्भीरीति के अपनाने का प्रश्न है, वह जन्मभूमि के साथ नहीं जोडा जा सकता, क्योकि वह रचना शैली की साहित्यिक विशेषता है। उसे भौगोलिक परिधि मे बाधना उचित नही होगा। जहा तक 'उत्तरकौशल शब्द के प्रयोग की बात है वह कोई दृढ प्रमाण नही हो सकती, क्योकि कवि ने 'नयनन्दितकौशलम्' एव 'प्रोवाचकौशलपति प्रथमापराद्ध' लिखकर केवल 'कौशल' शब्द का भी प्रयोग किया है।

तीसरी मान्यता के अनुसार कालिदास की जन्मभूमि मिथिला होनी चाहिए। सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलपति आदित्यनाथ झा ने मई १९५९ मे इस विषयक अपनी मान्यता लोगो के समक्ष रक्खी थी[२]। उनके अनुसार दरभगा जिले की 'बेनीपट्टी' के अन्तर्गत उच्चैठ (उच्चपीठ) नामक गाव मे नदी के पश्चिम तट पर दुर्गा देवी की एक प्राचीन मूर्ति है। उससे दक्षिण पूर्व मे एक टीला है जिसे कालिदास का विद्यापीठ कहा जाता है। भूअभिलेखो मे उसे 'कलिदास की चौपडी' लिखा गया है। उनके आधार पर झा महोदय का अनुमान है कि कालिदास की जन्मभूमि उसी स्थान के आसपास होनी चाहिए। यह तर्क भी उतना ठोस नही है, क्योकि बाद के कालखण्ड में कई कालिदास हो गए हैं। मालवा मे ही परमार काल मे कवि कालिदास आशाधर धार के समीप नालछा मे रहते थे।

चौथी मान्यता के अनुसार महाकवि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर थी[३]। इस मत के समर्थन मे कई विद्वान है। प्रो० लक्ष्मीधरकल्ला ने लिखा है कि 'कुमार सम्भवम्' मे हिमालय की छटा का सूक्ष्म वर्णन है। मेघदूत की अलका प्रणयलीला केन्द्र गन्धमादन पर्वत, ऋषियो के आश्रम सभी हिमालय मे ही थे और मुख्य रूप से इनकी स्थिति काश्मीर के आसपास ही थी। कालिदास को काश्मीर मे प्रचलित कथाओ का ज्ञान था। वहा के रीति-रिवाजो से वे परिचित थे, यथा इन्दुमती स्वयम्बर मे अज को जयमाला पहिराने का कार्य सुनन्दा द्वारा करवाना काश्मीरी विवाह पद्धति के अनुरूप है। प्रत्यभिज्ञादर्शन से कवि प्रभावित है। वहा का मयग्राम ही यक्षो का निवास था। मिराशी भी इस मयग्राम को स्वीकार करते हैं[४]।

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिए—डा० रमाशकर तिवारी कृत 'महाकवि कालिदास' पृ० १५-१६।

२ वाराणसी से प्रकाशित दैनिक 'आज' मई १२, १९५९ मे इस विषयक जानकारी प्रकाशित की गई है।

३ प्रो० लक्ष्मीधर कल्ला 'द बर्थ प्लेस ऑफ कालिदास।

४ कालिदास—पृ० ६४-६८, परन्तु प्रो० कल्ला के मत का प्रत्याख्यान रोचक है।

विद्वानो ने सुरुचिपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है[१], किन्तु उक्त सारे महत्वपूर्ण तर्कों के उपरान्त भी स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि कालिदास की जन्म-भूमि काश्मीर ही है। कालिदास का भौगोलिक ज्ञान बहुत विशाल था और यह भी सम्भव है कि वह लम्बे समय तक काश्मीर के आसपास रहा हो। कुछ विद्वानो की तो यह भी मान्यता है कि मेहरौली के लौह स्तम्भ लेख मे प्राप्त श्लोक जो महाराज चन्द्र (चन्द्रगुप्त) के सम्बन्ध मे हैं कालिदास, द्वारा लिखे गए होंगे। इस प्रकार उक्त तर्कों के आधार पर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो से जिनमे काश्मीर भी गृहीत है—महाकवि का घनिष्ठ सम्पर्क स्वीकार जरूर किया जा सकता है।

पाचवी मान्यता के अनुसार कालिदास की जन्म-भूमि मालवा है। इनमे भी कुछ मत-मतान्तर हैं। श्री हर-प्रसाद शास्त्री और प्रो० पराजये के अनुसार कालिदास मूलतः विदिशा का निवासी रहा होगा। यह सच है कि मेघदूत मे कवि ने विदिशा और उसके आसपास के छ स्थलो—नीचै गिरि, वननदी, निर्विन्ध्या, सिन्धु, गंधवती एव गम्भीरा नदियो का रोचक वर्णन किया है, परन्तु इतने से ही तो विदिशा को कालिदास की जन्मभूमि नहीं कहा जा सकता। इसे तो कवि का उस प्रदेश (पूर्वी मालवा) का भौगोलिक ज्ञान ही कहना श्रेयष्कर होगा। डा० प्रभाकर नारायण कवठेकर के अनुसार कालिदास कालिसिन्ध नदी के आसपास के निवासी थे[२]।

डॉ० रमाशंकर तिवारी ने महाकवि की जन्मभूमि वाली समस्या मे मध्यम मार्ग को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि 'यदि अलका की वास्तविक स्थिति स्वीकार कर ली जाय और हिमालय-वर्णन मे अभिव्यक्त कवि के भाव को ध्यान में रक्खा जाय तथा यक्ष के प्रणय निवेदन मे उसकी अपनी प्रणय-कातरता की प्रतिध्वनि मान ली जाय तो यह अनुमान किया जा सकता है कि कवि का जन्म हिमाद्रि के रमणीय अञ्चलो अथवा उसकी प्रकृतिगत सुषमाओ से आकीर्ण उपत्यका मे कही हुआ होगा। काश्मीर साहित्य के सर्जको एव आराधको की प्रसव-भूमि रही है। अतएव यह मानने मे कोई विप्रतिपत्ति नही दिखाई पडती कि कालिदास का जन्म काश्मीर मे हुआ था और यौवन का स्वर्णोपम पूर्वार्ध उसके मनोरम अञ्चलो मे व्यतीत हुआ था। परिस्थितियो की चपेट मे उसे अपनी जन्मभूमि छोडनी पड़ी और सौभाग्य से उसे उज्जयिनी की परिषद का वैभवपूर्ण वातावरण प्राप्त हो गया जहाँ से उसने अपने ललित वाङ्मय का आलोक विच्छुरित किया। अतएव, यह माना जा सकता है कि काश्मीर कवि की जन्म-भूमि तथा मालवा उसकी कर्म भूमि रहे हैं।'[३]

वस्तुत कालिदास किसी महत्त्वशून्य युग के असावधान गायक नही हैं। वे मनःस्थिति के प्रतिनिधि व्याख्याता भी है। मालवा के प्रति उन्हे विशेष अनुराग है। वे यहाँ के वैभवशाली नगरो, उदयन-वासवदत्ता की कहानियो, मन्दिरो एव वहाँ पर होने वाली सन्ध्याकालीन आरती तथा वेश्या नृत्य आदि से सुपरिचित हैं। जन्मभूमि को स्वर्ग से भी महान मानने वाले भारतीयो के कवि कालिदास ने यदि अपने जन्म स्थान उज्जयिनी को स्वर्ग का एक खण्ड कहा तो आश्चर्य नही, बल्कि स्वाभाविक है। वे लिखते हैं कि—

'स्वल्पीभूते सुचरित फले स्वर्गिणा गां गतानां,
शेषै. पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥'

उज्जयिनी वर्णन मे नगर के सौन्दर्य एव सौभाग्य पर महाकवि इतने विभोर हैं कि वे उसे स्वर्ग का एक कान्तिमान टुकडा समझते हैं, जिसे स्वर्ग मे पुण्यो का फल भोगने वाले पुण्यात्मा लोग, पुण्य समाप्ति के पहिले ही, शेष

---

१ प० सूर्यनारायणजी व्यास कृत 'विश्वकवि कालिदास—एक अध्ययन' इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण सदर्भ ग्रन्थ है।

२ द विक्रम (वि० स० २०२३)—कालिदास विशेषाङ्क—पृ०—५५-६१। डा० कवठेकर के अनुसार कालिदास की बाललीला स्थली सारगपुर के आसपास होनी चाहिए, क्योंकि उस स्थान के पास 'महिसा कलाली' देवी का मन्दिर है, जिसका प्राचीन नाम 'महिषवाहिनी काली' रहा होगा।

३ महाकवि कालिदास पृ० २२-२३

रहे पुण्य के बदले मे अपने साथ धरती पर उतार लाये हैं। कवि सम्भवतः अपनी जन्मभूमि के वर्णन की अभिलाषा को रोक न सकने के कारण ही मेघ को निर्देश देता है कि—

'वक्र पन्था यदपि भवत. प्रस्थितस्गोत्तराशा
सौधोत्सङ्ग प्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरित चकितैस्तत्र पौराङ्गनानां,
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥'

प्रो० मिराशी के अनुसार कालिदास उज्जयिनी वर्णन मे 'नखशिख तक तल्लीन' हैं। स्पष्टतः इसका कोई मुख्य कारण होगा। महाकाल की पत्नी का नाम काली या कालिका है।[१] उज्जयिनी की मुद्राओ पर कल्याण सुन्दर के साथ माहेश्वरी की मूर्ति का भी अकन मिलता है। साथ ही महाकाल वन मे भी माहेश्वरी देवी का उल्लेख है। इस पृष्ठ भूमि पर उज्जयिनी वर्णन मे कालिदास का यह वाक्य कि 'नृत्तारम्भे हरपशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छा, शान्तोद्वेगस्तिमितनयन दृष्ट भक्तिर्भवान्या' सार्थक हो जाता है और यह सिद्ध करता है कि उक्त श्लोक मे बिल्कुल सत्य स्थिति का चित्रण किया गया है। तात्पर्य यह है कि उज्जयिनी वर्णन में यथार्थ का अश अधिक है।

उज्जयिनी वर्णन मे कवि लौकिक अनुभूति करता है। यहाँ के योद्धाओ तथा अश्वो का वर्णन अत्यन्त रोचक है। चण्डप्रद्योत के समय से यहाँ (उज्जयिनी) के सैनिकों की ख्याति थी। उज्जैन उत्खनन मे प्राप्त प्राचीन कंकाल सुदृढ शरीर वाले उज्जयिनी निवासियो के अवशेष हैं।[२] ऐसे वर्णन यह सिद्ध करते हैं कि कालिदास इस नगरी की प्रत्येक वस्तु, कार्यकलाप तथा स्थान से सुपरिचित ही नहीं, सम्बद्ध भी थे। यह बात तर्क सगत हो सकती है कि कालिदास ने जिस मालव-भूमि का वर्णन किया है, जिसके नगरो से उसको ममता है और जहाँ की अधिकाश बातो को वह भली-भाँति जानता है, वह भूमि उसकी जन्म-भूमि ही हो।

---

१ 'काल' काल्या सह बहुकल क्रीडति प्राणिसोरे.' कभी-कभी पुराणो में महाकाल को महेश्वर एव कालिका को माहेश्वरी भी कहा गया है। दण्डी के दश-कुमार चरित में भी ऐसा ही उल्लेख है—'....महाकाल निवासिन काली विलासिन महेश्वर समाराध्य।'

२ देखिये—स०का० दीक्षित कृत—'उज्जयिनी इतिहास तथा पुरातत्व'—पृ० ७८-८०

पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।
गुणो से ही सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है।

—रघुवंश

मनोरथानामगतिर्न विद्यते।
इच्छाओ का अन्त नही।

—कुमारसंभवं

कालियादह महल
KALIYA-DAHA PALACE

PHOTO & COURTESY SHYAM AGRAWAL

विक्रम कीर्ति मंदिर,
आधार शिला ८ मई १९५२, द्वारा
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राष्ट्रपति

PHOTO & COURTESY SHYAM A

मालव प्रदेश का प्रागैतिहास

—वि. श्री. वाकणकर

मालव प्रदेश आदि काल से परमार काल तक के वैविध्यपूर्ण अवशेषो से भरा पडा है तथा इनमें से अधिकाश अवशेष अनभ्यासित एव अप्रकाशित हैं। अभी तक केवल नावडाटोडी–महेश्वर[1], कसरावद[2], मनोटी[3], आवरा[4], इन्द्रगड[5], उज्जैन[6], नागदा[7], कायथा विलावली[8], एव विदिशा[10] में ही उत्खनन हुआ है और इनके कारण अपने गौरवशाली अतीत का चित्र अब कुछ अधिक स्पष्ट हो रहा है। अत उनका सक्षिप्त सिंहावलोकन कर मालव प्रदेश के इतिहास पूर्व जीवन का चित्र आकना आवश्यक हो गया है, उसीका इन पृष्ठों मे विवेचन किया है।

मालवा का यह भू प्रदेश विध्य शैली के अग्निजन्य ट्रैप या बासाल्ट प्रस्तर का बना है, किन्तु उत्तर में जावद से रामपुरा, भानपुरा, कोटा, झालावाड होते हुए नरसिंहगढ-भोपाल बरखेडा होते हुए बुदनी, होशगाबाद तक सिकताश्म (Sandstone) की पहाडिया बनी हैं। पृथ्वी पर जीब सृष्टि के प्रारभिक विकास के समय इनका प्रस्तर बना है और उसे विध्य शैली का माना गया है। ये चट्टानें ट्रैप चट्टानो से पुरानी है, क्योकि इसमे एक कोषात्मक जीवों के अवशेष रामपुरा तथा मोडी के निकट मिले है, जब कि ट्रैप चट्टानो के मध्य गूजरी के आसपास, सीप शखादि प्राणियो के अश्मीभूत अवशेष मिले है[11] इनका काल करीब १६ करोड वर्ष पूर्व का माना गया है।

इस युग के पश्चात जब ये चट्टानें ऊपर उठी तब से आज तक इस प्रदेश मे कोई विशेष भूस्तरीय परिवर्तन नहीं हुए। हिमालय अवश्य ऊपर उठा। जलवायु जागतिक स्तर पर जो परिवर्तन आये, उनका परिणाम अवश्य ही यहा हुआ। टर्शरी या तृतीय युग मे यहा पर्याप्त नमी व गरमी रही, जिसके परिणाम स्वरूप सिकताश्म प्रदेशो में लोहित मृत्तिका बनी तथा ट्रैप प्रदेश मे काली मिट्टी। मानव जाति का आविर्भाव जब इस प्रदेश मे हुआ, तब पर्याप्त ऊष्म एव कम नमी का काल था। लोहित मृत्तिका का विकरण तथा नदी नालो द्वारा वहन एव पुनस्थापना प्रारम्भ हो गया था, ऐसे स्थापित सचयो मे मानव निर्मित पुरा पूर्वाश्म युग के प्रस्तर उपकरण भोपाल सभाग मे विदिशा, रायसेन, खरवई, भोपाल आदि स्थानो पर मिले है[12]। इस अश्म युग का सक्षिप्त विवेचन आगे किया गया हैं। मानव जीवन की इस अवस्था मे वह बन्य रहा तथा इसका बहुत मार्मिक विवेचन पुराणो मे किया गया है।

महाभारत मे उस वन्य जीवन के राजनैतिक व सामाजिक अवस्था का वर्णन निम्नानुसार हैं:—

> नैव राज्य न राजासीन्नदण्डो न च दाण्डिकः
> धर्मेणैव प्रजा. सर्वे रक्षन्तिस्म परस्पर[13]

न राज्य था, न राजा, न दण्ड करने वाला था, न दण्ड देने वाला (मानव)। धर्मानुसार समस्त प्रजा परस्पर सरक्षण करती थी, किन्तु आगे चल कर पद्म पुराण मे भी इस युग का जितना स्पष्ट चित्रण किया है, सभव है इतना योग्य चित्रण इतने प्राचीन समय मे अन्यत्र नही पाया गया है, वह इस प्रकार है :- –

पूर्व मनोश्चाक्षुषस्य प्राप्ते चै व'न्तरे तथा,
जाते पूर्व विसर्गेच विषमेच धरातले।

ग्रामणाच पुराणांच पतनानां तथैवच,
देशाना क्षेत्र पन्नाना मर्यादा नहि दृश्यते ।।

कृषिर्नैव न वाणिज्य न गोरक्षा प्रवर्तते,
नानृत भाषते कश्चिन्न लोभो न च मत्सर ।

क्वचिद् भूमौ गिरौनाग्नि नदी तीरेषु वै तदा,
कुंजेषु सर्व तीर्थेषु सागरस्य तटेषुच ।।

निवास चक्रिरे सर्वा· प्रजा. पुण्येन वै तदा
तासामाहार सजात फल पुष्प तथा मधु ।।[14]

चाक्षुप मन्वन्तर के आगमन के कई समय पूर्व पृथ्वी का जन्म हुआ था तथा उस समय वह असमतल थी । उस समय ग्राम, पुर पतन, देश, क्षेत्रादि की मर्यादाए नही थी। न कृषि, न व्यापार, न पशु पालन ही प्रारभ हुआ था । न असत्य वचन कोई कहता था, न लोभ, न मत्सर था । मैदान, पवत, जल कुण्ड, नदी तट, सागर वृक्ष राज्यो के मध्यतथा, जहा से नदियां तैर कर पार किया जा सकता था, ऐसे ही स्थान पर लोग रहते थे । तथा लोगो का आहार था फल, फूल तथा मधु। ऐसा वैज्ञानिक विवरण हमारे पूर्वजो ने चित्रित किया था। अब इस युग के चित्र को और अधिक स्पष्टतया विचार किया जावे ।

शिवना, चम्बल, गभीर, शिप्रा, छोटी काली सिंध (गर्गरा), बडी कालीसिंध, चीलर, नेवज (निर्विध्या), पार्वती सिंधु, बेतवा (बेत्रवती) तथा नर्मदा से सिंचित भारत के मध्य स्थित यह उर्वरा शस्यश्यामल। भू-भाग अवन्ती अथवा मालव प्रदेश के नाम से विख्यात है। ऐतिहासिक युग मे इत चम्बल उत बेतवा से इसके भू-प्रदश विस्तार की व्याख्या की गई है । मालव प्रदेश के भी भौगोलिक दृष्टया चार भाग किये गये हैं । विदिशा का भाग दशार्ण कहलाता था,[15] मदसौर का भाग अवरक अपरक [16] या आव्र वन्ती कहला था, [17] उज्जयिनी के आसपास का भाग अवन्ति [18] एव नर्मदा उपत्यका का भूभाग अनूप अथवा निमाड कहलाता था [19] ।

पुरा पुवश्मि युग

(५ लाख से ३ लाख वर्ष पूर्व)

मानव अस्तित्व का इतिहास इस प्रदेश मे करीब ५ लाख से ३ लाख वर्ष पूर्व का है। इस युग मे मानव पूर्ण वन्यावस्था मे था तथा मानव उत्क्राति की प्रारभिक दिशा मे ही आद्यमानव के रूप मे था। वह नदी तट के प्राकृतिक गोल पत्थरो को तोडकर पेनी धार वाले उपकरण बनालेता था। इन्ही उपकरणो को गोलाश्म उपकरण कहा गया है। इन गोलाश्मो को बनाते समय निकलने वाली अश्म फलको को भी वह उपकरण के रूप में काम मे लाता था। गोलाश्म उपकरण (Pabble Tools) जिन्हे पुरा विज्ञान मे सोहन शैली के उपकरण माना गया है, पजाब की एक नदी के तट पर एसे उपकरण प्रथमतः मिले हैं । इस युग मे मानव विकास उन सोपानो पर चढ रहा था, जहां वह सामान्य पशु श्रेणी से उठकर प्राज्ञ मानव बनने की ओर अग्रसर हो रहा था। उसके वन्य आखेटक जीवन मे उसे मालवा के सघन वनो मे, हाथी, गेंडा, असिंदत व्याघ्र, वन वृषभ, वन महीष, वनशूकरो से सघर्ष लेना पडता था। अपने अत्यत अविकसित अश्मोपकरणो से उसने इस सघर्ष मे विजय पाई। यह काल सामान्यतः पर्याप्त अद्रोष्ण था, अतः उसे वर्षा का प्रकोप सहना पडा होगा । अपने बचाव के हेतु वह क्या करता रहा होगा यह आज भी अज्ञात है, किन्तु भोज्य पदार्थो के हेतु वह वन्य फलो को तथा प्राणियो का मास खाता रहा होगा। इस युग मे अधिकतया कर्तक, अघातक (Choppers) ही उपलब्ध होते है। क्वचिद् कही सकलोपकरण (Flaketool) मिलता है, जो क्लोक्टोनीय शैली से बना रहता है। इस शैली के उपकरण निमाड मे बडवाह, मोरटक्का, रामगढ, बडदा तथा मालवा मे जावद, नीमच, मनासा, रामपुरा, नलखेडा, आमला, उज्जैन व इन्दौर मे मिले हैं। ऐसे उपकरण पजाब मे सोहन नदी की उपत्यका मे येल-केम्ब्रिज शोध प्रतिष्ठान को मिले हैं तथा मालवा मे लेखक को मिले हैं। [21]

पुरा पूर्वाश्म युग

(३ लाख से ४० हजार वर्ष पूर्व)

मानव विकास का द्वितीय अध्याय विकसित अश्मोपकरणो से होता है। गोलाश्म व शकलाश्म उपकरणो के निर्माण मे पर्याप्त विकास हो गया तथा अब अश्यूलीय शैली का विकास हुआ। उपकरणो के आकार स्पष्ट विकास व कार्यपरता के द्योतक बन जाते है, उपकरणो में पर्शु या आघातक, (Cleaver) उत्खादक (Handaxe) छेदक (Borer) घर्षक (Scraper) उपकरण मिलते हैं। मानव विकास का यह स्पष्ट द्योतक है कि अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के हेतु बहुउपयोगी बहुआकारित उपकरणो का विकास मानव ने शोधित किया था।

उत्तर पूर्वाश्म युग

(४० हजार से १० हजार वर्ष पूर्व)

मानव विकास का तृतीय अध्याय एकदम नवीन शैली के उपकरणो से ज्ञात होता है। ये उपकरण भारी पत्थरो के न होते हुए आकार मे भी छोटे होते थे, सिकताश्म (Silicates) के विभिन्न प्रकार यथा जास्पर, चर्ट, फ्लिट आदि इस हेतु काम मे लाए गये उपकरणो के आकार भी पर्याप्त विकसित हो गये। भल्लक (Cance point) छेदक (Borer) विविध प्रकार के घर्षक (Scraper) फलक (Arrow heads) आदि उपकरण मिलते है, अत द्रुतगामी अस्त्रो का प्रयोग मानव ने आविष्कृत कर लिया था। सम्भवत इसी समय उसने धनुष्यबाण का प्रयोग सरक्षण, आखेट व आक्रमण के हेतु करना प्रारम्भ कर दिया था।[22] ऐसे उपकरण प्रथमत प्रोटो मायक्रोल्थिथिक, ऊपर पेलिओलिथिक या सेरीज टू के नाम से जाने जाते रहे। मानव इस समय पूर्ण सज्ञान हो गया था तथा उसे प्राज्ञ मानव (Homo Sepien) कहा जाने लगा।[23]

इसी मानव ने सम्भवत घास फूस की झोपडियो का आविष्कार कर पहाडियों के ऊपरी छोर पर ऋतु मानानुसार अपने तात्कालिक शिविर लगाये। मैदानो मे आखेट करना अथवा वन्य धान्य बीजों को इकत्र करना प्रारम्भ किया होगा। नरवल, भोपाल, रायसेन, साची, विदिशा, नरसिंहपुर-कोटरा, मोडी कवला, गांधीसागर, भानपुरा-रामपुरा, ताखाजी, दर्रा, कोटा आदि स्थानो पर इसी मानव ने शैलाश्रयो मे स्थाई निवास भी प्रारम्भ किया।[24]

मध्याश्म युग

(१० हजार से ४ हजार वर्ष पूर्व)

मानव उत्क्राति का चतुर्थ चरण पुनश्च उपकरण निर्माण शैली मे क्रातिकारी परिवर्तन के साथ आया। स्फटिक के विभिन्न प्रकार इन उपकरणो को बनाने के काम मे आते थे, यद्यपि इस शैली का विकास उत्तर पूर्वाश्म के अन्तिम चरण मे ही हो गया था, पर स्वतन्त्र व पूर्ण विकास मध्याश्म युग मे ही हुआ। इस समय चन्द्राकृति, त्रिकोण, त्रापीझ, सूचिका तथा कोरणी जैसे अत्यन्त लघु अश्मोपकरण बनाये जाने लगे। ये तीर, चाकू, हसिया, करवत आदि बनाने के काम आते रहे। इन्हीं दिनो तात्कालिक धान्य सग्रह एव प्रारम्भिक कृषि का विकास हुआ होगा या मानव ने पशु सवर्धन का आधार ही जीवन यापन का साधन माना। इस युग के लघु अश्मोपकरण मालवा व निमाड की सभी पहाडियो पर मिलते थे। अग्निजन्य पहाडियो पर सभी दूर स्फटिकाश्म के जारचर, चर्ट, चाल्सीडोनी, फ्लिट आदि पत्थर मिलते हैं। मालवा के सभी शैलाश्रयो मे ये उपकरण मिलते है, इसी युग मे शैलाश्रयो का चित्रण भी प्रारम्भ हुआ।[25]

ताम्राश्मयुग

(४१००—३३०० कायथा सभ्यता)

मानव के पूर्ण विकास का स्पष्ट चित्र तो उसके स्थिर, उत्पादक एव ग्राम जीवन से उपलब्ध होता है। मालवा में इन दिनो सभवत उत्तर पूर्व से आई हुई एक नवीन सभ्यता का उदय हुआ। इस सभ्यता उन्नायक निम्न सास्कृतिक वैशिष्ट्य से जाने जाते है —

१ ये ग्रामवासी थे २ कृषि इनका प्रमुख आधार था ३ इनके मकान कच्ची ईंटो तथा गारे की दिवालें व फूस के टापरो के बने होते थे (४) हडप्पीय पात्रो के समान

ये महीन मिट्टी के मजबूत पात्र बनाते थे। यद्यपि कुछ हरप्पीय आकार मिलते है, किन्तु चित्रांलकरण पूर्णतया भिन्न है तथा प्राक हड़प्पीय शैली से साम्यता रखता है। ये अलकार हलके सफेद (मटमेले सफेद) पोते पर लाल व काली रेखाओ से अथवा गहरे काले रग पर लाल रग से बनाये जाते थे। ये अधिकतर भौमितिक आकार के हैं। ५ यहा के निवासी ताम्बे या कासे की ढली कुल्हाडिया, जो अन्य ताम्राश्मयुगीन कुल्हाडियो के आकार की है, प्रयोग करते थे। स्फटिक, अकिक एव स्टीएटाईट की मणिमालाए तथा काँसे की चूडिया पहनते थे। (६) इनके बनाये नगर प्राकार व कुछ ऐसे मकान भी मिले है जो कच्ची ईटो के बने हैं। ७ ये स्फटिकाश्म के लघु अश्मायुध बनाते थे। ८. इनकी धार्मिक मान्यताए अज्ञात हैं। ये हड़प्पीयालिपि के समान ही किसी लिपि को जानते थे। ९. चित्रित लाल काले पात्रो वाली आहाड सभ्यता ने इन्हे मालवा से पूर्णतया खदेड दिया था।

इस सभ्यता के अवशेष मालवा मे निम्न स्थानो पर उपलब्ध हुए है। १ मनोटी २. मदसौर ३. सोनगड ४. मीन ५. खाचरौद ६ भिलसुडी ७. कायथा ८. बिलावली ९. इन्दौर १०. नेपावली ११ रूनीजा १२ झारडा १३ गगधार १४. महेश्वर १५. चिखलदा १६. मनावर।

विक्रम विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे १९६५-६६-६७-६८ मे वहा उत्खनन कार्य कराया गया। यद्यपि ऐसे अवशेष पहिले मीन व नेपावली मे मिले थे, फिर भी सभ्यता के रूप में उसका स्पष्ट चित्र कायथा के उत्खनन से ही ज्ञात हो सका, इमलिये इसे कायथा सभ्यता का नामाभिधान किया। रेडियो कार्बन काल मापन विधि से इसका काल विक्रम पूर्व २१०० से १८५० वर्ष आका गया है।

आहाड सभ्यता

(३८५० से ३५०० वर्ष पूर्व तक)

सामान्यत मालवा के सभी स्थानो पर इसके अवशेष मिले है तथा प्रत्यक्ष आहाड (उदयपुर-राजस्थान) से भी ये स्थान प्राचीन है, किन्तु आहाड मे सर्व प्रथम इसका वैधानिक उत्खनन द्वारा अभ्यास हुआ, अत: इसे अहाड सभ्यता कहते हैं। इसके निम्न वैशिष्ठ्य है—

१ मनोटी मे यह सभ्यता कायथा सभ्यता के साथ पाई गई है, अन्यथा यह उसके बाद ही अन्यत्र स्थानो पर पाई गई है।

२. घुटे हुए एव सफेद रग से चित्रित लाल काले तथा भूरे (धब्बेदार) तथा घुटेलाल पात्र यह इनकी विशेषता थी।

३, वृषभ व वृषभाकार पूजा का बाहुल्य था।

४. कृषि जीवन का प्रमुख आधार था। चावल की खेती भी मालवा मे होती थी।

५. हरप्पीय लोगो से सम्बन्ध स्थापित थे।

६. ताम्र व लघु अश्मोपकरणो का प्रयोग चलता था।

कायथा, पचोर, आवरा, मनोरी, सजीत, दगवाडा आदि स्थानो पर इनके समय नागरी क्षेत्रो मे पर्याप्त वृद्धि हुई थी। यह सभ्यता मालव ताम्राश्म सभ्यता के अवतरण मे नष्ट नही हुई, अपितु अपना प्रभाव जमाये रही। इसका काल ३८५० वर्ष से ३५०० वर्ष पूर्व तक था।२८

मालव ताम्राश्म सभ्यता

(३५०० से ३३०० वर्ष पूर्व तक)

मालव ताम्राश्म सभ्यता का सर्वाधिक प्रमार व प्रभाव मालवा व निमाड मे रहा है, अत इसे मालव सभ्यता कहा है। वास्तव मे इसे मालव ताम्राश्म सभ्यता के स्थान पर 'आवत अश्मक सभ्यता' कहना उपयुक्त होगा, क्यो कि इसके अवशेष अवति (मालवा-निमाड) व महाराष्ट्र के विदर्भ, खानदेश मराठवाडा से मिलते इनाम गाव मे मालवा शैली के पात्र, जोरवे शैली के साथ-साथ, किन्तु अतिम काल मे मिलते हैं, जब कि नावडा-टोड़ी, महेश्वर, पीपलदा, इन्दौर मे जोरवे शैली के पात्र इसके साथ मिले है। इस सभ्यता की विशेषताए निम्न है—[27]

(१) आहाड सभ्यता के पश्चात इसका उदय हुआ हैं ।

(२) इसके उन्नायक बहु आकारित बहु चित्रित पात्र बनाते थे । इनके चित्र लाल पात्रो पर काली रेखाओ से अंकित थे ।

(३) इनके मकान 'ओरे' नुमा रहते थे, केवल मनोटी में इस युग के पक्के ईटो के मकान मिले है ।

(४) ताम्र तथा नवाश्म उपकरणो के साथ लघु अश्मोपकरण भी प्रयोग किये जाते थे ।

(५) कृषि इनका प्रमुख व्यवसाय था । चावल, गेहू, ज्वार, उडद, मूग, कुलथा आदि की खेती होती थी ।

(६) ये वृषभ पूजा व यज्ञ यागादि करते थे ।

(७) उत्तर प्रदेश बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थानआदि दूर-दूर तक इनका व्यापारिक सबध था । अभी तक इस सभ्यता के अवशेष मालवा मे निम्न स्थानो पर मिले हैं.—

(१) चम्बलक्षेत्र—अटलावदा, दगवाडा, भिलसुडी, दुगणी, टकरावदा, नागदा, राजोटा(राजगढ) आवरा, मनोटी सजीत, जालोद, नावदा, नेपावली, माचकरा, कानवन ।

(२) शिवनाक्षेत्र—मदसौर,

(३) रेतमक्षेत्र—शारडा, पसेवा

(४) मलेणीक्षेत्र—मीण ,उचहेडा, वडागाव, थडोदा खाचरोद, रूनीजा

(५) चामलक्षेत्र—खडानारायण, अमलावदा कला

(६) गभीरक्षेत्र—बन्यारखेडी

(७) शिप्राक्षेत्र—महीदपुर, सिपावरा, लोहागल, इन्दौर

(८) चीलरक्षेत्र—सोयत, सुसनेर, वडागाव

(९) छोटी काली सिंध क्षेत्र—नरसली, फूटीपाल, कायथा, गगधार

(१०) नेवजक्षेत्र—पचोर

(११) पार्वती क्षेत्र—आष्टा

(१२) नर्मदा क्षेत्र—चिकलदा, खेड़ी, वडदा, एकलवारा, मनावर, पिपलदा, महेश्वर, नावडा टोडी

(१४) वेत्रवती क्षत्र—शहद कराड, खरवई, विदिशा

(१५) बीना—एरण

इस सभ्यता का मालवा क्षेत्र मे यह विशाल विस्तार ही इसके मालव ताम्राश्म सभ्यता के नामाभिधान का कारण हुआ । १९५१ तक लेखक ने ऐसे २३ स्थानो का पता लगाया था । १९६४ तक यह सख्या ६० तक[३०] पहूँच गई । श्री तिवारी[३१] तथा श्री शिवनारायण यादव ने इसमे नये स्थानो का योग दिया है ।[३२]

इस सभ्यता के अवशेषो का महेश्वर व नावडा टोडी मे सर्व प्रथम उत्खनन हुआ । नावडाटोडी मे यही एक मात्र सभ्यता मिली, जब कि महेश्बर मे कायथा व मालवा सभ्यता के अवशेष मिले[३३] । नागदा के उत्खनन मे मालव सभ्यता ही उपलब्ध हुई । मनोटी मे कायथा, आहाड व मालव सभ्यता के अवशेष मिले । जब कि आवरा मे,केवल आहाड व मालव सभ्यता ही उपलब्ध हुई । कायथा उत्खनन ने इस युग का स्पष्ट चित्र प्रतिप्रादित किया । वहाँ स्पष्टतया कायथा, आहाड व मालवा के तीन विभिन्न सभ्यता मूलक बस्तियो के स्तर मिले हैं ।

इस सभ्यता का मूल किसी न किसी प्रकार से कायथा सभ्यता से निहित है । पात्रो पर बने चित्र सुदूर पश्चिम के मूरत, दियाला, टेपेगियान तथा अन्य पार्श्व असुर सभ्यता के चित्रित पात्रो पर अकित पशुओ से मिलते है । पर दूसरी ओर ये पात्र चित्रण, शैलाश्रयीन चित्रो से भी साम्य रखता है तथा हरप्पा की सिमेटरी एच के चित्रण

के समान भी है। अतः इसके सांस्कृतिक सबध की व्यापकता ध्यान मे आती है।

पौराणिक आधार पर इन तीनो सभ्यताओ के पूर्व हैहय भार्गव एव उत्तर हैहय सभ्यता से स्थापित करने का प्रयास लेखक ने कायथा उत्खनन पुस्तक मे किया है[3]। किन्तु धीरे-धीरे अब यह अधिक स्पष्ट हो रहा है। भारतीय ताम्राश्म युगीन सभ्यताए वैदिक मान्यताओं को प्रश्रय देती थी, इसके अब कई प्रमाण मिल रहे हैं। यह यागादि की वेदिकाए', शताछिद्रकुभीया अश्व अवशेषादि इसके स्पष्ट प्रमाण है, किन्तु अधिक अधिक वाणी से कहने के हेतु हड़प्पीय लिपिका बोध आवश्यक है और जिस द्रुत गति से इसकी ओर विद्वानो का कार्य लक्षित है, उसमें शीघ्र ही उसके बोध की सम्भावना है।

मालवा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पजाब मे इन सभ्यताओ का स्थान लोह प्रयोगी सभ्यता ने लिया है। उसका अर्थ यह मानना गलत होगा कि कोई नवीन जातियां यहा प्रविष्ट हुई, बल्कि लोह की सर्वाङ्गीण उपादेयता ने ही सभ्यता का स्वरूप बदला। भगवान महावीर व बुद्ध ने जिस नवीन सामाजिक क्रांति को साकार किया, वह इन बदलते जीवन मूल्यो का परिणाम था। मालवा ताम्राश्म सभ्यता का अन्तिम रूप वि० पू० १२०० वर्ष माना गया है, जबकि एरण मे ७००[36] तथा महाराष्ट्र में भी ७०० ही माना गया है[36]। मालवा मे इन्ही दिनो उत्तर प्रदेशीय मे बहुलता से प्राप्त होने वाले चित्रित धूसरपात्र भी मिलने लगे, ऐसे पात्र उज्जयिनी के गढ कालिका, सादीपनी आश्रम से पर्याप्त मात्रा मे मिले हैं। महाभारत के समय उज्जयिनी विशाल नगर नही था, अपितु आश्रम बतत्रस्थ निकट सामान्य नगर रहा होगा। चित्रित धूसर पात्र इन्ही प्राचीन क्षेत्रो मे मिलते हैं। इनके कुछ समय बाद चित्रित धूसर पात्रो का स्थान अचित्रित पात्रो ने व राजित काले पात्रो ने लिया है। यह काल प्रद्योत के मगध से इस ओर आने का है। चण्डप्रद्योत का यह काल रहा होगा। कायथा में चित्रित धूसर पात्रो का काल विक्रम पूर्व ४०० वर्ष का है ऐसे पात्र, विदिशा, एरण उज्जयिनी से मिले हैं[37]। यह हैं सक्षिप्त वर्णन उन सभ्यताओ का जिनका लिखित इतिहास हमे नही मिलता। मिलता है केवल पौराणिक वर्णन अथवा उत्पादित वस्तु प्रमाण, किन्तु दोनो के समन्वय के हेतु अधिकृत प्रमाण अभी तक नहीं मिले है, अतः बाह्य प्रमाणो से उनका अभिज्ञान करना पड़ता है।

संदर्भ संग्रह

१. साकलिया, सुब्बाराव-देव—महेश्वर नावडाटोडी उत्खनन।

२. दिक्सकवकर—इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली मार्च १९४९।

वाकणकर—अहिल्या स्मारिका १९७१

३ मे ५ त्रिवेदी—वाकणकर इण्डियन आर्कियालाजी ए रिव्हयू १९५९-६०

६ मे ७ बनर्जी एन. आर ई. आ ए. रि १९५५-५६ गर्दे एम. पी एन्युअल रिपोर्ट आर्कियालाजी डिपार्टमेंट ग्वालियर १९२३-२४।

८ वाकणकर— पुरातत्व— १९६७ बिगिनिंग आफ इण्डियन सिविलिकेशन, वाकणकर कायथा उत्खनन, विक्रम १९६७

९ से १० खरे विदिशा उत्खनन—इण्डि. आर्कि. ए. रिव्हू

११ वाकणकर—मालवा की चट्टानो मे इतिहास की सतहे।

वाडिया—जियालाजी आफ इण्डिया—डेक्कट्रेपसेक्शन।

१२ वाकणकर—पेन्यूर रेपस्त्र इण्डियेन-आब्जे. एमोद १९६३

१३ करदीकर वि. रा एन्शन्ट इण्डिया १९३६ पृ ३, ४

१४ पद्मपुराण भूमिखण्ड अ २८

१५ महाभारत सभा अ. ३२ 'तान दशार्ण सुजितबाच'

१६ जोशी ज च-वाकणकर, अवलेश्वर इन्स-क्रिप्शन सग्रहालय बुलेटिन ।

१७ वाल्मिकीय रामायण किष्किधा काण्ड—'आव्र-वन्तीम अवन्तीम च'

१८ महा. भा सभा अ ३१ 'विन्दानविन्दावाबन्त्यौ'

१६ सिद्धराज जयसिंह की उज्जयिनी प्रशस्ति 'अनू-पदेश रगस्वामिनो'

२० साकलिया इण्डि आर्कि ए रिव्ह्यू १६५७-५८ सुब्बाराव 'परसनेलिटी आफ इण्डिया'

२१ डी टेरा पेटर्सन

२२–२३ वाकणकर राकशैल्टर्स ऑफ इण्डिया इपेक १६६४

२४ से २५ वाकणकर—पेंत्यूररूपेस्त्र इण्डियेन १६६३

२६ से २७ वाकणकर—कायथा उत्खनन विक्रम १६६७

२८ अग्रवाल आर. सी आहाड उत्खनन इण्डि. आर्कि. रिव्ह्यू १६६५-६६

२६ से ३३ वाकणकर मालव का पुरातत्व—'वीणा' कमला शकर अभिनन्दन ग्रन्थ ।

३० से ३१ वि कु. तिवारी—लोहागल के ताम्राश्मयुगीन अवशेष 'नई दुनिया' ७१

३२ यादव—इन्दौर के ताम्राश्मयुगीन अवशेष

३४ वाकणकर—कायथा उत्खनन विक्रम १६६७

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।

काम हो जाने पर क्लेश क्लेश नही ज्ञात होता ।

—कुमारसंभव

प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य ।

प्रभु की प्रसन्नता किसको प्रसन्न नही करती ?

—कुमारसभव

ऋतु संहारम्

महाकवि कालिदास

ग्रीष्म-वर्णनम्

मृगाः प्रचण्डातपतापिता भृशं,
तृषा महत्या परिशुष्कतालवः ।
वनान्तरे तोयमिति प्रधाविता,
निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसन्निभं नभः ॥

भावार्थ—जलते हुए सूर्य की किरणों से झुलसे हुए जिन जंगली पशुओं की जीभ प्यास से बहुत सूख गई है, वे धोखे से उन जंगलों की ओर दौड़े जा रहे हैं, और अंजन के समान नीले आकाश को ही वे पानी समझ बैठे हैं।

वसन्त वर्णनम्

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं,
स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः ।
सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः,
सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ।

भावार्थ—देखो ! वसन्त के आते ही सब वृक्ष फूलों से लद गये हैं, जल में कमल खिल गये हैं, स्त्रियां मदोन्मत हो गई हैं, वायु में सुगन्ध आने लगी है, सांझें सुहावनी हो गई हैं और दिन लुभावने हो गये हैं। सचमुच सुन्दर वसन्त में सब कुछ सुहावना लगने ही लगता है।

'परमार युगीन उज्जयिनी का मूर्तिशिल्प'

—श्रीमती मायारानी आर्य

पूर्वमध्य युगीन मालवा के सास्कृतिक उत्थान मे परमार शासको का विशेष योगदान रहा है । सम्पूर्ण मालवा मे परमारो के विभिन्न कला केन्द्रो पर प्रभूत मात्रा में मूर्तियां मिलती हैं, जिनमे से अधिकाशतः अज्ञात व अप्रकाशित हैं। मेरे सर्वेक्षण क्षेत्र में कुछ ऐसे स्थान हैं जिनमे अधिकतर परमार कालीन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इसके साथ ही वे मूर्तिकला का एक अद्भुत नमूना पेश करती हैं। ये सर्वेक्षण क्षेत्र हैं—धार, बेटमा, ऊन, धरमपुरी, देपालपुर, गधावल, बदनावर, राजपुर, नालछा, माडव एव उज्जैन । यहां शैव, वैष्णव व जैन देवी देवताओ की प्रतिमायें मिलती हैं ।

परमार मूर्तिकला पर पुरातात्विक एव साहित्यिक श्रोतो के अतिरिक्त अभिलेख, मुद्रा एव प्रतिमा शास्त्र के ग्रन्थो से विशेष सहायता मिलती है। परमार काल के धार्मिक उत्साह से मन्दिरो के निर्माण मे मूर्तिकला का अत्यधिक समावेश हुआ है । साहित्यिक प्रमाणो से उज्जयिनी के भवनो व उनमे सुसज्जित मूर्तियो का विविध रूपी वर्णन मिलता है। [१] कालिदास ने उज्जयिनी को स्वर्ग का एक कातियुक्त खण्ड कहा है। [२] यहां के महल व अटारियो का वर्णन भी उन्होने किया है। यह नगर स्थापत्य कला से अत्यन्त समृद्ध था।

उज्जयिनी की कुछ मुद्राओ पर मूर्तिकला का उदाहरण देखने को मिलता है। [३] विभिन्न देवताओ की आकृति कमलासना लक्ष्मी, त्रिमुखी शिव, शिव नदी व यक्ष यक्षिणी की प्रतिमायें उज्जयिनी की मुद्राओ पर कलात्मक रूप से अकित की गई है। लक्ष्मी वैभव व सपन्नता का प्रतीक है। दो हाथी लक्ष्मी का अभिषेक करते हुए बताये गए हैं। उज्जयिनी से परमार काल की दण्ड धारण किए हुए एक पुरुषाकृति प्राप्त हुई है, जिसे डॉ० डी. आर. भडारकर ने 'लकुलीश' कहा है। परमार शासक उदयादित्य की स्वर्णमुद्रा पर कमलासना लक्ष्मी का कलात्मक अकन है ।

परमार काल की मूर्तिकला की सबसे बडी विशेषता कला मे आध्यात्मिकता की अभिव्यजना का होना है। यह अवश्य है कि आत्मा की अभिव्यजना को कही-कही पर अश्लीलता ने भी प्रभावित किया है, किन्तु वह केवल एक प्रवाह मात्र है। परमार कालीन प्रतिमायें काले पत्थर की तथा चुनार के रवेदार पत्थर की बनी हुई हैं। परमार कला धर्म से प्रभावित होकर स्थापत्य, मूर्ति व चित्रकला के रूप मे आई।

परमार शासको के समय मालवा मे ब्राह्मण धर्म विस्तृत रूप से प्रसारित हुआ, इसमे देवताओं के मन्दिर निर्माण की ओर अत्यधिक बल दिया गया है। उज्जयिनी की परमार मूर्तिकला मे अभिघट्यता (Plasticity) मुखाकृति मे वर्तुलता एव सुगठितता थी, जो मूर्तियो में स्पष्ट देखी जासकती है। स्त्री प्रतिमाओ मे त्रिवल्ली का लोप होते

---

[१]—मृच्छकटिक, अक ६, कादबरी, १०८, कथा सरित्सागर, ११, ३१ ।

[२]—पूर्वमेघ, ३०-३३ । [३]—दि डेव्हलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ११०-११२

हुए भी क्षीण व लचीली कमर बनाई गई है । स्तनो का आकार स्वाभाविकता से अधिक उन्नत व मांसल बनाया जाने लगा ।

अलकरण व सज्जा की दृष्टि से उज्जैन के यक्ष व विष्णु मस्तक सर्वश्रेष्ठ है । परमार कालीन देवताओ के मुकुट ऊचे रहते थे । ओखलेश्वर की खडी शिव प्रतिमा तथा महाकाल मन्दिर के समीप ओकारेश्वर की शिव पार्वती प्रतिमा परमार काल मे ही बनी ।[1] शरीर रचना का अकन व शैली राष्ट्रकूटो की भाँति है । ओखलेश्वर की खडी शिव प्रतिमा त्रिभगी मुद्रा मे अकित है । सिर पर जटा मुकुट धारण किए है व उसमे भी अलकरण किया गया है । चतुर्हस्ता मूर्ति के दाहिने ओर की प्रथम भुजा मे त्रिशूल धारण किए है । गले मे सर्प माला व हाथ मे रुद्राक्ष पहने है । बाई ओर का दूसरा हाथ आशीर्वाद मुद्रा मे है व शेष खडित है । नीचे दो अनुचर अकित है, शिव के बाघाम्बर मे बारीक कलागत कार्य है । मूर्ति का पुष्ट वक्ष व नाभि का अकन विशेष कलात्मक है ।

उज्जैन मे पशु वराह की मूर्ति महाकाल-सग्रहालय व गढ कालिका मन्दिर मे प्राप्त होती है । वराह के शरीर पर देवता व किन्नर का मूर्त अकन है । नृवराह की मूर्ति ओखलेश्वर पर घाट मे जडी है ।

युग का प्रतिनिधित्व करने वाली उज्जयिनी की शिव-नृत्य प्रतिमा है ।[2] स्टैला क्रैमरिश[3] ने इस प्रतिमा को ग्यारहवी शताब्दी मे निर्मित माना है । शिव प्रतिमा दस भुजा वाली 'ऐन्द्र मुद्रा' मे अकित है । दाहिनी भुजा मे दड धारण है व बाई भुजा अभयमुद्रा मे अकित है । दाहिनी भुजाओ मे त्रिशूल है, जो शिव की त्रिगुणात्मक वृत्ति का प्रतीक है, जिससे सृष्टि का निर्माण हुआ । दूसरा हाथ 'पातकहस्त' मुद्रा मे है जो यह प्रकट करता है कि नृत्य का हाल ही मे प्रारम्भ हुआ है । ऊपर का हाथ डमरू धारण किए है व अन्य मे सर्प पकड़े है । शिव दोनों हाथो मे हस्ति-चर्म धारण किए हैं क्योंकि शिव ने, दानव का वध किया था, इसके विजय-स्वरूप वह चर्म पकडे हुए है । शिव के नृत्यरत चरणो के बीच एक देवता का अकन है, जो शिव की मुद्रा का अनुकरण कर रहा है । इस देवता का मुकुट भी शिव की भाँति जटा मुकुट है । शिव के चरणो मे गति है । यह शिव के ताडव नृतन की अत्यन्त प्राचीन प्रस्तर मूर्ति है ।

इसी अकन की एक मूर्ति जयसिह पुरा स्थित जैन-मूर्ति सग्रहालय मे रखी हुई है ।[4] यह लगभग ३½ फीट ऊची प्रतिमा है । दस हाथो मे से यहाँ केवल ४ ही शेष रह गए है । दाहिने हाथ मे त्रिशूल, डमरू व ऊपर के दाहिने व एक बाये हाथ मे चर्म धारण किए हैं । बाया हाथ अभय-मुद्रा मे है । नीचे दो अनुचर मृदग व बासुरी लिए वाद्य बजा रहे है । शिव के शरीर मे गतिशीलता है । यह प्रतिमा काल भैरव स्थान से प्राप्त हुई थी । लक्षण ग्रन्थो के अनुरूप उमा-महेश हैं ।

नटराज प्रतिमा प्रकृति की लयात्मकता व सपूर्ण भारतीय साहित्य का दर्शन उपस्थित करती है । उज्जयिनी की नटराज प्रतिमा मे ब्रह्माडीय कला की श्रेष्ठतम अभि-व्यक्ति है । यह प्रतिमा मोक्ष के द्वार खोलती है, जिससे सौन्दर्य, चिंतन व आत्मिक बोध मिलता है ।

1—परमार राजा धनिक ने उज्जयिनी के महाकालेश्वर मन्दिर के समीप धानेश्वर मन्दिर निर्मित किया था, जिसमे शिव सप्रदाय की मूर्तियाँ स्थापित की गई थी—देखिए इपिग्राफिया इडिका, भाग २१ पृ० १८ । इसके अतिरिक्त नरवर्मन ने उज्जयिनी मे शिव मन्दिर का जीर्णोद्धार व मूर्ति निर्माण करवाया था । देखिए इपि० इडि०, भाग २१, पृ० ७८ ।

2—एन्यूअल रिपोर्ट ऑफ आर्कियालॉजिकल डिपार्टमेंट आफ ग्वालियर स्टेट, १६३२-३३, पृ० २७

3—स्टैला क्रैमरिश. दि आर्ट आफ इडिया थ्रू दि एजेस, पृ० २०६, प्लेट क्रमाक ११०

4—जैन मूर्ति सग्रहालय का श्री वी एस. वारुणकर एव श्री एस. के. आर्य द्वारा किये गए केटलागिग के अनुसार मूर्ति क्रमाक २८

शैव प्रतिमाओ मे शिव-पार्वती नदी पर आसीन अथवा आवृत्त दर्शाये गए है।[1] लकुलीश रूप में शिव, त्रिशूलधारी शिव, शिव के गण, भैरव, शिवलिंग में शिव का अ कन नदी, कीचक, चामुण्डा, सप्त मातृकाये आदि मिलती है जो उज्जयिनी के शैव धर्म को स्पष्ट करती हैं। डा० मुखर्जी के अनुसार इन परमार मूर्तियो मे प्रकृति, जीवन और विचार सम्बन्धी हिन्दू सिद्धान्त में नटराज गति के शाश्वत सतुलन का प्रतीक है। मृत्यु और जीवन, दु ख-सुख, शान्ति व युद्ध के अविनाशी चक्र का निरीक्षण स्वय शिव नटराज करते हैं, जिनके ताडव नृत्य का एक-एक पद सचालन प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक युग में होने वाली गति और अगति सृजन और सहार के अनन्त क्रम का एक-एक मनका है।[2]

परमार राजा भोज ने तीन ज्योतिलिगो का जीर्णोद्धार करवाया था। शिव मन्दिर के प्रवेश द्वार के दोनो ओर पुरुष व स्त्रियो की आकृतियां खुदवायी। प्रवेश द्वार पर कुबेर की मूर्ति की भी स्थापना की थी। रत्नाकर सागर (ऊडासा तलाव) उज्जैन की कुछ शैव प्रतिमाओ के नीचे महाराजा भोज के समकालीन युग की तिथियाँ अ कित हैं।

उज्जैन से प्राप्त लकुलीश प्रतिमा भी 'ध्यान मुद्रा' मे अ कित है। पद्मासन मे बैठे उर्ध्वलिंगी देवता के हाथ मे दड धारण किये हुए है[3]।

चडिका, दुर्गा, कराली, भैरवी, चामुण्डा, महिषासुर मर्दिनी आदि की अनेक शाक्त व तन्त्र-सप्रदाय की मूर्तिया यहाँ चौसठ योगिनी, वेताल मार्ग, गढ कालिका नगरकोट की माता, चिमन गज मडी, ऊडासा ग्राम मे मिलती है। चामुण्डा रौद्र रूप मे सर्प मेखला गले व हाथ मे रूद्राक्ष पहने, वाघम्बर धारण किये अ कित की गई हैं। चार हाथो में से दो ही शेष हैं, जिनमे मानव का कटा सिर व खप्पर है। देवी के दात निकले हुए है व आखें भयकर हैं[4]। रुद्र, भैरव आदि भी भयकर रूप मे अ कित है।

परमार काल मे कापालिक व पाशुपतो का केन्द्र उज्जयिनी रही है। अत यहां पर लास्यभाव की अन्य मूर्तियो के साथ इन भयानक मूर्तियो का भी अपना कलागत महत्व है। महिषासुर मर्दिनी मे राक्षस के शव पर देवी का[5] रूप अ कित है। परमार अभिलेखो मे उज्जयिनी के शक्तिपीठ होने का वर्णन मिलता है।

परमार काल मे त्रिदेव, चतुर्देव, पचदेव की मूर्तियां निर्मित की गई है। शिव की प्रतिमाओ को भी भिन्न २ नाम दिये गये जैसे—भवानोपति, ओंकारेश्वर, महाकालेश्वर, ककालेश्वर, नीलकठेश्वर, केदारेश्वर और उदयेश्वर आदि। अभिलेखो मे उज्जैन के चडिकाश्रम व यहा की योगेश्वरी का उल्लेख है, जो दुगम साधना के लिये प्रख्यात था। शिव के प्रमुख भक्त ही यहा पर आकर अपनी साधना किया करते थे।

वैष्णव प्रतिमाएं:—

परमार कालीन वैष्णव प्रतिमाओ मे कलात्मक दृष्टि से अनन्तशायी विष्णु की प्रतिमा प्रमुख है[6]। काले पत्थर पर ३६ × २१½" तथा वजन ५½ क्विन्टल वाले प्रस्तर खड पर शेषशायी विष्णु

1—विक्रम विश्वविद्यालय पुरातत्व संग्रहालय की शिव-पार्वती प्रतिमाएं, भारती कला भवन की पार्वती प्रतिमा व रामघाट, गोवर्धन सागर की मूर्तियां

2—डा० राधाकमल मुकर्जी दि कास्मिक आर्ट आफ इडिया, पृ० १२०

3 रामघाट चौसठयोगिनी व महाकालवन से ऐसी लकुलीश प्रतिमाए मिली है।

4 पुरातत्व विभाग की महिषासुर मर्दिनी व भैरूनाला की भैरवी व वाराही प्रतिमाओं मे यह रूप लक्षण ग्रन्थों के अनुसार ही कलात्मक रूप मे अ कित है।

5 इंडियन एण्टीक्वीटी, भाग, ११ पृ २२१

6 उज्जैन चिमगज मडी रामजानकी मंदिर, उज्जैन

का अंकन है । विष्णु सृष्टि के उत्पादक है, शेषनाग पर शयन मुद्रा मे है, सिर पर मुकुट है तथा चार हाथो वाली प्रतिमा के दाये भाग-से सिर थामे हैं, दूसरा हस्त भग्न है, तीसरे मे शख व चौथे में चक्र है । विष्णु के मुकुट मे रत्न व आभूषण का कलात्मक अकन है, कर्णाभूषण का सुन्दर निर्माण है। विष्णु को कई अन्य रूपो मे मूर्त किया गया है जैसे-मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिह, वामन, परशुराम, राम, बुद्ध व कल्कि आदि ।

ऊडासा ग्राम से विष्णु की प्रतिमा प्राप्त हुई है, सिर पर पर्याप्त उन्नत किरीट धारण किये हैं, वक्षस्थल तक लटकती वैजयती माला है । विष्णु के पार्श्व मे अन्य दो देव आकृतिया हैं, जो उनके पैरो के पास बनी हैं। इस मूर्ति का काल ९-१० वी शताब्दी माना जाता है । वैष्णवी देवी प्रतिमायें उज्जैन में ऊडासा ग्राम, नयापुरा, शीतला माता के चबूतरे पर, रामघाट आदि स्थानो से भग्नावस्था मे मिलती हैं ।

ओखलेश्वर में प्रस्तर फलक पर जो लक्ष्मी आकृति मिलती हैं, उसमे ऊपर चार हाथी सूड मे घट लिये देवी का अभिषेक कर रहे हैं । मूर्ति के दाहिने हाथ मे कमल-नाल है व बांया हाथ शांत मुद्रा मे रखा है । गले कान व भुजाओ मे आभूषण हैं, हाथी दिशाओ का सूचक है। उनकी सूड के घुमाव मे विशेष कलात्मक सौन्दय की अभिव्यक्ति होती है ।

परमार काल मे सरस्वती प्रतिमाओ का निर्माण भी हुआ था । भोज की बाग्देवी (सरस्वती) प्रतिमा शास्त्रीय रचनात्मक विन्यास की दृष्टि से अभूतपूर्व है। इसी आकृति की एक सरस्वती प्रतिमा चौसठ योगिनी के मदिर (उज्जैन) मे अत्यधिक भग्नावस्था मे है । मुखाकृति ठीक भोजशाला वाली सरस्वती के समान ही है । सिर पर रत्न पट्टिकाओ का किरीट है तथा केश रचना पीछे की ओर की गई है । दाहिना कान ऊपर से टूटा है, बाँये कान मे कुंडल हैं जो लाल मणि से जडे हुए है। गले मे मणिमाला वक्षस्थल तक लटक रही है, कटि-मेखला लडियो से युक्त हैं। हाथो मे भुजबध व ककण हैं। प्रतिमा चार-भुजी है, जिसमें से दो टूट गये हैं । ऊपर का दाहिना हाथ कमलनाल पकडे हैं । बाये हाथ की वस्तु टूट गई है—प्रतिमा मे सभवत. भोजदेव द्वारा लिखवाया हुआ भग्न अभिलेख है ।[१] ओखलेश्वर स्थित मकर वाहिनी गगा प्रतिमा की भाति हैं। उसका निर्माण परमार काल में हुआ । इस मूर्ति का अल-करण, मुख पर मृदुल व सौम्य भाव दृष्टव्य है । गगा नारी के रूप मे अकित की गई है तथा वृक्ष की डाल पकडे हुए हैं । अलकावलियो के अकन मे अत्यन्त आकर्षक है व सूक्ष्म प्रस्तर शिल्प का सहयोग लिया गया है तथा त्रिवल्ली पर झुकाव और त्रिभग मुद्रा मे है । नीचे जल की लहरों में मकर मुह फाडे हुए अकित है, उसकी गोल आखे व दांत स्पष्ट है । पूरे शरीर पर कटीला अकन है, मानो पानी को काट रहा है । वस्त्रों के अकन मे पारदर्शिता है । अन्य मूर्तियो की तरह परमार कालीन गगा की मूर्ति श्रेष्ठ मूर्ति-कला का नमूना है। जिसे परमार राजाओ ने निर्मित किया । ऐसी ही एक अन्य स्त्री प्रतिमा भारती कला भवन उज्जैन मे भी है ।

परमार काल मे कृष्ण की प्रतिमा भी निर्मित होने लगी थी । गोवर्धन पर्वत को अपनी कनिष्ठ अगुली पर उठाये त्रिभगी मुद्रा मे कृष्ण अकित है । भार से शरीर में लचक आ गई है, जिसका अकन विशेष रूप से कलात्मक है । परमार काल मे नवग्रहो का मूर्ति रूप मे मन्दिर मे स्थापना करना मागलिक समझा जाता था । इनमे बृहस्पति शनि, मगल, राहु, केतु, बुद्ध आदि की प्रतिमा शास्त्रीय लक्षणो के आधार पर अंकन किया गया है। परमार कलाकारो ने न केवल विशुद्ध सौंदर्य वोध को अपना एक-मात्र सिद्धान्त बनाया वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी हर प्रकार से आत्माभिव्यक्ति को सुलझाने का प्रयत्न किया है। परमार काल मे सूर्य की प्रतिमा भी बनाई जाती थीं।

परमार मूर्तिकारो ने नारी सौन्दर्य के प्रति मानव की शाश्वत प्रसन्नता की अभिव्यक्ति नारी की इन मुद्राओ मे अकित की है । मदिर के प्रत्येक आले, प्रत्येक स्तम्भ तथा मदिरो की प्राय सभी दीवारो पर ये स्वर्गिक सुन्द-

---

१ जैसिंहपुरा म्युझियम की प्रतिमा क्रमाक २७ आकार २'२" × २'४" श्वेत प्रस्तर पर सरस्वती का अकन व आभूषणो मे कलात्मक है ।

रिया अंकित हैं। प्राय. प्रत्येक शैव मदिरो मे रतिमग्न युगल मिलते हैं, जिन्हें अद्भुत कोमलता और मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता के साथ तराशा गया है। परमार मूर्तियो के इन युगल मूर्तियो का रहस्य है तान्त्रिक कल्पना एव धर्म द्वारा उपलब्ध इन्द्रियो का रूपान्तर तथा जीवन के प्रति पूर्ण विकसित एव गभीर जागरूकता, परन्तु इन साहित्यिक प्रमाणो का अब पुरातात्विक प्रमाण भाग मूर्तियो के रूप मे ही उज्जैन मे मिलते हैं।

परमार कालीन जैन प्रतिमाएँ जयसिहपुरा उज्जैन स्थिति जैन सग्रहालय मे है—यहा लगभग ४५२ जैन प्रतिमाए वदनावर, ऊन, नेमावर, धार, गंधर्वपुरी, राजपुर, भेलसा आदि से प्राप्त हुई हैं। तीर्थंकर, महावीर स्वामी का अंकन है। तीर्थंकरो की प्रतिमाओ का प्रयोजन उनके पावन जीवन की प्रेरणा से अपने को योग्य बताना था। जैन प्रतिमाओ के लक्षण बताते हैं कि तीर्थंकर की प्रतिमा मे लम्बे लटकते हुए हाथ, श्रीवत्स लाछन, प्रशात मूर्ति, नग्न शरीर, तरुणावस्था ये पाच सामान्य विशेषतायें हैं, जो कि प्रत्येक तीर्थंकर की मूर्ति मे आवश्यक है।

जैन मूर्ति मे अष्ट प्रतिहार्यो (दिव्य तरु आसन, चामर, प्रभामण्डल, दिव्य दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि एव दिव्य ध्वनि) का अंकन रहता है। उज्जैन से प्राप्त तीर्थंकर अजानुबाहु खडे हैं—श्रीवत्स लांछन वक्षस्थल पर उत्कीर्ण है, चावर धारिणी, परिचारिकायें व कर बद्ध सेविकायें भी उल्लेखनीय हैं। एक आकृति सुन्दर नृत्य-मुद्रा मे है, बासुरी घडियाल, तुरही व झांझ बजा रहे हैं। इन सबका अंकन रचना विन्यास की दृष्टि से कलात्मक हैं। एक व्यक्ति नाटकीय अभिव्यक्ति से स्वरो का आरोह अवरोह व्यक्त कर रहा है।

उज्जैन से परमार कालीन मूर्तियो मे बौद्ध प्रतिमायें भी मिली हैं, जिनमें अवलोकितेश्वर और हारीति की प्रतिमायें मुख्य हैं। शैली के आधार पर ये बुद्ध मूर्तियाँ १० वी शताब्दी की हैं। परमार काल मे बौद्ध प्रतिमायें बहुत ही कम मात्रा में पाई गई हैं इससे पता चलता है कि इस काल मे बौद्ध धर्म पतनावस्था पर था। बौद्ध धर्म को हिंदू धर्म मे स्थान प्राप्त हुआ। परिणाम स्वरूप विष्णु के दस अवतारो के अंकन में बुद्ध भी अंकित किये गये हैं। उज्जयिनी मे ऐसी दशावतार मूर्तिया परमार शैली की मिलती हैं जिस पर बुद्ध अंकित हैं।

परमार मूर्तिकला का वैभव काल वाक्पतिराज मुंज और भोज के समय रहा। स्थापत्य एव मूर्तिकला पर स्वय ने कई लक्षण ग्रंथो का निर्माण किया। नवग्रहो व सूर्य के नाम पर मदिरो का निर्माण किया गया था। परन्तु उज्जैन केवल बृहस्पति मदिर मे ही परमार काल की बृहस्पति मूर्ति है, जो अपने चारो हाथ मे क्रमश. पुस्तक अक्षमाल्य, कमडलु व मांगलिक घट लिये हुए है। राहु दोनों हाथ फैलायें 'तर्पण' मुद्रा मे अंकित हैं व केतु मत्स्याकृति से निकल रहे हैं। शनि का भयकर चेहरा व पूरे शरीर के अनुपात से बडा है, काले वस्त्र शरीर पर धारण किये हैं।

उज्जयिनी से प्राप्त अन्य परमारकालीन मूर्तियाँ निम्नलिखित लक्षण व आकार मे हैः—

त्रिशूलधारी शिव (१" × ८" × ६"), नदि आसीन शिव पार्वती (२' × १'२" × ७') गजासुर वध करते शिव, भैरव, अष्ट भैरव व रौद्र भैरव[1], कापालिक[2], नाग व चामुंडा[3] व भर्तृहरि की गुफा[4] मे रखी गईं चामुण्डा, कापाली व वाराही। लगभग सभी भग्नावस्था मे है।

इस प्रकार परमार शासको के सरक्षण मे इस धार्मिक नगरी में लगभग सभी धर्म व सप्रदायों की मूर्तिया निर्मित हुई।

---

1 एन्यूल ऐडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियाजिकल डिपार्टमेट ग्वालियर स्टेट १९३३-३४, पृ० ३४, १९३२ ३३, पृ० २७, १९३४-३५

2 जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बगाल, १८३७, पृ० ८२०

3 सम इंपार्टेन्ट इमंजेस फ्रॉम उज्जैन—वी एस. वाकणकर, आल इण्डिया ओरिएन्टल कान्फ्रेन्स, अहमदाबाद सेशन पृ० ७८

4 डा० डी आर पाटिल—कल्चरल हेरिटेज आफ मालवा, पृ० ११३

उज्जयिनी एवं पुराण

डा रमेशचन्द्र पुरोहित

भगवान् महाकालेश्वर की वासस्थली उज्जयिनी प्राचीन काल से ही अपनी विशिष्ट गरिमाओ के कारण विश्वविख्यात रही हैं। अपने सुदीर्घ जीवनकाल में इस नगरी ने अनेक उत्थान-पतन देखे हैं। इतिहास मे तो इसका नाम अग्रगण्य हैं ही, परन्तु इसके साथ ही साथ जैन-बौद्ध तथा सस्कृत साहित्य भी इसके वर्णन से भरपूर हैं। पुराणो मे इसका वर्णन इतना अधिक हुआ हैं कि इतिहास-भूगोल तथा धार्मिक आस्था–सभी दृष्टि से यह नगरी समस्त भारतवासियो का आकर्षण केन्द्र बन गई हैं। स्कन्द पुराण मे इसी के वर्णन के लिये स्वतत्र रूप से "अवन्ती-खण्ड" की रचना की गई। उसमे इस नगरी को अवन्ती, कनकशृ गा, कुशस्थली, उज्जयिनी, पद्मावती, कुमुद्वत्ती, अमरावती, विशाला तथा प्रतिकल्पा इन ९ नामो से अभिहित किया गया है, तथा यह भी वतलाया गया है कि इस नगरी के ये सभी नाम सहेतुक हैं।[१]

श्री बृहन्नरदीयपुराण मे भी इस नगरी के उपर्युक्त नामो का वर्णन किया गया है।[२]

श्रीमद्भागवत् मे यह भी उल्लेख किया गया है कि सूर्यवशी राजा तृणबिन्दु के पुत्र "विशाल,' ने इस "विशाला" नगरी को वसाया था।[३]

भारतवर्ष के द्वादश ज्योतिर्लिगावतारो मे से प्रमुख श्री महाकालेश्वर की वासस्थली होने से उज्जयिनी ने विभिन्न तीर्थस्थलो मे अपना एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया हैं। शिवमहापुराण मे द्वादश ज्योतिर्लिगावतारों के वर्णन के प्रसंग मे यह कहा गया है कि शिवजी ने वेद एव विप्रो के द्वेष्टा दूषण नामक दैत्य का सहार करने के लिये ही उज्जयिनी मे "महाकालेश्वर" के रूप मे अवतार धारण किया।[४]

महाकालेश्वर के दर्शन के लिये भगवान् श्री रामचन्द्रजी भी वनवासकाल मे अयोध्या से दक्षिण की ओर जाते हुए उज्जयिनी पधारे थे[५] उन्होने यहाँ 'रामेश्वर' की स्थापना की थी :—

---

१ स्कन्दपुराण–अध्याब ४०–४७

२ वृहन्नारदीयपुराण—उत्तरार्द्ध–अध्याय ७८ श्लोक ३५-३६

३ श्रीमद्भागवत—नवम स्कन्द–अध्याय २ श्लोक ३३

४ शिवमहापुराण—कोटिरुद्रसहिता प्रथम अध्याय–श्लोक १–१७

५ स्कन्दमहापुराण—अवन्तीखण्ड अध्याय ३१ श्लोक २१-३०
परन्तु वाल्मीकिरामायण मे श्रीरामचन्द्रजी के अवन्तिका मे आने का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि किष्किन्धाकाण्ड के अध्याय ४१ के ११ वें श्लोक मे सीता की खोज के प्रसग मे अवन्ती का उल्लेख हुआ है।

आजगाम ततोऽवन्ती सा शिप्रा यत्र पुण्यदा ।
तस्या स्नात्वा ततो रामस्तपर्यामास पूर्वजान् ।
महाकाल यदा दृष्टु प्रतस्थे रघुनन्दनः ।
वाण्या ततोऽशरीरिण्या देवदेवेन भाषितम् ।
भो भो राघव भद्र ते स्वनाम्ना स्थापयस्व माम् ।
अत्रस्थान मया दत्त मा विचारय राघव ।।
ततो हृष्टमना रामोलक्ष्मण वाक्यमब्रवीत् ।
अनुगृहीता सौमित्रे देवदेवेन शम्भुना ।।
तस्मात्स्थापय तीर्थेऽस्मिल्लिङ्गम् रामेश्वर शुभम् ।
वाक्य तत्लक्ष्मण' श्रुत्वा स्थापयामास शङ्करम् ।
दृष्टवा देव पुरा रामो लक्ष्मण वाक्यमब्रवीत् ।
एहि लक्ष्मण शीघ्र त्व शिप्रायाजलमानय ।
करिष्यामि ततोऽत्राह देवस्य स्नपन शुभम् ।।
स्नात्वा भुक्त्वा च तो वीरा महाकालमुपागतौ ।
नीत्वा विभावरी तत्र गमनाय मनो दधे ।

लिङ्गपुराण मे यह भी उल्लेख मिलता है कि रावण वध के पश्चात् जब श्रीरामचन्द्रजी लका से अयोध्या लौट रहे थे, उस समय भी उन्होने हरसिद्धि देवी के पश्चिम मे रुद्रसागर के तट पर कुछ समय के लिये विश्राम किया तथा श्री महाकालेश्वर की आराधना की थी[1] ।

भगवान् श्रीकृष्ण बलराम ने भी अपने गुरु सांदीपनि के साथ श्री महाकालेश्वर के दर्शन किये—[2]तथा महाकालेश्वर ने उनसे मुनि, सिद्ध तथा देवगण आदि की रक्षा के लिये जो निवेदन किया, उसे भी उन्होने सहर्ष स्वीकार किया।

प्रल्हाद ने श्री क्षिप्रा के पवित्र जल मे स्नान कर विष्णु तथा महाकाल के दर्शन किये हैं[3]—

ततो विपाशासलिले स्नात्वाऽभ्यर्च्य सदाशिवम् ।
त्रिरात्र समुपोष्याथ अवन्ती नगरी ययौ ।।

तत्र क्षिप्राजलेस्नात्वा विष्णु सम्पूज्य भक्तित ।
श्मशानस्त्र जगामाथ महाकालवपुश्चरम ।।

महाभारत मे भी तीर्थयात्रा के महत्व तथा उसके क्रम का वर्णन करते हुए पुलत्स्य ने भीष्म से महाकालेश्वर के दर्शन का प्रतिपादन किया हैं:—

महाकाल ततो गच्छेन्नियतो नियताशन ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफल लभेत् ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः ।
नाम्ना भद्रवट नाम त्रिषुलोकेषु विश्रुतम्[4] ।।

श्री रामचन्द्र श्रीकृष्ण, बलराम, प्रल्हाद, हनुमान् जैसे महामनीषियो की चरणरज से पवित्र इस नगरी की महिमा अनायास ही बढ गई है। स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल लोक मे जो मुख्य अधिष्ठातृ शिवलिंग माने गये है, उनमे से मृत्युलोक के अधिष्ठातृदेव "महाकालेश्वर" के उज्जैन मे ही विराजमान होने से यह अद्वितीय तीर्थस्थल हो गया है।

आकाशे तारक लिङ्गम् पाताले हाटकेश्वरम् ।
मृत्युलोके महाकाल लिंगत्रय नमाम्यहम् ।।

---

[1] विक्रम स्मृतिग्रन्थ पृ० ४८६

[2] स्कन्दपुराण—अवन्तीखण्ड श्लोक ६–११

[3] वामनपुराण—अध्याय ८३ श्लोक १८–२४

[4] महाभारत—वनपर्व अध्याय ८२ श्लोक ४६–५० भद्रवट से तात्पर्य सम्भवत. सिद्धवट का ही है ।

ऐसी स्थिति मे उज्जयिनी की गणना केवल भारतवर्ष की प्रमुख ७ मोक्षदायिनी नगरियो[1] में तथा केवल श्मशान, उर्वर, क्षेत्र, पीठ एव वन की सयुति के कारण उसकी महत्ता प्रदर्शित करना, उसकी महिमा को सीमित करना ही तो होगा।

महाकालेश्वर की इसी गरिमा से प्रभावित होकर १८ शताब्दी के एक अज्ञातसस्कृत कवि श्री रामकृष्ण कादम्ब ने अपने नाटक 'अदितिकुण्डलाहरणम्' मे देवो के आचार्य श्री बृहस्पति से इष्टसिद्धि के लिए अवन्तिका में प्रतिष्ठित श्री महाकालेश्वर की ही आराधना करवा कर उन्हे स्वर्गलोक मे अवस्थित तारकेश्वर, पाताललोक मे अवस्थित हाटकेश्वर से भी अधिक शक्तिशाली तथा पूज्य सिद्ध कर दिया है।

भौमेन सङ्गनस्य श्रीकृष्णस्याशुविजयसिद्ध्यर्थम्,
सुरगुरुरबन्तिकां यातोऽद्य निरीक्षितु महाकालम्[3] ॥

महाकवि कालिदास द्वारा रघुवश तथा मेघदूत मे किया गया महाकालेश्वर का वर्णन विश्वविख्यात है ही[4]।

ब्रह्मपुराण के ४३ वें अध्याय मे भी उज्जयिनी का, उसके अधिष्ठातृदेव महाकालेश्वर का तथा उसमे प्रवहमाना क्षिप्रानदी का विशद्वर्णन किया गया है। इसी प्रकार गरुडपुराण के १०८ वे अध्यायमे उज्जयिनी को पापहारिणी पवित्रनगरी के रूप मे चित्रित किया गया है। लिङ्गपुराण मे भी शिवलिंग की उत्पत्ति के प्रसङ्ग मे महाकालेश्वर की महिमा का गान किया गया है।

उज्जैन मे प्रवहमाना पुण्यसलिला शिप्रा नही का भी स्कन्दपुराण मे विस्तृत वर्णन किया गया है तथा उसमें इस इस नदी के 'शिप्रा' के साथ ही 'ज्वरघ्नी' 'पापघ्नी' तथा 'अमृतोद्भवा' एव सोमवती नाम होने की भी पुष्टि विभिन्न कथाओ के द्वारा की गयी है[5]। इसी मे हरिसिद्धि देवी के भी माहात्म्य का चित्रण करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य हरसिद्धिदेवी का श्रद्धापूर्वक दर्शन करता हैं, वह अक्षयभोग पाता है और मृत्यु के पश्चात् शिवधाम को जाता है[6]। शिवपुराण मे हरसिद्धि देवी के मन्दिर की चर्चा करते हुए कहा गया है कि इस मन्दिर मे हरसिद्धि देवी की प्रतिमा नही है, अपितु मन्दिर के गर्भगृह मे सिंहासन पर एक शिलोत्कीर्ण श्री यन्त्र प्रस्थापित है, वही हरसिद्धिदेवी कहलाती है।

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि को भी अवन्ती से अवस्थित वल्मीकेश्वर महादेव की आराधना के फलस्वरूप ही कवित्वशक्ति प्राप्त हुई थी[7]।

वराहपुराण मे अवन्तिका को मणिपूरचक्र (शरीर का नाभिदेश) तथा उस प्रदेश अधिष्ठात्र देवता श्री महाकालेश्वर माने गये हैं:—

आज्ञाचक्र स्मृता काशी, या बाला श्रुतिमूर्द्धनि
स्वाधिष्ठान स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका।
नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हर ॥

इन विभिन्न पुराणो मे केवल उज्जैन के माहात्म्य का ही चित्रण नही हुआ है, अपितु इसके सास्कृतिक इतिहास की भी सामग्री यत्र तत्र सर्वत्र बिखरी पड़ी है।

---

1 अयोध्या मथुरा माया काशी काची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका. ॥ —गरुडपुराण

2 स्कन्दपुराण—श्मशानमूखर क्षेत्र पीठ तु वनमेवच। पचैकत्र न लभ्यन्ते महाकालपुराहते ॥

3 अदितिकुण्डलाहरणनाटक अक ६, श्लोक १५

4 रघुवश सर्ग ६ श्लोक ३४ तथा पूर्वमेघ श्लोक ३७-४०

5 स्कन्दपुराण अवन्ती खण्ठ—अध्याय ६२

6 स्कन्दपुराण अवन्तीखण्ड-अध्याय २१ श्लोक ९-११

7 स्कन्दमहापुराण-अवन्तीखण्ड

श्रीमद्भागवत्[1], विष्णुपुराण[2], हरिवश[3], ब्रह्मपुराण[4], ब्रह्मवैवर्तपुराण[5] आदि प्रायः सभी पुराणो में श्रीकृष्ण के उज्जैन आकर महर्षि सान्दीपनि के पास आकर अध्ययन करने का वर्णन उपलब्ध होता है।

यह वर्णन स्पष्टत इस तथ्य का द्योतक है कि उस युग मे अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र मे उज्जयिनी की व्यवस्था अप्रतिम थी। यहा के पढ़े हुए छात्र सभी क्षेत्रो में पूर्णत सफल रहत थे।

शौर्य मे भी यह प्रदेश अग्रगण्य माना जाता रहा है। महाभारत के युद्ध में विन्द और अनुविन्द ने जो पराक्रम प्रदर्शित किया है, वह अवन्ती निवासियो के लिए गौरव की वस्तु है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी गणना 'महारथी' के रूप मे की गई है, जिनके अधीन एक-एक अक्षौहिणी सेना थी।[6] कौरव सेनापति स्वय भीष्म पितामह ने उनके साहस की प्रशसा की है।[7] उनकी युद्ध शैली का महाभारत मे विस्तृत वर्णन मिलता है।

भविष्य पुराण के १४१ वें अध्याय मे उज्जैन के इतिहास के सम्बन्ध मे जो उल्लेख किए गए हैं, ऐतिहासिको ने उनमे यथार्थता भी सिद्ध करदी है।

पुराणो मे उज्जयिनी का जो वर्णन हुआ है, उसका ऐतिहासिक महत्व भी है। यादव वशी हैहयो की जो 'वीतिहोत्र' तथा 'अश्मक' शाखाए हैं, वे पश्चिमी मालवा की 'अवन्ती' शाखा से सम्बद्ध हैं।[8] अवन्ती, माहिष्मती तथा विदर्भ नगरी के बसने वाले भी यदुवशी ही रहे हैं।[9] हैहयो ने यहाँ से नागराजाओ को उच्छेदित कर अपना साम्राज्य स्थापित किया। श्रीकृष्ण ने उज्जयिनी के राजा अनुविन्द को पराजित कर उसकी बहिन मित्रविन्दा से विवाह किया।[10] उज्जयिनी विन्द-अनुविन्द तथा माहिष्मति पति 'नील' ने महाभारत युद्ध मे कौरवों की ओर से युद्ध किया था जिसमे अनुविन्द अर्जुन से परास्त हुआ।

वीतिहोत्र तथा अवन्ती शाखा के राजाओ के क्षीण हो जाने पर 'पुलिक' नामक एक मन्त्री ने अपने स्वामी अन्तिम ब्रहद्रथ राजा की हत्या कर अपने पुत्र 'प्रद्योत' को राजसत्ता सौंप दी। जिसने प्रद्योत साम्राज्य की स्थापना की। बौद्ध तथा सस्कृत साहित्य मे इसी प्रद्योत का उल्लेख चण्ड प्रज्जोत तथा प्रद्योत महासेन के नाम से हुआ। प्रद्योत का छोटा भाई कुमारसेन महाकाल के मन्दिर मे मनुष्य-मास के विक्रय का विरोध करते हुए मारा गया। (क्रॉनालाजी आफ एन्शट इडिया पृ० ७२ तथा ३३५) प्रद्योत के गोपाल तथा पालक नामक २ लडके तथा वासवदत्ता नामक एक लडकी थी। वासवदत्ता तथा वत्सराज उदयन के विवाह की कथा का विस्तृत वर्णन साहित्य ग्रन्थो मे विशद रूप से पाया जाता है।

उज्जयिनी के सम्बन्ध में जो विभिन्न पौराणिक गाथाए उपलब्ध होती हैं, उनकी पुष्टि विभिन्न ऐतिहासिक साहित्यिक तथा ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थो से हो जाती है। परन्तु स्कन्दपुराण के अवन्ती खण्ड मे जिन विभिन्न तीर्थ स्थानो का चित्रण हुआ है, उनमे से (वर्तमान काल में) अनेक लुप्त हो गए हैं। अत. अब यह आवश्यक है कि पुराणो के आधार पर यदि उज्जयिनी मे अनुसधान कार्य किया जाय तो पुरातत्व से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण सामग्री इससे उपलब्ध हो सकेगी।

---

1 श्रीमद्भागवत् दशमस्कन्द
2 विष्णुपुराण—अध्याय २१
3 हरिवश
4 ब्रह्मपुराण, अध्याय ८६
5 ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखण्ड अध्याय ५४
6 महाभारत भीष्मपर्व १६, २४
7 वही अध्याय १६६
8 केम्ब्रेज हिस्ट्री आफ इडिया भाग १ पृ. ३१६
9 मत्स्यपुराण अध्याय ४३ श्लोक ८-२६ तथा वायु पुराण अध्याय ६४ श्लोक ५-२६
10 श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, अध्याय ५८, श्लोक ३०—२१

उज्जैन जिले का पुरातत्व

—वीरेन्द्रकुमार तिवारी

भारत के मध्य और मध्यप्रदेश राज्य के पश्चिमी भाग मे प्रसिद्ध मालवा के पठार पर उज्जैन जिला २२° ४७' से २३° ३९' उत्तरी अक्षाश के बीच और ७५° १०' से ७६तृ १' पूर्वी देशान्तर रेखाओ के मध्य स्थित है। कर्क रेखा जिले के मध्य से गुजरती है। जिले की समुद्र से निकटतम दूरी ४७० मील एव समुद्र सतह से औसत ऊचाई १७३० फीट है। जिले के पश्चिम मे रतलाम, दक्षिण मे इन्दौर, दक्षिण पश्चिम मे धार, दक्षिण पूर्व मे देवास तथा उत्तर पूर्व मे शाजापुर जिलो से सीमाबद्ध है। स्वतन्त्रता के पश्चात प्राचीन ग्वालियर राज्य की पाच मे से तीन तहसीलो—उज्जैन, खाचरोद एव बड़नगर तथा होल्कर राज्य की महीदपुर एव तराना इन दो तहसीलो को मिलाकर वर्तमान उज्जैन जिले का निर्माण किया गया है।

भूगर्भिक इतिहास की दृष्टि से यह क्षेत्र विश्व के प्राचीनतम भूभागो मे से एक है। इसका निर्माण पूर्व केम्ब्रीयन काल मे हुआ था, उस समय यह भाग समुद्र सतह से ऊचा उठा हुआ महाद्विपीय ढाल के उत्तर पश्चिम भाग पर स्थित था। समुद्र सतह से अधिक ऊचे उठे हुए इस क्षेत्र पर क्षयात्मक शक्तिया लम्बे अरसे तक सक्रिय रही और यहा के पदार्थों को काट काट कर, ढाल के अनुरूप उत्तर की ओर हटाती रही। कठोर बसाल्टिक चट्टानों पर, जल वायु, तापक्रम आदि प्राकृतिक शक्तियो द्वारा किये जा रहे क्षयात्मक कार्य ने धरातल को असहमत बना दिया, साथ ही उत्तरवाहिनी नदिया अधरतल प्राप्त करने की प्रवृत्ति मे अपनी तलहटिया काटती रही। परिणाम स्वरुप वे आज घाटियो के मध्य में बहती है। साधारणतः जिले का धरातल १५५० फीट से १८०० फीट के बीच, समुद्र सतह से ऊचा है। जिले की सर्वोच्च ऊची पहाडी बडनगर तहसील के ऊपर पश्चिमी भाग मे ग्राम बरेडिया के पास १८३९ फीट ऊंची है। जिले के समस्त २३४३ वर्गमील क्षेत्र का ८०१ वर्गमील क्षेत्र चम्बल, ९४४ वर्गमील क्षेत्र क्षिप्रा, ४८४ वर्गमील क्षेत्र छोटी काली सिन्ध, तथा ११५ वर्गमील क्षेत्र बडी काली सिन्ध नदियों के जल क्षेत्र मे बटा हुआ है। इन प्रमुख नदियो के अतिरिक्त अनेक छोटी छोटी नदिया भी है, जो केवल वर्षाकाल मे कुछ समय के लिए बहती है। शेष समय शुष्क पडी रहती है। (चम्बल) चर्मण्यवती जिले की सबसे महत्वपूर्ण नदी है, जो जिले मे बहनेवाली समस्त नदियो का जल प्राप्त करती हुई, राज्य की उत्तरी सीमा से कुछ दूर यमुना नदी मे मिल जाती है।

जिले का अधिकाश भाग मैदानी है, पश्चिमोत्तर भाग कुछ पहाडी है, पर यह ट्रेप की पहाडी पर है। ज्यादा ऊची नही है। जिले की मिट्टी मालवा क्ले लोम, अथवा क्षिप्राक्लेलोम एव उज्जैन लोम इन तीन प्रकारो मे विभक्त की जा सकती है। उत्पत्ति की दृष्टि से मालवा क्ले लोम की उत्पत्ति मूल अग्नेय चट्टानो से हुई है। यह मिट्टी रग मे गहरी भूरी खाखी या खाखी भूरी से गहरी काली तक होती है। क्षिप्रा क्ले लोम का उत्पत्ति तलछटीय जमाव पर हुई है और यह मिट्टी हल्की भूरी, खाखी मध्यम खाखी अथवा गहरे भूरे रग की होती है। उज्जैन लोम रग मे पीली, खाखी हल्की भूरी अथवा पीली भूरी है, जो क्षिप्रा के सहारे-सहारे तीन चौथाई चौडी पट्टी मे पायी जाती है। इस लोम की गहराई १० से १५ फुट तक होती है।

स्कन्दपुराण के पचम खण्ड मे अवन्ति (उज्जयिनी) को प्रतिकल्पा कहा गया है अर्थात् वह प्रत्येक मनु (कल्प) मे विभिन्न नामो से विद्यमान रही। पर पुरातत्वीय-उत्खननों द्वारा इसकी प्राचीनता महाभारतयुग से पूर्व

सिद्ध नहीं होती। महाभारत युग से पूर्व भी उज्जयिनी आस्तित्व मे थी ? इस प्रश्न को ध्यान में रखकर लेखक ने श्री वाकणकर के निर्देशन मे वर्तमान उज्जैन जिले का विगत एक वर्षों मे पुरातत्वीय सर्वेक्षण किया जो बहुत ही उपयोगी रहा। इस सर्वेक्षण ने उज्जैन के अतीत का चित्र बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। प्रस्तुत लेख मे इन्ही पुरा-त्वीय उपलब्धियो को कालानुक्रम मे रखकर देखने का प्रयास किया गया है।

पुराविदो एव इतिहासकारो की अभी तक यह धारणा रही हैं कि उज्जैन का अतीत बौद्धयुग या ज्यादा से ज्यादा महाभारत युग से प्रारम्भ होता है। पर मेरे विगत एक वर्ष के पुरातत्वीय अन्वेषणकार्य ने उज्जैन जिले की इस अतीत को सीमा को प्रागैतिहासिक युग तक पहुँचा दिया है। प्रागैतिहासिक युग मानव इतिहास का शैशव काल है, जब वह मानव होते हुए भी पशुओ सा व्यवहार करता था। पुराविदो ने इसे पाषाणयुग की सज्ञा प्रदान की हैं। वैसे उज्जैन जिले की भौगोलिक रचना, पाषाण-युगीन मानव के आवासीय चुनाव के मापदण्ड से सर्वथा भिन्न है। उज्जैन का मैदानी इलाका पाषाणयुगीन मानव के रहने के योग्य नही था, क्योंकि न तो यहा उसे पाषाण उपकरणो के निर्माण के लिए पत्थर आसानी से उपलब्ध हो सकता था और नही पहाडी क्षेत्रो मे स्वत बनी गुफाए एव कन्दरायें ही उपलब्ध थी, जहा वह अपने को मौसम एव हिंसक वन्य जीवो से सुरक्षित रख सकता। उज्जैन बडनगर तहसील का उत्तर पश्चिमी क्षेत्र कुछ जरूर पहाडी है, पर ये पहाडिया बहुत ही कम ऊची है, इनकी ऊपरी सतह पर पत्थर की जगह मुरम की तह रहती है। फिर भी पाषाण युगीन मानव उज्जैन जिले मे आया अवश्य था चाहे उसके आवास का समय अल्प ही क्यो न रहा हो। बडनगर तहसील मे धरमवल्डा ग्राम के पास स्थित ऊची पहाडी पर, पूर्व पाषाणकालीन मानव उपकरणो की प्राप्ति इस तथ्य की पुष्टि करता हैं। पुनश्च ये उपकरण महीदपुर तहसील मे महीदपुर एव झारडा के मध्य स्थित वैद्यनाथ मन्दिर के पास बहने वाली नदी के तटो पर मिलते है। ये उपकरण ट्रेप के बने हैं एव उनकी रचना शैली "क्लेक्टोनियन" है।

मध्यपाषाण युगीन मानव अवशेष तो हमे उज्जैन जिले मे प्राय सभी पहाड़ियो पर मिलते हैं। इनमे विजासिनी, कुम्हार एव वैश्या टेकरी उज्जैन देवास मार्ग पर नगर से लगभग पाच मील पूर्व मे गोपालपुर एव माधवपुर ग्रामो के मध्य स्थित एक ऊची टेकरी एव जमालपुरा ग्राम के पास खाननदी का तट, विशेष उल्लेखनीय है। इनमे गोपालपुरा वाली टेकरी पर लेखक एव श्री वाकणकर को अनगिनत सूक्ष्म काश्म उपकरण मिले थे। उपकरण प्रकारो मे छुरी, चाकू, वारीक पाइन्द (नोक), वेधनी (बौरक) आदि है जो सफेद चर्ट, अगेट, शाल्सीडेनी आदि प्रस्तरो के बने हैं। उपकरणो के अतिरिक्त अधिक मात्रा मे शल्कित प्रस्तर खण्ड (फ्यूटेडकोर) मिले है, जिनसे उक्त उपकरण बनाये गये हैं। इनकी रचना शैली एवं उपयोगिता को आज भी चुनौती नहीं दी जा सकती।

उत्तर पाषाणयुगीन उपकरण नियोलिथ्स हमें कुछ एक स्थलो को छोडकर प्राय सम्पूर्ण मालवा मे नहीं मिलते अत. उज्जैन मे उनके मिलने की आशा नही रखनी चाहिये। क्योकि यहा की भौगोलिक स्थित एव प्रस्तर प्रकार उत्तर पाषाण युगीन मानव के लायक नहीं थी।

उत्तर प्रागैतिहासिक युग में मैदानी इलाको का महत्व वढने लगा, क्योकि मानव अपनी घुमक्कड जिन्दगी से थक चुका था और इसे त्याग कर वह स्थायी आवास बनाकर रहना चाहता था। स्थायी आवासीय जीवन ने सामूहिक आवासीय जीवन का स्वरूप ले लिया, परिणाम-स्वरूप ग्रामो की रचना हुई। उत्तरोत्तर यह बढते-बढते बड़े नगरो में परिवर्तित हो गये। सामूहिक जीवन यापन ने सामाजिकता का बोध कराया और सामाजिक जीवन ने कुछ मान्यताओ, कुछ परम्पराओ को जन्म दिया। समाज के लोगो के आपसी सहयोग एव सम्बन्धो में निकटता लाने के लिए एक भाषा एव लिपि का अविष्कार किया गया। जीविकोपार्जन के लिए शिकार के अलावा कृषि को भीमाध्यम बनाया गया और कृषि कार्य मे सहयोग के लिए पशु पालन भी प्रारम्भ किया गया। उस समय मानव के पास खेती योग्य नई भूमि ढूढना एव पशुओ के लिये नये चरागाह ढूढना यही दो प्रमुख समस्याए थीं। प्रारम्भ मे यह कार्य बहुत सरल था। जब किसी

गाँव की जनसख्या वढ जाती थी तो वहाँ के निवासियो का एक भाग पडौस मे एक गाव बसा लेता था या नये चरागाह ढूढ लेता था, पर धीरे-धीरे चरागाहो एव कृषि योग्य भूमि मिलना अपेक्षाकृत कठिन होता गया तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' सिद्धान्त के अनुसार कुछ जातियाँ वलपूर्वक दूसरो की भूमि एव चरागाह छीनने लगी । पर इससे समस्या का समाधान नही निकल सकता था । अत. कृषि के तरीके मे कृत्रिम सुधार किया जाने लगा । कृपि के साथ व्यापार को भी जीविकोपार्जन का माध्यम वनाया जाने लगा । जल के मार्ग से वडी-वडी पाल वाली नावो से व्यापार किया जाने लगा एव थल मार्गों पर घोडे एव खच्चरो की पीठ पर सामान लाद कर ले जाया जाने लगा । इससे एक नगर से दूसरे नगर के वीच सद्भाव की भावना पनपी, लोगो के रहन-सहन मे सुधार हुआ । सभवत. उस समय मे व्यापार का मुख्य विषय मिट्टी के वने सुन्दर पात्र रहे होगे । क्योकि विभिन्न ताम्राश्मयुगीन अवशेषो से प्राप्त मृदपात्रो मे काफी समानता है, यद्यपि कि विभिन्न जातियो या कवीलो के अपने एक किस्म विशेष के मृदपात्र होते थे पर उनका प्रचार सभी जातियो मे समान रूप से था । इनके अलावा वैडूर्य, स्फटिक, सिटटाईट आदि मणियो, ताम्रायुधो का भी व्यापार चलता रहा । पाषाणयुगीन उपयोगी उपकरण तो व्यवहार मे आते ही रहे । इस युग में ताम्वे का भी आविष्कार किया गया एव उनमे विभिन्न प्रकार के उपकरण वनाये जाने लगे । इसलिए पुराविदो ने इस युग को (ताम्र+अश्म=ताम्राश्म) पाषाण एव धातु युग का सन्धि काल माना है, पर वास्तव मे यह युग मानव इतिहास में क्रातियो का युग था । मकान वनाने के लिए पक्की ईटो का प्रयोग किया जाने लगा । कुए के लिए खडंजा (एक तरफ चौडी एव एक तरफ कम चौडी) ईटो को वनाया जाने लगा । घर प्राय. चौकोर होते थे । घर का प्रवेश दो तरफ से प्रमुख सडक से एव शेष दो तरफ से छोटी सडक या गलियो से होता था । चौकोर मकान के मध्य में एक वडा सा प्रागण होता था, उसके मध्य में एक कुआ एव उससे लगकर स्नान गृह, पीछे की तरफ पक्ति में कमरे होते थे । गन्दे पानी को निकालने के लिये पक्की ईटो की वनी वद नालियाँ होती थी । मृत को गाव के पश्चिम दक्षिण कोने में वने श्मशान में दफनाया जाता था जिसमें मृतक का सिर उत्तर एव पैर दक्षिण में रखा जाता था । मृतक के साथ उसक जीवन में प्रयोग में आने वाले सारे मृत पात्र भी दफनाए जाते थे । औरते शख एव मिट्टी की चूडियाँ हाथो मे एव गले में मिट्टी एव कीमती पत्थरो के वने मनको के हार अपनी हैसियत के अनुसार पहनती थी । सोने के भी आभूषण व्यवहार में लाये जाते थे पर वहुत ही सीमित रूप में । हीरे का भी आविष्कार मानव को मालूम था, क्योकि पत्थरो के मनको में छेद करना हीरो के टुकडो से ही सम्भव था ।

ताम्राश्मयुगीन मानव के अवशेष हमें उज्जैन जिले में, उज्जैन तहसील में क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित किठौदा ग्राम में, खाचरौद तहसील में चम्बल नदी के तट पर, नागदा, अटलावदा, राजगढ, मोहतवास टकरावदा, टुगणी, वडागाव एव राजोरा ग्रामो में, मलेनी नदी के तट पर मीण, उचेहरा एव खाचरौद ग्रामो में महिदपुर तहसील में क्षिप्रा नदी के तट पर महिदपुर (महतपुर) एव झारडा ग्रामो में, वडनगर तहसील में चम्वल नदी के तट पर स्थित दंगवाडा, नावदा, रुनीजा एव चामला नदी के तट पर खेडा नारायण तथा चामला एव चम्वल नदियो के मध्य स्थित अमलावदा कला ग्रामो में और तराना तहसील में कालीसिंध नदी के तट पर कायथा, फूटीपाल, नरयावली ग्राम में थे अवशेष हमें मिलते है । इनमे से नागदा एव कायथा का उत्खनन हो चुका है, दगवाडा का उत्खनन सम्भवतः इस वार सर्दियो मे विक्रम विश्वविद्यालय के अन्तर्गत होगा ।

ताम्राश्म युगीन मालवा में कायथा, आहाड एव मालवा ये तीन सस्कृतियाँ मुख्य रूप से फैली हुई थी । इनमें अव तक की मान्यता के अनुसार प्राचीनतम सस्कृति कायथा उसके बाद दूसरा स्थान आहाड सस्कृति और तीसरा मालवा सस्कृति का है । वैसे कायथा, आहाड और मालवा ये तीनो सस्कृति वाहर से आयी हैं । कायथा वैसे वाहरी सस्कृति होते हुए भी इसकी पहचान श्री व्ही. एस. वाकणकर ने उज्जैन जिले की तराना तहसील मे काली-सिंध नदी के तट पर कायथा नामक ग्राम से प्राप्त अवशेषो से सन् १९६७ में किया था । यहाँ का सास्कृतिक काला-नुक्रम उपरोक्त प्रकार का है । कायथा सस्कृति के पात्र चाकलेट रग के सफेद एव काले रगो से चित्रित होते हैं । पात्र अहाड एव मालवा की तुलना में थोडे मोटे, पर

मजबूत होते हैं। उत्तरी क्षेत्र में प्राप्त ओकर कलर वेयर से इस सस्कृति की तुलना की जा सकती है। अहाड संस्कृति राजस्थान के उदयपुर जिले में अहाड से प्राप्त इन अवशेषो को उक्त स्थान के नाम पर ही नामकरण किया गया है। इस सस्कृति की पहचान रूप से काला और सफेद लाल चित्रित पात्र (Painted black and Redware) से की जाती है, इसके बनाने की शैली भी वैचित्रपूर्ण है। मालवा सस्कृति के पात्र मुख्यतया लाल रग के और काले रग मे चित्रित होते हैं। चूकि प्राचीनतम सस्कृति कायथा है और उसके बाद अहाड एव मालवा है, अत. पुरास्थलो मे हमें सबसे कम अवशेष कायथा फिर आहाड एव मालवा इस क्रम मे मिलते हैं। उज्जैन जिले मे हमे इन तीनो संस्कृतियो क अवशेष मिलते हैं पर समान रूप से नही। उदाहरण के लिए झारडा, कायथा, खाचरौद, मीण, दगवाडा एव रुनीजा में हमे तीनो सस्कृतियो के अवशेष प्रायः समान रूप से मिलते हैं पर लोहागल, खेड़ा-नारायण, महिदपुर, वन्याखेडी, किठोदा मे हमे कायथा सस्कृति के अवशेष नही मिलते। मालवा सस्कृति नवीनतम ताम्राश्मयुगीन सस्कृति होने के नाते इसके अवशेष प्राय॰ सभी स्थलो पर मिलते हैं। इन सस्कृतियो के प्राप्ति स्थानो का अध्ययन करते हुए हम उनके जिले मे कालानुक्रमानुसार आने के मार्ग भी देख सकते हैं।

ताम्राश्मयुग में उज्जैन जिला बहुत ही सम्पन्न रहा। सम्भवतया आज हम लगभग चार हजार वर्ष पश्चात भी उस सस्कृति को चुनौती नहीं दे सकते हैं। प्रायः प्रत्येक दस से पन्द्रह मील की दूरी पर किसी नदी के तट पर ताम्राश्मयुग मे एक स्थल रहा होगा। इनमें से कुछ तो नदी के गर्भ में सदा के लिए विलीन हो गये पर जहाँ अतीत में ही नदी अपनी धारा बदलकर अवशेष से दूर चली गई, वहा वे अवशेष हमें ज्यो के त्यों प्राप्त होते है। उदाहरण के लिए लोहागल से दगवाडा, दगवाडा से खेडानारायण, खेडा नारायण से रूनीजा, वन्या खेडी से अमलावद कला, मीण से खाचरौद, महीदपुर से झारडा, आदि की दूरी इसी प्रकार है। उज्जैन वासियो को गर्व होना चाहिए कि देश की प्राचीनतम सस्कृतियो के अवशेष उनके जिले मे सबसे अधिक है। आवश्यकता आज इस बात की है कि इन विभिन्न स्थलो का उत्खनन करके उनका सही कालानुक्रम प्राप्त किया जाय। उत्खनन से विभिन्न सस्कृतियो के जिले मे आने के मार्ग एव उनके आपसी सम्बन्ध की भी जानकारी प्राप्त की जा सकेगी।

ताम्राश्मयुगीन स्थलो का चुनाव तत्कालीन मानव ने इतने सुन्दर ढग से किया था कि उस युग के बाद भी इसकी उपयोगिता यथावत बनी रही। ताम्राश्मयुग के बाद, ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ मे भी लोगो ने इन्ही पुरास्थलो पर बसना पसन्द किया, परिणामस्वरूप उज्जैन जिले के प्राय. सभी ताम्राश्मयुगीन स्थलो (सम्पूर्ण मालवा मे इन्दौर जिले के सावेर तहसील मे खान नदी के तट पर स्थित लोहागल को छोडकर जो ताम्राश्मयुगीन है) पर ताम्राश्मयुग से लेकर परमार काल एव कही तो मुस्लिम काल तक बस्तिया आबाद रही।

ताम्राश्मयुग के बाद, ऐतिहासिक युग मे प्रवेश करने पर, उज्जैन जिले का चित्र और भी स्पष्ट हो जाता है, क्योकि इस युग से प्राप्त होने वाले पुरातत्वीय साक्ष्यो का समीकरण (पहचानीकरण) तत्कालीन ऐतिहासिक आलेखो से हो जाता है। प्राचीन उज्जयिनी भी इसी युग से प्रकाश मे आती है। वैसे लेखक का विचार है कि प्राचीन उज्जयिनी भी ताम्राश्मयुगीन रही होगी या तो वह ताम्राश्मयुगीन स्थल क्षिप्रा नदी के गर्भ मे सदा के लिए समा गया अथवा अतीत में उत्खनन के लिए जो स्थान चयन किया गया था, वह मूल उज्जयिनी का स्थान न होकर वास्तव मे वह या तो सादीपनी आश्रम के पास हो या गढकालिका के पूर्व पश्चिम मे हो, जो बदलते जल प्रवाह से पूर्ण रूपेण नष्ट हो गया हो। ऐतिहासिक युग मे जनसख्या की वृद्धि के साथ बस्तियो की सख्या भी बढने लगी। अतः ताम्राश्मयुगीन स्थलो के अतिरिक्त अन्य स्थलो पर भी बस्तियाँ बसने लगी। ऐतिहासिक युग मे उज्जयिनी कितनी सम्पन्न थी, इसका विशद वर्णन हमे उस युग के ग्र थो मे मिलता है, जिसकी पुष्टि पुरातत्वीय साक्ष्यो से हो जाती है। पुरातत्व की दृष्टि से एतिहासिक युग मे उज्जैन जिले मे हमे चित्रित भूरे पात्र सस्कृति (Painted grey ware culture) काले और लाल पात्र सस्कृति (Black and Redware culture) (कही-कहीं चित्रित काले और लाल भाड भी मिलते हैं, जो एक स्वतन्त्र सस्कृति न होकर मेगा-

जैन वाङ्मय में उज्जयिनी

डॉ. हरेन्द्रभूषण जैन

जैन वाड्मय

जैन धर्म से सम्बधित वाड्मय का परिमान अपरिमित है। सस्कृत प्राकृत अपभ्रंश, कन्नडी एव तमिल भाषाओ मे निर्मित विशाल जैन साहित्य मे उज्जयिनि नगरी का अति समृद्ध वर्णन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त जैन शिलालेखो मे भी इस प्राचीन नगरी के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।

सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश जैन वाड्मय के आधार पर उज्जयिनी का जो स्वरुप निर्मित होता है उसकी चर्चा आगे की जायगी। दक्षिण की दो सभृद्ध भाषाओ कन्नडी एव तामिल के जैन वाङ्गमय मे उज्जयिनी का वर्णन उपलब्ध होना बडी महत्व की बात है। कन्नडी भाषा के यशोधर चरित्र (सन् १९०९) मे उज्जयिनी का उल्लेख किया है। कन्नडी की एक अन्य जैन रचना बेताल—पचविंशति कथा में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की कथाए लिखी गई है और वत्तीस पुतलो की कथा मे विक्रमादित्य के अतिरिक्त राजा भोज का भी उल्लेख है।[१]

तामिल साहित्य का जैन महाकाव्य सिलप्पदिकारम "आदि सगम काल" की रचना है। इसके छठे परिच्छेद में उज्जयिनी का उल्लेख है। यहा एक कैलाशवासी विद्याधर दक्षिण भारत का मार्ग बताते हुए कहता है कि हिमालय के बाद गगानदी पारकर उज्जयिनी नगर आवेगा।[२] इसका मतलब यह हुआ कि ईसा को प्रारभिक शताब्दी मे उज्जयिनी नगर उत्तर भारत का प्रमुख नगर था। अवन्ति नरेश ने चोलराज का स्वागत मणि मुक्ता खचित स्वर्णमय तोरणद्वार बना कर किया था, जिसका शिल्प-चातुर्य देखने की चीज थी।[३]

जैनशिला-लेखो मे भी उज्जयिनी के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मैसूर राज्य मे "श्रवणवेलगोल" नाम का एक प्रसिद्ध जैन तीर्थ है। वहा चन्द्रगिरि पर्वत पर शक सवत ५२२ का एक शिलालेख है, उसमे आचार्य भद्रबाहु को उज्जयिनी मे स्थित बताया गया है। वे अष्टांग महानिमित के ज्ञाता एव त्रिकालदर्शी कहे गये हैं।[४] कलुरगुड्ड (शिभोगा होब्ली) के सिध्देश्वर के मदिर मे सन् ११२२ का एक शिलालेख है, जिसमे लिखा है कि उज्जैन के राजा महिपाल ने इक्ष्वाकु नरेश पद्म-नाभको पराजित किया था जिसके कारण उनका पुत्र दडिग और माधव दक्षिण भारत को चले गए थे। वहा सिहनन्दि आचार्य की सहायता से वह "गगराज्य" स्थापित करने में सफल हुए।[५]

१—राईज कनरीज लिटरेचर कलकत्ता पृ० ४३-४७

२—दी सिलप्पदिकारम् ऑक्सफोर्डस पृ० १२२-२३

३—·········वही················ पृ० १४४-३२०

४—जैन शिला-लेख सग्रह, भा० प्र० पृ० २

५—सालेटोर-मेडीवल जैनिज्म पृ० ११

उज्जयिनी का स्वरुप

महापुराण के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की आज्ञानुसार इन्द्र ने भारतवर्ष मे ५२ देशो की रचना की थी, जिनमे एक अवन्ती देश भी था। उसकी राजधानी थी जो बाद मे उज्जयिनी के नाम से प्रसिद्ध हुई अवन्तिका का वैभव इन्द्र की राजधानी अमरावती से तुलना करता था इसलिये वह अमरावती कहलाई ।[१]

"कथाकाष" मे उज्जयिनी का वैभव का वर्णन इस प्रकार है। - उज्जयिनी नगरी रम्य एव दीर्घ जैन मन्दिरो, विशालराज मार्गो एव उत्तुगो प्रसादो से पूर्ण थी। वहा के बाग बगीचे मन मोहक थे। व्यापारिक पेठ (बाजार) होने के कारण दूर दूर के व्यापारी वहा आते थे [२] ।

"जसहरचरित्र" मे लिखा हैं कि अवन्ति-देश मे स्वर्गपुरी के समान उज्जयिनी नगरी है ३। उस नगर मे मरकत मणियो की किरणो से व्याप्त, हरित पृथ्वीतल मे मूड बुद्धि हाथी, घास और मधुरस की इच्छा को लेकर अपनी सू ड फेकते हुए मन्द गमन करते है। वहा घरो मे चन्द्रकात मणियो की प्रभा चम चमाती है, वहा की महिलाए पतिभक्त हैं। वहा बडे२ रत्न जडित क्यारियो मे सुगधित पुष्प अपना सौरभ बिखेर रहे है । वहा कोई उपद्रव नही हैं —

उज्जैनीणम तहिणयरि अत्थि जहि पाणि पसाराइ मत हत्थि ।

घत्ता—मरगयकर कलियाहि महियलि घुलियति फुरियहि हरियहि मूढमइ ।

विणडिउ वामइ रस विणासइ णणिउ मिट्ठि मदगइ [३] ।

करकडु चरिउ के अनुसार उज्जविनी नगरी नयनो को प्यारी एव सूर्य रश्मियो को भी लज्जित करने वाली है [४] । उज्जयिनी धन-धान्य से समृध्द थी। वहा कुत्रिकापण (बडी दूकाने जहा प्रत्येक वस्तुए प्राप्त होती है) होने का उल्लेख है [५] ।

उज्जयिनी प्राचीन काल से विद्या का केन्द्र रही है। वहा के राजा विद्यारसिक और कला चतुर थे। उज्जयिनी के राजकुमार चन्द्रप्रभ १७ भाषाओ के जानकार थे। उनके गुरु काल सदी १८ भाषाए जानते थे और धनुर्विद्या मे निष्णात थे। उन्होंने भगवान महावीर के निकट मुहि-दीक्षा धारण की थी [६]। श्रेष्ठिपुत्र तागदत्त उज्जयिनी मे एक अच्छा कवि था [७]। राजपुत्र नागदत्त सर्प विद्या मे निपुण था [८]।

मूल देव नामक राजा अशेष कलाकुशल अनेक विज्ञानो मे निपुण और उदारचित था। मूलदेव के पाटलिपुत्र की, गधर्वविद्या मे निपुण देवदत्ता नामक गणिका को वीणा-वादन मे परास्त किया था[९]। बनारस के राजा चन्द्रशेखर को जब एक निमित्त ज्ञानी की आवश्यकता हुई तो उनके मन्त्री ने बताया कि उज्जयिनी का एक प्रसिद्ध निमित्तज्ञानी ज्योतिषी आया है[१०]। नि सदेह उज्जयिनी अपनी ज्योतिष-विद्या के लिए सदैव प्रसिद्ध रही है।

१—जिनसेनाचार्य-महापुराण (स०) (इन्दौर) पृ ० ५६८

२—कथाकोष (स ०)-कथा न ३ (मराठी) पृ ० ६

३—महाकवि पुष्पदन्त—जसहर चरिउ (अप०) १।२१-२२

४—मुनि कनकामर-करकडुचरिउ (अप०) कारजा, पृ ० ७१

५—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन- प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ ० २२७

६—कथाकोष-भद्रबाहु की कथा।

७—महापुराण-७५। ७५-६५१०५

८—आराधना-कथा-कोष (स०), बम्बई, भाग १ पृ० १४४

९—प्रकृत कथा सग्रह, अहमदाबाद, पृ० ५६–६७

१०—'दी लाइफ एण्ड स्टोरीज ऑफ दी जैन सेवियर पार्श्वनाथ' वालटीमोर पृ० ९७-९८

उज्जयिनी सदा से जैन धर्म का केन्द्र रही है। महावीर की तपोभूमि होने के कारण अनेक जैन मुनि यहाँ भ्रमण हेतु आते थे और धर्म का प्रचार करते थे। अकम्पन मुनि अपने ७०० शिष्यों को लेकर यहां आये थे। उनसे प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियो ने धर्म-दीक्षा ली थी जिनका विवरण 'बृहत्कथाकोष' 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' तथा 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' मे है।

उज्जयिनी मे 'चैत्य-यात्रा उत्सव' मनाने की परम्परा थी। यहा एक जैन मन्दिर था जिसमे जीवन्त स्वामी की प्रतिमा थी। चैत्र मास मे उस स्थान पर एक विशाल उत्सव का आयोजन किया जाता था। उत्सव के अन्तिम दिन रथ यात्रा होती थी जिसमें सम्मिलित होने के लिये दूर प्रदेशो से बडे-बडे जैनाचार्य तथा साधु एव जैनसघ उज्जयिनी आते थे। राजा सम्प्रति के समय इस उत्सव मे भाग लेने के लिये पाटिलपुत्र से आर्य सुहस्ति और महागिरी आये थे[1]।

रथ यात्रा, जिसकी परम्परा आज भी उज्जयिनी मे सुरक्षित है, एक दर्शनीय उत्सव था। मनोहर रथ में स्वर्ण व माणिक्य की 'अर्हत् प्रतिमा' को स्थापित किया जाता था। स्थापना से पूर्व प्रतिमा का अभिषेक होता था। रथ को जैन-श्रावको द्वारा आगे खीचा जाता था। रथ के चारो ओर श्राविकाए मगलगान करती थी। रथ जिस मार्ग से जाता था उस मार्ग पर स्थित जैन मन्दिरो तथा उपासक गृहस्थों के गृहो के सम्मुख प्रतिमा की पूजा की जाती थी। राजा सम्प्रति ने भी राजसदन के अग्र-स्थित रथ प्रतिमा को अष्ट द्रव्य से पूजा की थी। उसका वर्णन 'परिशिष्ट पर्व' के ग्यारहवें अध्याय मे है।

'जसहर चरिउ' (१.२२) के अनुसार उज्जयिनी के राजा यशोर्ह् के पुत्र यशोधर के राज्यकाल मे पशुबलि का अधिक प्रचार था। किन्तु जैन मुनियों की अहिंसा धर्म युक्त शिक्षा से राजा और प्रजा दोनो ने पशुबलि को सर्वथा छोड दिया था।

ऐतिहासिक घटनाएं—

उज्जयिनी मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर की तपस्या ए प्रधान ऐतिहासिक घटना है। महावीर ने यहा अतिमुक्तक नाम के श्मसान मे प्रतिमा आसन को धारण कर कठोर तप किया था। रुद्र ने उनके तप में विघ्न डाला, किन्तु वे निश्चल रहे[2]। महावीर के सम्पर्क से ब्राह्मण, श्रेष्ठि, शूद्र आदि सभी वर्गों के लोगो ने जैन धर्म को स्वीकार किया। इनसे सम्बन्धित कथाए बृहत्कथाकोष, पुरातन प्रबन्ध सग्रह, प्रभावक चरित और प्रबन्ध कोष मे प्राप्त होती हैं। 'जयन्ती प्रकरण' के अनुसार महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर राजा प्रद्योत ने जैन धर्म को स्वीकार किया और परस्त्री-गमन का त्याग किया। महावीर की माता लिच्छवी राजचेतक की बहिन थी। चेतक की पाच पुत्रियो मे से एक शिवा नाम की पुत्री का विवाह अवन्ती नरेश चण्डप्रद्योत से हुआ था। इससे स्पष्ट है कि अवन्ती राज्य से महावीर का घनिष्ट सम्बन्ध था।

उज्जयिनी मे दिगम्बर और श्वेताम्बर रूप मे जैन सघ का भेद हुआ, यह भी एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के समय उज्जयिनी एक प्रातीय राजधानी थी। उस समय यहा का जैन सघ श्रुतकेवली भद्रबाहु की अध्यक्षता मे लोक प्रसिद्ध था। भद्रबाहु के मुख से उत्तर भारत मे बारह वर्ष के अकाल की बात सुनकर अनेक मुनि दक्षिण की ओर चले गये। इधर उज्जयिनी मे जो निर्ग्रन्थ श्रमण रह गए वे अकाल की कठिनाइयो मे पडकर दिगम्बर वेश को आवृत करने के लिये एक वस्त्र-खण्ड रखने लगे, जिसके कारण वे 'अर्द्ध फालक' (श्वेताम्बर) नाम से प्रसिद्ध हुए[3]।

रक्षा बन्धन पर्व का प्रारम्भ, उज्जयिनी की एक प्रसिद्ध घटना से सम्वन्धित है। एक समय उज्जयिनी मे श्रीधर्म नाम का न्यायशील राजा था। उस समय दिगम्बर मुनि श्री अकम्पनाचार्य अपने ७०० साधुओ के साथ उज्ज-

[1]—'परिशिष्ट पर्व' ११। २४

[2]—उत्तर पुराण (स०) ७४।३३१

[3]—'सक्षिप्त जैन साहित्य का इतिहास' सूरत, भाग २, खड १, पृ० २१८-२४४ तथा 'काणे मेमोरियल व्हाल्यूम' पूना पृ० २२८-२३७

यिनी आए। राजा बलि आदि मन्त्रियो सहित उनकी वन्दना के लिए गये। वहाँ बलि आदि मन्त्रि गण मुनि श्रुतकीर्ति से 'वाद' मे पराजित हुए। वे क्रुद्ध होकर मुनि-हत्या करने के लिये तत्पर हो गए। इस अपराध मे राजा ने उन्हे देश से निकाल दिया। कुछ दिन बाद उन्ही बलि आदि मन्त्रियो ने हस्तिनापुर मे आचार्य अकम्पन के साधु-सघ पर घोर उपसर्ग किया और मुनि विष्णुकुमार ने मुनि सघ की रक्षा की। तब से रक्षा वधन पर्व प्रचलित हुआ[1]।

उज्जयिनी मे महाकाल मन्दिर की स्थापना भी एक प्रसिद्ध घटना है। उज्जयिनी मे भद्रा अथवा यशोभद्रा नाम की श्रेष्ठिनी का अवन्ति सुकुमाल नामक एक अत्यत विलासी पुत्र था। वह आर्य सुहस्ति अथवा धर्म गुरु जिनसेन का उपदेश सुनकर जैन धर्म मे दीक्षित हो गया। एक समय जब कि वह तपस्या मे लीन था एक भूखी स्यारनी तथा उसके बच्चो ने उसके शरीर का भक्षण कर डाला, किन्तु वह ध्यान से विचलित नही हुआ। अवन्ती सुकुमाल की गर्भिणी वधु ने कुछ समय पश्चात एक पुत्र को जन्म दिया। उस पुत्र ने आगे चलकर अपने पिता के मरणस्थल पर एक विशाल मन्दिर बनवाया जो 'महाकाल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ.—

'गुर्व्या जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुलं महत्।
अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थान भूतले ॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यतेऽवन्तिभूषणम्।
महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकै. ॥[2]

महाकाल से सम्बन्धित एक और घटना जैन साहित्य में वर्णित है। महाराज विक्रम के काल मे सिद्धसेन दिवाकर नाम के एक ब्राह्मण कुलोत्पन्न जैन मुनि उज्जयिनी आये। विचरण करते हुए वे महाकाल वन के शिव मन्दिर मे गये, किन्तु उन्होने शिवलिंग को नमस्कार नही किया। इस बात से महाराज विक्रम अत्यन्त रुष्ट हुए। उनके आग्रह पर सिद्धसेन को शिवलिंग को नमन करना पडा। सिद्धसेन ने अपने 'कल्याण मन्दिर स्त्रोत' के द्वारा २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के नाम के साथ ज्योही शिवलिंग को नमन किया त्योही शिवलिंग से विस्फोट के साथ पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल पडी। पार्श्वनाथ का चिन्ह सर्प है, अत उनकी मूर्ति मे मस्तक के ऊपर सर्प की फणावली रहती है। इसी कारण शिवलिंग से सबसे पहले सर्प की फणावली निकली:—

शिवलिंगादुदंच्चात्र कियत्काल फणावलिः।[3]

अवन्ति सुकुमाल और महाकाल मन्दिर का वर्णन श्वेताम्बर एव दिगम्बर जैन साहित्य के लगभग ४० ग्रन्थो मे उपलब्ध है।

कालकाचार्य और राजा गर्दभिल्ल से सम्बन्धित एक घटना उज्जयिनी के इतिहास मे महत्वपूर्ण है। सम्राट खारबेल के वशज गर्दभिल्ल नाम के राजा ने उज्जयिनी पर शासन किया। यह राजा नैतिक चरित्र से स्खलित था। उसके समय मे अर्धफालक (खण्डवस्त्र धारी) कालक नाम के जैन आचार्य प्रसिद्ध थे। उनकी सरस्वती नाम की बहिन थी जो साध्वी हो गई थी। गर्दभिल्ल साध्वी सरस्वती के रूप सौन्दय पर मुग्ध हो गया और उसने बलात् उसे अपने अन्त.पुर मे रख लिया। कालकाचार्य के लिए यह असह्य था। उन्होने शकवश के राजाओ को गर्दभिल्ल के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया। शकराज अपने आक्रमण मे सफल हुए और उनका अधिकार उज्जयिनी पर हो गया। सरस्वती का भी उद्धार हुआ और वह प्रायश्चित लेकर पुन. साध्वी हो गई।[4]

राजा एवं महापुरुष

उज्जयिनी मे अनेक इतिहास प्रसिद्ध जैन राजा एव महापुरुष हुए हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने विभिन्न

१—हरिवश पुराण (स०) २०।१-६, हरिषेण कथा, कथा न० ११

२—परिशिष्ट पर्व ११, १६७-१७७

३—प्रभावक चरित्र पद्य १५२

४—कालकाचार्य कथानक (दी लार्ड वाल्टीमोर प्रेस, वाल्टीमोर, १६३३) तथा प्रभावक चरित्र (बम्बई), पृ. ३६-४४

देशो के शासक अनेक क्षत्रिय पुत्र नियुक्त किये थे। उनमें एक अवन्ती नरेश भी थे। जब ऋषभदेव के पुत्र भरत ने अखिल-भारतीय-साम्राज्य की स्थापना की और छह खण्ड पृथ्वी को जीता, तब अवन्ती भी उनके शासन के अधीन हुई। इसलिए उज्जयिनी के प्रथम सम्राट चक्रवर्ती भरत ही प्रकट होते हैं।[१]

उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत महावीर के अनन्य भक्त थे। उनके पश्चात् महावीर के निर्वाण दिवस पर पालक नाम के राजा सिंहासनारूढ हुए जो जैनधर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् थे। "जयन्ती प्रकरण' मे उज्जयिनी के राजा प्रद्योत से सबधित एक कथा है। राजा प्रद्योत कौशाम्बी के राजा शतानीक की पत्नी मृगावती को प्राप्त करना चाहता था। इस बात पर दोनो राजाओ मे युद्ध हुआ। अन्त मे मृगावती ने महावीर से समक्ष मे श्रमणी दीक्षा धारण की और राजा प्रद्योत को महावीर ने 'परस्त्री वर्जन' का उपदेश दिया।[२]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के उपदेश से प्रभावित होकर महाराज विक्रम ने जैन धर्म अगीकार किया था।[३] जैन-कथाओ में सुन्दरी देवी एव महाराज विक्रम के प्रणय से सबधित एक कथा उपलब्ध है। सुन्दरी देवी, विक्रम के चरित्र को सुनने के पश्चात् उनसे प्रेम करने लगी। उसने एक प्रेम पत्र भी महाराजा विक्रम को लिखा। पत्र पाकर विक्रम ने सुन्दरी का उद्धार किया[४]। अनेक जैन कथाओ में विक्रम के मुख से जैनधर्म का उपदेश दिलाया गया है[५]। परमारवश के राजा भोज ने उज्जयिनी में अपनी राजधानी स्थापित की थी। इन राजाओ मे अनेक अपनी विद्या रसिकता के लिए प्रसिद्ध थे। राजा मुज के दरबार मे धनपाल पद्मगुप्त, धनजय आदि अनेक विद्वान् थे। जैनाचार्य महासेन ने उनसे विशेष सम्मान प्राप्त किया था। धनपाल और उनके भाई शोभन जैनधर्म मे दीक्षित हुए। आचार्य अमितगति इस समय के जैन यतियो मे प्रमुख थे[६]।

मुञ्ज के समान राजा भोज के दरबार मे जैनो को विशेष सम्मान प्राप्त था। प्रभाचन्द्राचार्य का उन्होने विशेष सम्मान किया था। दिगम्बर जैनाचार्य श्री शान्तिसेन ने भोज की सभा मे सैकडो विद्वानो को वाद-विवाद मे परास्त किया[७]।

'चतुर्विशति प्रबन्ध' से प्रकट है कि उज्जयिनी मे विशाल कीर्ति नामक दिगम्बराचार्य के शिष्य मदन कीर्ति ने परवादियो पर विजय प्राप्त कर 'महाप्रामाणिक' पदवी प्राप्त की थी[८]।

'श्रीपाल कथा' मे उज्जयिनी के राजा प्रजापाल की एक सुन्दर कथा है। प्रजापाल राजा की दो पत्निया थी सौभाग्य सुन्दरी और रूप सुन्दरी। सौभाग्य सुन्दरी माहेश्वर कुल की थी और रूपसुन्दरी जैन श्रावक के घर पैदा हुई थी। प्रजापाल के पहली पत्नि से सुरसुन्दरी और दूसरी पत्नी से मदनसुन्दरी नाम की पुत्रिया उत्पन्न हुई।

दोनो राजकुमारियाँ विद्याध्ययन करके लौटी। एक दिन राजा ने दोनो से वर के सबध मे प्रश्न किया। सुरसुन्दरी ने उत्तर दिया कि जो कुशल, तरुण एव रूप लावण्य से सम्पन्न हो, ऐसा वर मुझे पसद है। मदनसुन्दरी ने कहा कि कुलीन बालाए वर के सबध में कुछ नही कहती। माता पिता जो वर खोज दें, वही उन्हे मान्य होता है, एव अपने कर्मो से सब कुछ होता है। पुण्यशील

---

१ श्री कामता प्रसाद 'विक्रमस्मृति ग्रन्थ' पृ० ४४७
२ मानुतुगसूरि—जयन्ती प्रकरण पृ० ५६६
३ प्रभावक चरित्र—(स०) 'वृद्धवादि चरित्र' श्लोक न० ७६ का प्रबन्धचिन्तामणि (स०) विक्रमार्क प्रबन्ध
४ पाण्डेय—कथा सग्रह (प्रा०)
५ भवदेवसूरि—'पार्श्वनाथ चरित्र' सर्ग ३
६ भारत के प्राचीन राजवश भाग १ पृ० १०३-१०४
७ भारत के प्राचीन राजवश भाग १ पृ० ११८-१२१
८ जैन हितैषी भाग १ पृ० ४८५

कन्या को छोटे कुल मे देने से वह सुखी होती है और पुण्यहीन कन्या को अच्छे कुल में देने से भी वह दुःख भोगती है। राजा ने क्रुद्ध होकर मदनसुन्दरी का विवाह उज्जयिनी के एक कोढी पुरुष से कर दिया। वह उसकी सेवा शुश्रुषा मे तत्पर रहती। कालान्तर मे सिद्ध-चक्र के माहात्म्य से कोढी का कोढ नष्ट हो गया और दोनो आनन्द पूर्वक रहने लगे। इस कथा का नायक कोढी श्रीपाल था जो आगे चलकर उज्जयिनी का एक महापुरुष बना[१]।

जैन भट्टारको का पट्टस्थान

गुप्तकाल से उज्जयिनी जैनभट्टारको का केन्द्र नियत हुआ। वहा पर निम्नलिखित दिगम्बराचार्य प्रसिद्ध हुए— १ महाकीर्ति (स० ६२६) २ विष्णुनन्दि (स० ६४७), २ श्रीभूषण (स० ६६८) ४ श्रीचन्द (स० ६७८), ५ श्री नन्दि (स० ६६२) ६ देशभूषण (स० ६६८), ७ अनन्तकीर्ति (स० ७०८) ८ धर्मनन्दि (स० ७२८), ६ विद्यानन्दि (स० ७५१), १० रामचन्द्र (स० ७८३), ११ रामकीर्ति (स० ७६०), १२ अभयचन्द्र (स० ८२१), १३ नरचन्द्र (स० ८४०) १४ नागचन्द्र (स० ८५६), १५ हरिनन्दि (स० ८८२), १६ हरिश्चन्द्र (स० ८६१), १७ महीचन्द्र (स० ६२७), १८ माघचन्द्र (स० ६३३), १६ लक्ष्मीचन्द्र (स० ६६६) २० गुणकीर्ति (स० ९७०), २१ गुणचन्द्र (स० ६६१) २२ लोकचन्द्र (स० १००६), २३ श्रूतकीर्ति (स०१०२२) २४ भावचन्द (स० १०३७), और २५ महीचन्द्र (स० १०५८)[२]।

इस प्रकार उज्जयिनी अति प्राचीन काल से जैन धर्म, सस्कृति एव विद्या के केन्द्र के रूप मे प्रसिद्ध रही है। आज भी उज्जयिनी मे अनेक जैन मन्दिर, जैन-शालाएं एवं जैन सघ उज्जयिनी के उस प्राचीम गौरव को आलोकित करते प्रतीत होते है।

१ रत्नशेखर सूरि 'सिरिवाल कथा' (प्रा०) पृ० ४८१-८२
२ जैन हितैषी भाग ६ अक ७-८ पृ० २८-३१

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।

जलदो के समान सज्जनो का ग्रहण त्याग के लिए ही होता है।

—मेघदूत

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

गाडी के हाल के समान दशा नीचे और ऊपर आती जाती रहती हैं। "सबै दिन नाहि बराबर जात।"

—मेघदूत

उज्जैन जिला-ऐतिहासिक स्थल

श्री नारायण व्यास

मध्यप्रदेश मे उज्जैन जिला पुरातत्व तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योकि उज्जैन जिले मे कई महत्वपूर्ण ग्राम है, जो प्राचीन है। इनको देखने से पता चलता है कि इन ग्रामो की सम्यता ताम्राश्मयुग से प्रारम्भ हुई थी तथा परमार काल तक चली, ऐसा वहा के अवशेषो से ज्ञात होता है। श्री व्ही० एस० वाकणकर के अनुसार इनका समय २ हजार वर्ष ईसा पूर्व से प्रारम्भ होता है। इन ग्रामो मे मुख्य रूप से निम्नलिखित ग्राम हैं'—

१. कायथा:—

उज्जैन से करीब १४-१५ मील दूर मक्सी रोड पर कायथा ग्राम स्थित है, जो कि विक्रमादित्य के नवरत्न वराहमिहिर की जन्म-भूमि मानी जाती है। यहा सर्वप्रथम उत्खनन कार्य विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन ने करवाया था तथा इसमे विभिन्न कालो की सम्यताए' मिली, जिससे प्राचीन समय के सामाजिक जीवनका भी पता चलता है। यहा के विभिन्न कालो को हम इस प्रकार रख सकते हैं—

ताम्राश्मयुग के पूर्व की सभ्यता:—

इस काल के प्रथम भाग मे कुछ लाल रग के मोटे पात्र मिले हैं जो कि झारडा ग्राम मे भी पाये जाते हैं। इसी काल के द्वितीय भाग मे आहाड़ सम्यता के भी दर्शन होते हैं। यह सभ्यता उदयपुर के पास मे सर्वप्रथम प्रकाश मे आई थी तथा आहाड सम्यता कहलाई। वहाँ के सफेद चित्रित लाल तथा काले पात्र मिले थे जिन पर नाना प्रकार की ज्यामितिक आलेखन था।

मालवा ताम्राश्मयुगीन सभ्यता:—

कायथा की खुदाई के द्वितीय तह मे मालवा सभ्यता के दर्शन होते है, जिनमे कई प्रकार के अवशेष मिलते हैं। इस सभ्यता की मुख्य विशेषता यह है कि इनमे काले चित्रित लाल पात्र मिलते हैं, जिन पर विभिन्न प्रकार के आलेख देखने को मिलते हैं। इसके अतिरिक्त चित्रित तथा सादी मृण्मूर्तिया भी मिली, जो कि विभिन्न प्रकार के वेलो की है। साथ-साथ लघु अश्म,औजार,चूडिया एव अन्य कई सामग्री भी मिली है। [यहां कुछ मकानो के अवशेष भी मिले हैं। अवशेषो से पता चलता है कि यहाँ पर वास का प्रयोग किया जाता था।

मौर्य, शुंग तथा कुषाण काल:—

यहाँ मौर्यकाल के वर्तनो में मुख्य रूप से एन० वी० पी० मिलती है अर्थात् वहुत सुन्दर लेप किए हुए हैं जो कि मौर्य काल की एक विशेषता है। शुग काल मे यहाँ मिट्टी के खिलौने अधिक मात्रा मे वनाये जाते थे तथा कुछ

सुन्दर स्त्री प्रतिमाएं जो कि मिट्टी की थी, प्राप्त हुई है। इन मिट्टी की प्रतिमाओ के अतिरिक्त कुछ ढ़ाले हुए तावे के सिक्के भी मिले हैं, जिन पर विभिन्न प्रकार के चिन्ह मिलते है।

गुप्तकालः—

यहा पर गुप्तकाल के खुदाई मे पकी मिट्टी की ईंटो के अवशेष भी मिले हैं। यहाँ ई टे बहुत सुन्दर तथा बड़ी ई टे बनाई जाती थी। यहाँ कुछ चावल, गेहूँ के भी अवशेष मिले हैं, जो कि जले हुए थे। यहाँ पर एक बुद्ध प्रतिमा भी मिली हैं, जो छोटी होने के कारण टूटी हुई भी थी।

उपरोक्त काल कायथा सस्कृति के मुख्य काल माने जाते हैं तथा मूर्तिकला के क्षेत्र मे भी कायथा एक उत्तम तथा प्रगतिशील ग्राम था। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमें विक्रम विश्वविद्यालय सग्रहालय में रखी सूर्य प्रतिमा से मिलता है।

२. रूनीजाः—

रूनीजा ग्राम बडनगर तहसील में स्थित है, जो कि काफी ऊचे टीले पर बसा हुआ हैं। रूनीजा भी कायथा के समकालीन ग्राम माना जाता हैं, परन्तु यहा पर जिस प्रकार कि कायथा में उससे पूर्व की सभ्यता मिलती है, वह यहाँ नही है, परन्तु मालवा सभ्यता यहा पर काफी मात्रा में दिखाई देती है, अवशेषो के साथ-साथ। इस ग्राम में अभी उत्खनन नही किया गया है। परन्तु प्राप्त पात्रो से हम कह सकते हैं कि यहाँ पर भी विभिन्न कालो में विभिन्न प्रकार की सभ्यताए हुई तथा समाप्त हुई। जिनमें मालवा, मौर्य, शु ग, गुप्त मुख्य है। यहाँ मालवा ताम्राश्म युग के बहुत ही सुन्दर-सुन्दर पात्र मिले हैं। इसके साथ एक पत्थर की गेंद तथा एक मिट्टी का खिलौना भी मिला है। यहा एक कटे हुए टीले के देखने से ज्ञात होता है कि यह गाँव आग से भस्म हुआ था, क्योकि उसी टीले के पात्र में रखे जले हुए गेहूँ भी प्राप्त हुए हैं। इस ग्राम की सभ्यता का समय लगभग १८०० वर्ष ई० पू० मानी जाती है।

३. गजनीखेड़ीः—

गजनीखेडी बडनगर तहसील मे रूनीजा के पास ही स्थित है। श्री वाकणकर के अनुसार भी यह ताम्राश्मयुगीन ग्राम है, परन्तु इस ग्राम में अभी प्रत्यक्ष रूप से उस समय के अवशेष नही मिले हैं, परन्तु कभी न कभी अवश्य प्राप्त होगे, परन्तु इस गाव मे एक बहुत ही सुन्दर अभिलेख सहित परमार कालीन चामुण्डा का मन्दिर है। यह मन्दिर पूर्वी परमार राजाओ के समय का है। उत्तर तथा पूर्वी परमार राजाओ ने अपने-अपने समय मे विभिन्न पत्थरो का प्रयोग किया था। यह मन्दिर अब काफी गिर चुका है तथा अधिकतर सुन्दर मूर्तियाँ भी नष्ट कर दी गई है, परन्तु अभी कुछ मूर्तियाँ बहुत ही सुन्दर है जिनमे गणपति, चामुण्डा की प्रतिमा मुख्य है। इस मन्दिर का गर्भगृह जिसमे मुख्य प्रतिमा रखी जाती थी मौजूद है तथा महामण्डप, तथा मुख मण्डप नष्ट कर दिये गये है। मन्दिर की दीवारो का केवल कुछ भाग ही बचा हुआ है तथा जगमोहन, शिखर, मस्तक आदि समाप्त हो चुके है। मन्दिर के पास ही इसका वास्तविक आमलक तथा कलश आज भी मौजूद है। यहा की सिह प्रतिमाओ को देखने से लगता है कि इन पर अवश्य ईरानी तथा विदेशी प्रभाव रहा होगा। इस मन्दिर के स्तम्भो पर भी बहुत सुन्दर नक्काशी का कार्य किया हुआ है, जो परमार कालीन स्थापत्य कला की एक बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता है। यह मन्दिर लगभग ११ सौ या १२ सौ वर्ष प्राचीन माना गया है।

४. कराड़ियाः—

कराडिया ग्राम बडनगर मे चामला नदी के किनारे पर स्थित था। आज इसे वेचिराग गाँव साधारण भाषा मे कहा जाता है। यहाँ कई प्रकार के टीले हैं, जो मौर्य कालीन माने गये हैं। यहाँ एक खेत मे मौर्य कालीन पात्र काफी मात्रा मे पाये गये हैं। दूर से देखने पर यह जगह एक अलग प्रकार की ही लगती है। यहा हनुमान मन्दिर के पास के टीले पर कई ईंटे भी देखी गई है, जो मौर्य कालीन है। इसके अतिरिक्त कुछ लाल चिकने पात्र मिले हैं, जो गुप्तकाल के माने जाते हैं। यह ग्राम

अवशेषो के आधार पर २३०० वर्ष पुराना माना जा सकता है।

५. विरगोदा रणधीर:—

कराडिया से कुछ दूरी पर ही यह गात्र स्थित है। इस गांव मे एक प्राचीन समय का मौर्यकालीन कुआ खोजा गया है। इसमें प्रत्यक्ष रूप से हम मौर्यकालीन ईंटें देख सकते हैं। गाव के वृद्ध लोग भी कहते हैं कि जब इसका पानी सूख जाता है तो वडी-वडी ई टे प्रत्यक्ष रूप मे देखी जा सकती हैं। यह कुआ विभिन्न काल मे वना है, क्योकि इसमे मौर्यकाल व गुप्तकाल की ई टो का प्रयोग किया गया है। कुछ समय पूर्व इन्ही ईंटो को गाँव के लोगो ने सिमेन्ट से मजवूत भी कर दिया है। इस ग्राम से ताम्राश्मयुगीन कोई अवशेष प्राप्त नही हुए है। मूर्तिकला के क्षेत्र में यह ग्राम प्रगति नहीं कर सका, क्योकि यहा कुछ अपूर्ण प्रतिमाएं भी देखी गई है।

६. झारड़ा, महिदपुर, बैंजनाथ:—

कुछ दिनों पुर्व ही श्री हरिभाऊ वाकणकर ने यहा की प्राचीन सभ्यता की खोज की है। कायथा पूर्व सस्कृति पाई गई हैं तथा उनके अनुसार—'जिस प्रकार कायथा में ताम्राश्मयुग से पूर्व के पात्र मिले हैं, उसी प्रकार यहाँ पर भी वैसे ही पात्र मिले हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ पर आहाड सभ्यता के पात्र, मालवा सस्कृति के पात्र भी मिले हैं, जो कि कायथा तथा रूनीजा के समकालीन ही माने जाते हैं। यहाँ पर बैंजनाथ का परमारकालीन वहुत ही सुन्दर मन्दिर प्राचीन काल से ही यथावत् खडा है। यहाँ हजारो मूर्तियाँ प्राप्त हुई है, जिनमे से वराह, शिवपार्वती, चामुण्डा, दशावतार विष्णु आदि की प्रतिमाए मुख्य हैं। जिनका समय १००० से १२०० वर्ष प्राचीन है।

७. दंगवाड़ा:—

यह गाव भी वडनगर तहसील में ही आता है, जो विभिन्न कालो से सम्वन्वित है। यहाँ एक विशाल टीला है, जो कि चम्बल नदी के किनारे पर स्थित है। यहाँ पर मालवा ताम्राश्मयुग, मौर्यकाल, शुग, कुषाण तथा गुप्तकाल के अवशेष पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। यहा पर खोज के समय मे काफी प्राचीन सिक्के, मिट्टी के पात्र तथा अन्य कई प्रकार के अवशेष मिले हैं। यहाँ के सिक्को में सवसे सुन्दर कुषाण तथा क्षपत्र सिक्के है। प्राचीन समय मे रूद्रदामन यहाँ का महाक्षत्रप था तथा उज्जयिनी उसकी राजधानी थी। यहाँ पर रूद्रदामन के चादी के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ पर मौर्यकाल के पचमार्क तथा ढाले हुए सिक्के भी मिलते हैं, जिन पर उज्जयिनी चिन्ह तथा अन्य विभिन्न प्रकार के चिन्ह भी मिलते हैं। यहा मौर्यकालीन सिक्को मे महाकाल का सिक्का वहुत ही महत्वपूर्ण है, जिस पर एक व्यक्ति पात्र तथा दण्ड लिये खडा हुआ है। मूर्तिकला के क्षेत्र मे यह गाँव बहुत ही प्रगतिशील रहा है, क्योकि यहां टीले के ऊपर वोरेश्वर नामक एक शिव मन्दिर है जो विभिन्न कालो मे वना है। इस मन्दिर मे विभिन्न हिन्दू देवीदेवताओ की प्रतिमाए परमार काल की मिलती हैं।

८. करोहन:—

प्राचीन समय में परमार वश एक प्रसिद्ध राजवश था, जिसमे कई प्रतापी राजा हुए जिनमें भोज, उदयादित्य आदि प्रमुख थे। परमारो की राजधानी धारा नगरी (वर्तमान धार) होने के कारण उनका राज्य उज्जैन तथा उनके आसपास के क्षेत्रो पर भी था, जिनके अवशेष आज हमे प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार परमारकालीन अवशेष हमे उज्जैन नगर के दक्षिण में ग्राम करोहन मे भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की प्रतिमाएं तथा मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए है। इन अवशेषो से निर्णय निकालता है कि ये निश्चित ही परमार कालीन होना चाहिये। इस ग्राम मे प्रसिद्ध पिंगलेश्वर महादेव का मन्दिर, जिसे कि परमारकालीन मन्दिर के अवशेषो द्वारा वनाया गया था, आज भी विद्यमान है। इस मन्दिर में परमारकालीन वहुत ही सुन्दर-सुन्दर प्रतिमाएं देखने को मिलती है। जिनमे शिवलिंग तथा नन्दी विशेष उल्लेखनीय

है। यह मन्दिर एक उपपीठ पर बनाया गया है, जिसके ऊपर मन्दिर का प्रमुख भाग है। उपपीठ के ऊपर दीवार है, जिसे स्थापत्य की दृष्टि से जघा भी कहते हैं। जघा के ऊपर हमे प्रस्तर भी देखने को मिलता है। प्रस्तर के पश्चात मन्दिर का शिखर है, जिसे स्थापत्य शास्त्र मे विमान भी कहते हैं, आज भी बहुत सुन्दर लगता है। इस मन्दिर को दो भागो मे विभाजित किया गया है। प्रथम भाग मुख मण्डप कहलाता है तथा दूसरा भाग गर्भगृह कहलाता है, जिसमे प्रमुख प्रतिमा रखी जाती है। मुख मण्डप मे बहुत ही सुन्दर परमार कालीन स्तम्भो का यहा प्रयोग किया गया है।

मन्दिर के कुछ पास मे ही ऊची जगह पर भी परमारकालीन मन्दिर के अवशेष मिलते हैं तथा कई प्रकार की खण्डित प्रतिमाए भी देखने को मिलती हैं, जिनमे मुख्य रूप से सूर्य, गणपति, विष्णु, उर्ध्वलिंगी लकुलीश तथा अन्य देवी देवताओ की प्रतिमाए भी हैं। परन्तु इन सभी प्रतिमाओ मे सबसे सुन्दर भगवान विष्णु की प्रतिमा है, जो कि चतुर्भुज रूप मे है। इस प्रतिमा में विष्णु के हाथो मे शख, चक्र तथा गदा विशेष उल्लेखनीय है। परन्तु इस प्रतिमा मे विष्णु के दशावतारो को बहुत ही सुन्दर ढग से बनाया गया है। इनमे क्रमश: हमे मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिह, वामन, राम, परशुराम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध अवतार देखने को मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान विष्णु का अगला कलकी अवतार भी हमे देखने को मिलता है। इस प्रतिमा मे विष्णु के ऊपर दोनो हाथो के पास भगवान शिव तथा ब्रह्मा को बहुत ही सुन्दर ढग से प्रदर्शित किया है।

इन मन्दिरो के अवशेषो के कुछ दूरी पर एक गुफानुमा स्थान है, जिसके पास एक बावडी के अवशेष भी मिले हैं। इस स्थान पर एक बहुत ही कलापूर्ण वराह प्रतिमा है, जिसमे हमे भगवान विष्णु के अवतार, अमृत मथन तथा विभिन्न मुनियो को भी बहुत सुन्दर ढग से बनाया गया है। इन अवशेषो के अतिरिक्त इनसे कोई प्राचीन अवशेष नही मिलता है। यह सभी अवशेष लगभग एक हजार वर्ष प्राचीन माने जाते हैं।

९. पिपलौदा द्वारकाधीश—

पिपलौदा द्वारकाधीश देवास रोड पर पालखन्दा ग्राम से करीब एक दो मील पर स्थित एक टीले पर बसा हुआ है। प्राप्त अवशेषो से यह टीला तथा ग्राम मौर्यकालीन है, क्योकि यहाँ अवशेषो में मिट्टी की बडी-बडी नादे मिली है तथा हम जिन्हे प्रत्यक्ष रूप मे वहा की गलियो में भी देख सकते हैं। इस टीले के किनारे से एक नाला बहता है, उसके किनारे पर मौर्य तथा गुप्तकाल के कई पात्र भी मिले है। इस गाँव मे प्राचीन समय के पत्थर के कई चबूतरे भी बने हुए हैं, जिन पर परमारकालीन प्रतिमाए भी देखी जा सकती हैं। वहाँ पर ठा० सजनसिंह के कुए मे से भी कुछ समय पूर्व बहुत विचित्र छोटी सी प्रतिमा निकली थी, परन्तु अभी तक यह निर्णय नही किया जा सका है कि वह किस देवता की है। परन्तु इस प्रतिमा मे गणपति को पहचाना जा सकता है। यह प्रतिमा परमार काल से पूर्व की मानी जाती है। यहाँ प्रतिमाओ मे सबसे सुन्दर गणपति तथा सूर्य की प्रतिमा हैं, जो कि काफी सुन्दर है। सूर्य भगवान खड़े हुए हैं तथा दोनो हाथो मे कमल बतलाये गए हैं। इनके अतिरिक्त भगवान सूर्य के चरणो मे घोडा रूपी एक मनुष्य भी बताया गया जो कि एक विचित्रता लिये हुए है। यह मूर्ति सैण्ड स्टोन की बनी हुई है, जो कि पूर्वी परमारो के समय की मानी जाती है। अवशेषो के आधार पर यह ग्राम २३ सौ वर्ष प्राचीन माना जाता है।

१०. ताजपुर:—

उज्जैन तहसील के अन्तर्गत ताजपुर ग्राम भी आता है। अवशेषो के आधार पर यह ग्राम परमारकालीन माना जाता है तथा यहाँ पर इनके अतिरिक्त मराठा काल के मन्दिर भी देखने को मिलते हैं। इस ग्राम की मुख्य विशेषता यह है कि यहाँ पर बहुत ही कम परन्तु बहुत ही सुन्दर छोटी प्रतिमाए बनी हैं। जिनमे भगवान विष्णु की प्रतिमा बहुत ही सुन्दर काले पत्थर की बनी है। जिसमें भगवान विष्णु खडे हुए बताये गए हैं तथा वे शख, चक्र, गदा, पद्म युक्त है तथा उनकी आखें अध खुली बताई गई है।

जिन्हे रत्न कीरीट (मुकुट) पहने बताया गया है। उनके पैरो के आसपास से क्रमश. उनके शंख पुरुष तथा चक्र पुरुष खडे हुए हैं, जो कि हाथो मे शख तथा चक्र लिये हुए है। भगवान विष्णु के दोनो हाथो के ऊपर पुस्तक लिये ब्रह्मा बताये गए हैं तथा भगवान शिव को सर्प लिये बताया गया है। कुछ प्रमुख चिन्हो के द्वारा प्रतिमाए बहुत ही जल्दी पहिचानी जा सकती है।

११. सौढंगः—

उज्जैन के निकट ही सौढग गाव स्थित है, जो कि २३ सौ वर्ष प्राचीन माना जाता है। प्राचीन समय मौर्य काल में अशोक महान तथा प्रतापी सम्राट हो चुका था। उसने धर्म के नाम पर बौद्ध धर्म को काफी फैलाया था और लोग धर्म को जाने इसलिये उसने विभिन्न स्थानो पर स्तभ लेख खुदवाये तथा उन पर बुद्ध धर्म से सम्बन्धित विभिन्न जानवरों (पशुओ) की मूर्तियां उन स्तभो के शीर्ष भाग मे लगवाई। उसी प्रकार का एक स्तभ लेख उसने इस ग्राम मे लगवाया होगा, जो कि आज मिलता नहीं है, परन्तु उसका स्तॅभ शीर्ष आज प्राप्त हो चुका है। बुद्ध के जन्म के प्रतीक हाथी को माना गया है तथा इसी सन्दर्भ मे एक विशाल हाथी यहां पर भी प्राप्त हुआ, जो काफी टूट चुका है, केवल अब उसका मुख्य धड ही प्राप्त हुआ है। उसके सूड तथा पैर पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं . निचले भाग में आज भी मौर्यन पालिस विद्यमान है, जिसको अभी तक नही पहचाना जा सका है कि वह क्या लेप था। इसका पत्थर बौद्ध गया के पास चुनार पहाडी का है, जो कि भूरे रंग का तथा काले बारीक छीटो वाला है। इसके अतिरिक्त और भी कई अन्य अवशेष भी यहां प्राप्त हुए हैं।

१२. कमेड्ः—

कमेठ ग्राम प्रसिद्ध मगलनाथ मन्दिर के पीछे की तरफ स्थित है। यह ग्राम अधिक प्राचीन नही माना गया है। इस गाव मे सर्वप्रथम अवशेषो की खोज श्री वाकणकर ने की थी। यह ग्राम यहां की मूर्तिकला मे बहुत ही प्रसिद्ध है। यहां परमार राजाओ के आश्रय में कई प्रकार की मूर्तियां बनी, जो काफी विशाल भी थी, जिनमे शिव, विष्णु इत्यादि है।

उपरोक्त मुख्य गांवो के अतिरिक्त और भी कई अन्य गांव है, जिनमे आज भी प्राचीन सभ्यता छुपी पडी है, जो कि पुरातत्ववेत्ताओ की कुल्हाड़ी, फावडो तथा गेतियो का इन्तजार कर रही है।

हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः।

हस दूध मिले जल से दूध ले लेता है और जल छोड़ देता है।

—शाकुन्तला

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेत
अमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।

ईश्वर की इच्छा से कही विष भी अमृत हो जाता हैं और अमृत भी विष।

—रघुवश

कालिदास के काव्यों में 'दर्शन'

दयाशंकर वाजपेयी

महाकवि कालिदास के काव्य और नाटक भारतीय सस्कृति के कोष है। उनमें देश की सस्कृति, समाज, सभ्यता तथा साहित्य के सभी बड़े सरस तथा कलापूर्ण ढग से यथादेश निहित हैं। जहां प्राकृतिक वर्णन हैं, वहा वन, उपवन, नदी, पर्वत, खेत ग्राम, नगर, जनपद— सभी मनोहर लगते हैं। समाज के सभी सस्कार व्यवहार तथा जीवनोपयोगी शास्त्रीय उपकरण सदाचार के निर्देशक धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त इनकी लेखनी के क्षेत्र में आ गये है। तात्कालिक समाज को अनायास ही महाकवि के काव्य दर्पण मे देखा जा सकता है। इस महानिधि में से दर्शन का रमणीय रूप प्रस्तुत लेख मे दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

महाकवि कालिदास ने जैसे विविध वर्णनो मे अपना कौशल दिखाया है, वैसे ही प्रसग आने पर दर्शनो का सार भी बड़े सरस ढग से प्रस्तुत किया हैं। ऐसे सिद्धान्तो को देवो द्वारा की हुई ब्रह्मा, विष्णु की स्तुतियो में विस्तार से दिखाया है। उनकी लेखनी से तात्कालिक दर्शनो के सिद्धान्त तथा कवि की मान्यता—दोनो का चित्रण हुआ है। वेदान्त, साख्य, योग तथा भक्ति इन प्रकार दर्शन की तीन विधाओ का सकेत "विक्रमोर्वशीय" के मगलाचरण में मिलता है। यथा—जिन शकर जी को उपनिषदो मे आकाश और पृथ्वी को व्याप्त करके स्थित एक पुरुष कहते हैं, और साख्यादि जिन्हे ईश्वर के नाम से पुकारते है तथा हृदय में प्राणादिको का नियन्त्रण करके मोक्षार्थी योगी जिसे ढूढते हैं। वे स्थिर भक्ति योग से सुलभ शकर जी तुम्हारा मगल करें[१]।

उन्होने साख्य दर्शन की चर्चा अधिक की हैं। परमात्मा सृष्टि के पहिले एक रूप मे स्थित रहता हैं। सृष्टि के समय सत्व, रज, तम गुणो के अनुसार उसके तीन रूप तथा तीन कार्य हो जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा सृष्टि स्थिति, प्रलय[२]।

सांख्य के प्रकृति और पुरुष परमात्मा के ही दो रूप हैं। प्रकृति पुरुष के लिये सब कार्य करती है। पुरुष द्रष्टा और जल में कमल पत्र के समान उदासीन निर्लेप रहता है[३]।

वेदो की उत्पत्ति ओकार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरो के सहित परमात्मा से ही हुई है वेदो का कार्य यज्ञ है, फल स्वर्ग है[४]।

सृष्टि चलाने के लिये उन्होने अपने शरीर के—स्त्री और पुरुष दो भाग किए, उन दोनो से ही स्थावर, जगम

१ "विक्रमोर्वशीयम्" १।१।

२ "कुमारसम्भव" २॥४॥

३ ,, २ ।१३।

४ ,, २ ।१२।

सृष्टि का प्रसार होता गया[१]। यही विचार छान्दोग्योपनिषद में इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

"स एकाकी न रमते। स ऐक्षत एकोऽहं बहुस्या प्रजायेय"

तत्वज्ञान से मनुष्य का मोक्ष हो जाता है अष्टाङ्गयोग[२] का भी अन्तिम आश्रम मे भव निवृत्यर्थ अभ्यास करना चाहिए। तत्वज्ञान पूर्वक योग से शरीर त्याग करने पर फिर बन्धन नही होता।

महाकवि पुराणों के "जल से सृष्टि' वाले सिद्धान्त को भी आदर देते हैं[३]।

महाकवि की दृष्टि मे भिन्न-भिन्न मत (सम्प्रदाय) अनेक मार्ग है। वे परमात्मा प्राप्ति रूपी एक लक्ष्य की ओर अलग-अलग दिशाओ की ओर से होकर जाते है। जैसे अनेकधा प्रवाहित गगा के जलस्रोत समुद्र मे[४]।

कवि के मत से परमात्मा शब्दादि विषयो का भोक्ता पर तपस्वी प्रजापालन करता हुआ भी उदासीन रहने मे समर्थ है[५]।

वह अजन्मा होता हुआ भी अवतार धारण करता है, कर्तव्य से रहित होता हुआ भी दुष्टो का सहार करता है[६]।

योगीजन हृदेश में स्थित ज्योतिर्मय परमात्मा को अभ्यासवशीकृत चित्त से मोक्ष के लिए खोजते है[७]।

वीतराग योगी मन को भगवान में आवेशित करके कर्मों को उन्हे समर्पण करके फिर ससार में नही आते[८]।

परमात्मा के जन्म और कर्म का प्रयोजन भक्तो पर अनुग्रह मात्र ही है, अन्यथा ससार मे कुछ भी प्राप्त करना नही है। ब्रह्मा कालक्रम के अनुसार सोते है, तब प्रलय हो जाता है और जब जागते है, तब सृष्टि उत्पन्न होती है[९]।

वह स्वय ही सृष्टि को बनाता है और स्वय ही विलीन कर देता है। इसमे केवल उसकी इच्छा ही कारण है[१०]।

अनेक दर्शनो के मर्मज्ञ होते हुए भी महाकवि व्यक्तिगत रूप में शिव के परम उपासक है। वे भगवान के इसी रूप को मुख्य मानते हैं। क्योकि उनके ग्रन्थो के मगल श्लोको में शिव की ही वन्दना मिलती है[११]।

अपनी शक्ति पार्वती सहित भगवान शिव भक्तो की रक्षा करते हें। सब कुछ देने में समर्थ होते हुए भी वे गजचर्म ओढते हे। नारी को देहार्द्ध में स्थान देते हुए भी सर्वोपरि "यति" है। अपनी आठ मूर्तियो ससार का धारण-पोषण करते हुए भी निरभिमान और तटस्थ हैं। भक्तो को अच्छा मार्ग दिखाने के लिए तामसी

---

१ कुमारसम्भव २।७।
२ ,, ३।४४—५० तक।
३ ,, २।५।
४ रघुवश १०।२६।
५ ,, १०।२५।
६ रघुवश १०।२४।
७ ,, १०।२३।
८ ,, १०।२७।
९ कुमारसम्भव २।८।
१० ,, २।१०।
११ रघवश १।१, अभिज्ञानशाकुन्तल १।१। मालवि १।१।, विक्रमी १।१।

दृष्टि को दूर कर देते है[१] और पुनर्जन्म का अन्त कर देते हैं[२]।

भगवद्‌गीता से महाकवि पूर्णतया प्रभावित है। क्योंकि भगवद्‌गीता के अध्याय ६।११, १२, १३। मे वर्णित योग साधन प्रकार का पूर्ण चित्र कुमारसभव के तीसरे सर्ग में शिव की समाधि वर्णन मे मिलता हैं। जब काम ने समाधिस्थ शिव को देखा, उस समय वे देवदारु वृक्ष की छाया में बने हुए चबूतरे पर बाघाम्बर बिछाये हुए बैठे है। पर्यङ्क आसन लगाने से उनका पूर्वाध देह सीधा और स्थिर है और दोनो कधे झुके हुए है। दोनो हाथ गोद मे खिले हुए कमल के समान रखे हुए हैं। उनकी आंखो की पुतलिया निश्चल है, भौहो की गति बन्द हैं और पलकें भी नहीं हिलती डुलती हैं। उनका लक्ष्य केवल नासिका का अग्र भाग है। मन के वाहर जाने के नवद्वार बन्द करके उस अक्षर रूप परमात्मा ज्योति को अपने आप मे देख रहे है। जिसे क्षेत्रज्ञ लोग "अक्षर" के रूपमेंजानते है, उस आत्म-तत्व का अपने आप मे दर्शन कर रहे है। अन्तर्गति वाले प्राण को रोक लेने के कारण वे निश्चल है।

अनेक शब्द तथा वाक्य अविकल रूप मे श्रीमद् भगवद्‌गीता से लिए गये है। तुलनार्थः—

निवातनिष्कम्पमिव प्रदीप—। कुमार सम्भव ३।।४८।।
यथा दीपो निवातस्थो—। गीता ६ ।।१९।।

अर्थात्—जिस प्रकार वायु रहित प्रदेश मे स्थित दीपक की ज्योति निश्चल होती है, वही स्थिति समाधिस्थ योगी की होती हैं।

मनोनवद्वार। (कुमारसम्भव ६।५०)
यतो—यतो निश्चरति (गीता ६।२६)

अर्थात् मन जिन जिन मार्गों से वाहर जाता है, उन सवो को रोककर उसे वश मे कर लेना चाहिए।

अनवाप्तमवाप्तव्यम् (रघुवश १०।३१)

नमे पार्थास्ति कर्तव्यम्, त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्य, वर्त एक च कर्मणि ।।

अर्थात् मुझे तीनो लोको मे कुछ भी कर्तव्य नही है तथा किंचिद् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं हैं, तथापि मैं कर्तव्य मे ही लीन रहता हू।

परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म सस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे ।।

अर्थात् मैं मज्जनो की रक्षा और दुर्जनो का सहार करने के लिए युग-युग मे जन्म लेता हू।

अर्थात् संसार मे आपके जन्म और कर्म का कारण लोकानुग्रह ही हैं।

अभ्यासनिगृहीतेन रघुवश १०।२३
अभ्यासयोगयुक्तेन गीता ८।८

अर्थात् परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त अन्य तरफ न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाश स्वरूप दिव्य पुरुप (परमेश्वर) को ही प्राप्त होता है।

त्वय्यावेशित चित्ताना रघुवश १०।२७
मय्यासक्तमनः पार्थ गीता ७।१

अर्थात् परमेश्वर मे ही आसक्त मन वाले लोग आदि।

क्षेत्रज्ञ, अक्षर, पुराण, कवि, अव्यक्तादि पारिभाषिक शब्द गीता से ही लिए गये हैं। इसी प्रकार अष्टमूर्ति शिव की आठो मूर्तियो की कल्पना गीता के अध्याय ७।४ मे वर्णित 'अपरा प्रकृति' की ही छाया है। भगवान कहते है कि हे अर्जुन! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहकार—ये मेरी ८ प्रकार की अपरा प्रकृति हैं। यथा—

१ मालविकाग्निमित्र १।१।।
२ अभिज्ञान शाकुन्तल, भरतवाक्य।

भूमि रापोऽनलो वायु, ख मनो बुद्धि रेव च ।
अहकार इतीय मे, भिन्ना प्रकृतिरष्टधा । गीता ७।४

तथा अभिज्ञान शाकुन्तल १।१। मे पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा तथा यजमान, ये शिवजी की ८ मूर्तियाँ बतलायी गई हैं। जिनसे भगवान शिव सारे ससार मे व्याप्त हैं। मन को चन्द्रमा, बुद्धि को सूर्य और यजमान को अहकार के रूप मे मान लेने से दोनों की एकता स्पष्ट हो जाती हैं।

महाकवि की लेखनी में रूक्ष विषयों को भी सरस तथा रोचक बना देने की क्षमता है। व्याकरण दर्शन की प्रक्रियाओ को उपमा अलकार के सांचे मे ढालकर कैसी रोचक बना देते है। उदाहरणार्थ चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति जाति शब्दो गुण शब्दः, क्रिया शब्दो यदृच्छा शब्द्रश्चेति महाभाष्य आ २, शिव सूत्र २ की उपर्युक्त प्रक्रिया को उन्होंने इस प्रकार कोमल कान्त पदावली मे उपमान के रूप मे प्रयुक्त किया हैं।

अर्थात् पुराण कवि ब्रह्मा के चारो मुखो से प्रवाहित चतुर्विध वाणी से शब्दो की चतुर्विध प्रवृत्ति चरितार्थ हो रही हैं।

शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध के सिद्धान्त को उमा-महेश्वर का उपमान बनाकर कितना रोचक कर देते है.—

मैं शब्द और अर्थ के समान नित्य सम्बन्ध जगत के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की वन्दना शब्द एव अर्थ की सिद्धि के लिए करता हू रघु० १।१।

उत्सर्ग (सामान्य शास्त्र) का अपवाद (विशेष शास्त्र) से वध हो जाता है, इस सिद्धान्त को वे रघुवश मे इस प्रकार व्यक्त करते हैं.—

रघुवशियो मे यदि कोई भी कही है तो वह उत्सर्ग को अपवाद के समान विरोधियो को परास्त करने मे समर्थ है। १५।७

राम के आदेश से शत्रुघ्न के पीछे चलने वाली सेना अध्ययनार्थ "इङ्" धातु के साथ लगने वाली 'अधि' उपसर्ग के समान जान पडती थी। रघुवश १५।७६। व १२।५८।

राम ने वाली को मार कर उसके स्थान पर सुग्रीव को बिठा दिया, जिस प्रकार "पा" आदि धातुओ के स्थान मे "पिब" आदि आदेश हों जाते हैं। मीमासा दर्शन के भी दो चित्र द्रष्टव्य हैं मी० १।९।

राजा दिलीप को निश्चय ही ब्रह्मा ने पच महाभूत सामग्री से बनाया था, क्योकि उसके सभी गुण परार्थ रूप (परोपकार) मात्र फल वाले थे। यथा "गुणानाञ्च परार्थत्वात्"।

शाकुन्तल के मगल श्लोक में विश्व को व्याप्त करके स्थित आकाश रूपी मूर्ति को प्रत्यक्ष माना है, यह भी मीमासा का ही सिद्धान्त हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन का सकेत दुष्यन्त का शकुन्तला को भूल कर फिर पहिचानने मे मिल जाता है।

इस प्रकार कालिदास दार्शनिक सिद्धान्तो मे समन्वय के समर्थक भगवद् गीता से पूर्ण प्रभावित हैं। कालिदास महाकवि हैं। वे जिस प्रकार प्रकृति का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता से कर सकते हैं, उसी प्रकार अवसर आने पर विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त भी कलात्मक शैली से समझा सकते है, जिन्हे सहृदयजन अनायास ही मधु-मिश्रित औषधि के समान हृदयङ्गम कर सकते हैं। उन्हे शृगार वर्णन करते देखकर विलासी कहने का दुस्साहस करते है। कालिदास के काव्यो में दर्शनो की व्याख्या सावधानी से देखना चाहिये तभी कालिदास पूर्ण दार्शनिक प्रतीत होते है।

"राजा भोज और उसका विजय स्तंभ : धार की लाट"

—श्री विश्वनाथ शर्मा

भोज ने धार मे 'विजय स्तम्भ', लाट प्रथम चालुक्य विजय के प्रसग पर खड़ा किया था या द्वितीय युद्ध की विजय के वाद, तो वरवस भोज कृत 'कोदण्ड-काव्य' शिलालेख की ओर ध्यान जाता है [1], इसमें भोज के जीवन काल की कतिपय घटनाओ का क्रमबद्ध उल्लेख मिलता है । कोदण्डकाव्य मे पक्ति ।। ३०५ ।। के आगे पंक्ति । ३१२ । तक स्तम्भ से जयकुंजर हाथी को बांधने का उल्लेख दिया होकर इसके वाद पक्ति ।। ४६०।। से ।। ४७५ ।। मे तुरुष्कों से भूमि रक्षण करने का उल्लेख है । इससे ज्ञात होता है कि तुरुष्कों को सन् १०२५ में भगाने के पूर्व स्तम्भ खडा कर दिया गया था।

इस काव्य शिलालेख मे 'जयकुंजरस्य'[2] यह वाक्य वडे महत्व का है, मेरी तो धारणा यह है कि 'जय' 'यह कुंजर' का नाम है, तात्पर्य भोज राजा मे पराजित होने के वाद 'जयसिंह' सिंह' न रहा, किन्तु अलकारिक भाषा मे 'कुंजर' हो गया था, उस कुंजर को तलवार की किरण प्रताप रूपी रस्सी द्वारा स्तम्भ से बाधा है, क्योंकि सिंह को घटा या स्तम्भ से नतो तव कोई बाध कर रखता था न आज रखता है, अर्थात् प्रथम चालुक्य विजय के वाद तलवार की किरण रूपी रस्सी से जय नाम के हाथी को धार में स्तम्भ से वाध दिया गया, निश्चय ही तव जयकुंजर जीवित था, जो सन् १०४२ ई० तक आलकारिक रस्सी से वधा रहा, मतलव अकित रहा । यदि स्तम्भ नही होता तो १८ या २० वर्ष तक उस जय कुंजर को वाधा किस चीज से जाता ?

द्वितीय चालुक्य युध्द में तो भोज द्वारा जयसिंह मारा गया था और मरे हुए हाथी को स्तम्भ से वांध कर रखने वाला अभी तक कोई मिला नहीं । अर्थात् सन् १०२५-२६ के पूर्व धार का लोह स्तम्भ खड़ा कर दिया गया था ।

भोज राजा का मित्र सम्राट राजेन्द्रचौल की गगाजल लाने की यात्रा सफल हुई, उसके निमित्त उसने भी गंगकोंड चोलपुरम् मे सन् १०२३ ई० में याने लगभग इसी समय के आसपास कुंड तथा स्तम्भ वनवाया था [3] । स्तम्भ का उल्लेख करने वाला कोदण्डकाव्य स्वयं भोजकृत है [4], अतः एक ऐसा प्रमाण जिनकी पुष्टि के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही रहती, किन्तु अन्य कोई समकालीन प्रमाण यदि उपलव्ध होतो उसको भी देख लिया जाय ।

भोजराजा का समकालीन महमूद गजनवी का कृपापात्र अरवी पडित अलवेरूनी धार के इस स्तम्भ के वारे में कुछ लिख गया है । वह लिखता है कि 'जब वह मालवा मे आया,-राजा भोज राज्य करता था राजधानी धार थी । वहां के सरकारी भवन के द्वार पर एक लम्बाकृति शुद्ध चादी की छडी खडी है, उस पर मानवीय अवयवों के जैसी आकृति दिखलाई देती है' [5] । समकालीन लेखक का यह कथन शीघ्रता से परे नही फेंका जा सकता, उसने जितना भी लिखा, स्तम्भ का वर्णन करने से मूलभूत जितनी बाते होना चाहिये वे सब अलवेरूनी के कथन मे:—

(१) स्तम्भ (छडी) का स्थान जहा वह खडा था, (२) उसका बाह्य स्वरुप और- (३) स्तम्भ शीर्ष ।

कतिपय पुराविदो का मत है कि अपने भारत भ्रमण मे अलबेरूनी धार आया ही नही[४A], नही आया होगा, परन्तु धार के बारे मे उसने पूछताछ तो की ही होगी। उसकी पूछताछ मे जो बात उसको मालुम हुई, उसको वह अपने ग्रंथ मे लिखता गया। उसके वर्णन पर यदि विश्वास नहीं बैठता हो तो उसको भी कसौटी पर परख लिया जाय।

अलबेरुनी मालवा मे आया। भोजराजा को वह जानता था। उसकी प्रशसा उसने की है राजधानी धार का नाम उसने दिया है। इतनी बाते जब उसने पूछ-कर लिखी तो धार मे कौन सी चीज देखने योग्य है वगैरह भी पूछा होगा कि नही ? तो कहना पडेगा कि जरूर पूछा था अन्यथा स्तम्भ के बारे में जो वर्णन ग्रंथ मे लिखा गया है किस आधार पर लिखता ? उसने धार मे एक चाँदी की छडी का जो उल्लेख अपने प्रवास वर्णन मे किया है वह सुनी सुनाई बात है। माना प्रश्न है कि स्तम्भ खडा होने के पूर्व ही किसी ने अलबेरूनी को धार के स्तम्भ के वर्णन की बात सुना दी ! अजीब दलील है ? जिसने धार और स्तम्भ को देखा था उसको अलबेरूनी ने पूछा, क्योकि बगैर देखे भाले इतना स्पष्ट वर्णन स्तम्भ का देते आता नहीं। धार का हाल सुनाने वाले ने इस स्तम्भ का वर्णन इसलिये किया कि वह कुछ ही समय पहले खडा किया गया था। वास्ते उसकी प्रसिद्धि थी। वह एक अद्भूत चीज थी इस-लिये उसकी शोहरत थी। इस ऊचे लोह स्तम्भ को वह अरबी पडित छडी नही लिखता तो क्या लिखता ? स्तम्भ जैसे सस्कृत के जोडा अक्षरो को अरबी भाषा में शुद्ध लिखने का हाल तो सब जानते हैं[६]। धार मे सरकारी भवन के सामने चादी की छडी जैसी कोई अद्भुत वस्तु खडी है, इसका इशारा तो वह कर गया है या नही ? तो क्या इस चांदी की छडी को सरकारी भवन का पहरा देने वाले किसी प्रतिहार या छडीदार अथवा चौपदार के हाथ की छडी मान ली जाय ? बुद्धिगम्य बात है ! कोई पाच छै: पुरानी घटना के वर्णन मे चाहे वह सुनी सुनाई हो तो भी बात का बतगड नही हो सकती ! क्योकि घटना को अपनी आखों से देखे हुए लोग विद्यमान रहते हैं। यह वजनी अद्भूत लोह स्तम्भ एक महान् विजय के स्मरणार्थ और खुशी में एक सम्राट द्वारा खडा किया गया था। चुपचाप किसी को मालुम बेमालुम खडा कर देने का प्रसग तो था नही, सैंकडो आदमी इसको बनाने और खडा करने में लगे होगें, एक तमाशा सा लगा होगा, शुभ मूहूर्त पर इसको खडा करने का अनावरण या उद्घाटन का विशाल प्रमाण में जलसा भी हुआ होगा। ऐसे अवसरो पर जलसे आज भी होते हैं। सभव कोकणग्रहण पर्वणी जैसे किसी सालाना जलसे के समय, जो भोज के राज्य भर मे मनाया जाता था, इस विजय स्तम्भ को खडा किया होतो आश्चर्य नही।

पत्थरी स्तम्भो की बात छोडिए, उस समय इतना ऊचा लोह स्तम्भ सम्पूर्ण भारत मे कही नही था, और न न आज है। देहली की मौजूदा मेहरोली की लाट तब नही खडी थी। देहली तो तब एक कस्बा था, गजनवीयो से परा-जित हो जाने के कारण अनन्तपाल को दिल्ली सन् १०२५ ई० के लगभग बसानी पडी। तब वह मेहरोली की लाट कल्हन-पुर मे जाने से कब से गडी पडी थी, तुरूष्कों के अधिकार में या मौका पाकर अनगपाल उसको दिल्ली उठा लाया और अपने मदिर की शोभा स्तम्भ बनाया।[८]

दूसरी बात, विजय स्तम्भ या किसी महान पुरूष की प्रतिमा इत्यादि खडा करने के कौन से स्थान होते हैं या पसद किये जाते हैं, इसको विस्तार से यहाँ इसलिये नही लिखा जाता कि इसका अनुभव सबको है। सब जानते हैं कि किसी सार्वजनिक उद्यान या शासन का केन्द्रीय कार्यालय, राष्ट्रभवन या राजप्रसाद प्रभृति स्थान पर तब भी और आज भी ये चीजें खडी की जाती हैं या रखी जाती हैं। इस प्रकार के ऐतिहासिक विवादो का निर्णय केवल अभिलेख नही कर सकते, उदाहरण और लोक परपरा को यदि काम मे नही लिया जायगा तो बहुधा प्रत्यक्षानुमादि सब प्रमाण निम्न कोटि के सिद्ध होगें, अत: यह निर्विवाद है कि हमे विजय स्तम्भ के निकट भोज राजा का राज प्रसाद या सरकारी भवन होना चाहिये। अलबेरूनी उसको सरकारी भवन लिखता है। धार का यह विजय स्तम्भ खडा हो जाने के लगभग २५-२७ वर्ष बाद राजा

आनन्दपाल ने भी अपने मंदिर की शोभा बढाने के लिये मेहरोली की लाट खडी की थी[८]। तो भोजराजा का राजमार्तण्ड नामक राजप्रसाद, जिसका उल्लेख कोदण्डकाव्य मे आता है, इस विजय स्तम्भ के पास ही होना चाहिये और वह उस स्थान पर होना चाहिये, जहा स्तम्भ के समीप वर्तमान लाट मसजिद है। इसको मालवे के सुल्तान दिलावरखा गौरी ने सन् १४०१-१४०५ ई० में बनवाया था[९]। अतः भोज के राजप्रसाद के उत्तरी सिंह द्वार पर यह विजय स्तम्भ खडा किया गया था, राजप्रसाद का रूपान्तर तो मसजिद में हो गया[१०], परन्तु लोह स्तम्भ अभी तक अपने मूलस्थान पर ही तब गडा था, अब गिरा पडा है। इतनी भारी चीज को उठा कर ले कौन जाय ?

प्राचीन सिक्के, मुद्रायें, मूर्तियां और शिलालेख तथा ताम्र पत्र उनके मूल स्थान से सैकडो मील की दूरी पर यत्र तत्र पाये गये हैं, इसके कई उदाहरण हैं सिक्को को जेब मे डाल कर या व्यापार विनिमय के निमित्त मीलो दूर ले जाना आसान काम था, परन्तु विशाल काय गरूआ लोह स्तम्भ जेब मे ले जाने की वस्तु तो थी नही, न है। १०-२० आदमियो से ले जाने की चीज नही। पथरी स्तम्भ हो चाहे लोह स्तम्भ जैसी वजनी विशालकाय वस्तुओं को बनाने मे और इधर उधर ले जाने तथा खडा करने का काम गुपचुप कर लेने का काम तो होता नही, ऐसे कामो को हजारो लोग कौतुकवश देखते थे और आज भी देखते हैं, उदाहरणार्थ मालवे से परमारो की सत्ता उठ जाने के लगभग २० वर्ष पश्चात् लिखी हुई तारीख-ई-फिरोजशाही से ज्ञात होता है कि दिल्ली का सुलतान फिरोजशाह तुगलक ने मौर्य सम्राट अशोक के स्तम्भ को टोप्रा (अबाला) से दिल्ली लाने के लिये उखाडा, उस भारी स्तम्भ को ढोने उठाने के लिये ८४०० आदमी लगे थे, ४२ चाको पर वह लादा गया। 'सीरात-ई-फिरोजशाही'' के कथनानुसार जो सन् १३७० ई० में लिखी गई थी, ज्ञात होता है कि उपरोक्त स्तम्भ को खीचने के वास्ते प्रथम हाथियो की शक्ति का प्रयोग किया गया। बाद में २०००० आदमी उसको नदी तक पहुजाने मे लगे थे। विशाल नावो पर उसको लादा गया और इतने ही आदमी स्तम्भ को फिरोजाबाद, दिल्ली मे लाकर खडा करने में लगे थे[11]।

धार की यह लाट लोहे की है, परन्तु अलबेरूनी उसको चादी की लिख गया और एक नई उलझन पैदा कर दी। अलबेरूनी लिखता हैं - शुद्ध चादी की, सररावटं हेटफील्ड का कथन है कि शुद्ध लोहे की और वर्तमान में पडी हुई लाट सरासर लोहे की है। लोहे की छडी हो या चादी की सिद्ध कर देने का काम अभिलेख कैसे कर कर सकते है ? यह समस्या तो भूतकाल की मानवीय घटनाओ और रीति-रिवाजो से वर्तमान की घटनाओं का सामजस्य ही सुलझा सकता है। जिसने धारा नगरी देखी थी, उसी से वहा का हाल अलबेरूनी ने पूछा। उसने चांदी की छड देखी थी वैसा कह दिया और वही बात वह अरबी पडित अपने ग्रथ मे लिख गया।

मदिरो के कलशो पर और मसजिदो के गुम्बदो पर सोने चादी के पतरे चढाने की प्रथा प्राचीन काल से आज तक भारत में चली आ रही है। केवल माण्डव में ही ३०० मन्दिरो पर सोने के कलश परमार राजा जयसिंह देव सन् (१२६१-८०) के मत्री मेथडकुमार ने चढवाये थे। भारत की राजधानी में भी मसजिदो के गुम्बदो पर स्वर्ण जैसी कोई धातु आज भी चमकती हुई दिखाई देती है। दीवान-इ-खास मे भी कभी सोने के पतरे जडने का काम चल रहा था, और अमृतसर का स्वर्ण मन्दिर प्रसिद्ध है। तो अलबेरूनी की शुद्ध चांदी की छडी या लाट से यही अर्थ निकलता है कि इस विजय स्तम्भ पर भी चांदी का चढा हुआ होना चाहिये। सम्पूर्ण लाट का खुरदरा और असमान अग इसकी पुष्टि करता है कि लाट के ऊपर कोई सुन्दर पोषाक होना चाहिये। लाट का लोहा चाहे जितना शुध्द हो वह चादी की चमक नही दे सकता था। आज से ९०० वर्ष पूर्व भी चादी और लोहे के भेद को लोग जानते थे।

एक सम्राट के राजप्रासाद के मुख्य द्वार के सामने लगभग ६० फुट की दूरी पर प्रांगण मे काले भुसड लोह स्तम्भ को रोज प्रात काल देखना कौन पसद करता और आज भी कौन करेगा। लोहे को (१) कालायसम (२) पिण्डम् और (३) कृष्णाभिषम् कहा है[13]। इन बातो का विचार होने के बाद लाट पर चाँदी का शिल्पकलापूर्ण सुन्दरढग का आवरण चढा कर उसको राजप्रसाद के प्रागण और सिंह द्वार की

शोभा बढाने वाले ढग से निर्माण किया गया होगा। चाँदी को (१) शुभम् (२) सौम्यम् (३) चद्रालभ् (४) हसाह्यम् और (५) कुमुदाह्यम कहा है[१५] तो कौनसी धातु का आवरण विजय स्तम्भ पर होना चाहिए, इत्यादि बातो की छानबीन भोज की राजसभा और पडितो की सभाओ मे अवश्य हुई होगी, क्योकि इस प्रकार के प्रसग जब आते हैं तो आज भी उसकी छानबीन की चर्चा होती है। ऐसी बातो के प्रमाण अभिलेखो मे क्वचित ही मिलेंगे। यह तो भूतकालीन मानव समाज को घटनाओ का वर्तमान की घटनाओं से मिलान का निष्कर्ष है। इसी को कुछ गहराई से देखने पर पुराण, इतिवृत आख्यायिका, उदाहरण, धर्म-शास्त्र और अर्थशास्त्र इत्यादि का मनोहर समन्वय सामने आता है।

इस लोह स्तम्भ को अलबेरूनी छडी लिख गया तो क्या हुआ? जिस चीज की पेंदी मे गोलाई का व्यास लग-भग १ फीट का हो और उसकी लम्बाई ४३ या ४७ फुट के करीब हो तो उसको एक छडी का स्वरूप प्राप्त होगा या नही, यह बात प्रत्यक्ष एक चित्र खीचकर अनुभव कर लेने की है।

वे पूछते हैं कि भोज राजा ने जब यह स्तम्भ खड़ा किया था उसके पूर्व उसके राज्य मे क्या कोई प्राचीन स्तम्भ खडा था? तो निवेदन है कि उसके गृहराज्य और साम्राज्य में कई प्राचीन स्तम्भ खड़े थे। उसके गृह-राज्य में ही ग्रीक राजदूत हेलियोदोरस का गरुड ध्वज स्तम्भ विदिशा में खडा था। इस स्तम्भ को अब खामबाबा कहते हैं। इस प्राचीन स्तम्भ की तिथि भी बताई जा सकती है। वह है ईसा के पूर्व १४० वर्ष का याने भोज के विजयस्तम्भ से लगभग ११६६ वर्ष से भी अधिक प्राचीन वह स्तम्भ एक ग्रीक हेलियोदोरस ने वैष्णव धर्म अगीकार करने के बाद वासुदेव भगवान के मन्दिर के सम्मुख गरूड़ ध्वज स्तम्भ के रूप मे खडा किया था[१५]। वह एक पत्थरी है, याने बगैर जोड का। भोजराजा ने धार का विजय-स्तम्भ राजप्रसाद के सामने खडा किया था। हेलियोदोरस और भोज दोनो के स्तम्भो को खडा करने के हेतुओं मे भिन्नता थी। हेलियोदोरस का स्तम्भ भक्ति भाव का द्योतक था, अत विष्णु मन्दिर के सम्मुख उसकी स्थापना की गई थी। भोज राजा का विजय स्तम्भ—विजय पराक्रम का सूचक था, इस कारण सरकारी भवन (राजप्रासाद) के सामने खडा किया गया था। अत. इस पर परमार राजाओ का पराक्रम सूचक स्तम्भ शीर्ष होना चाहिये। जिसकी ओर अलबेरूनी सकेत करता है कि उस पर मानव अवयवो की बाह्याकृति जैसा दिखाई देता है। वह अरबी पडित इतना सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद किसी विषय को अपने ग्रथ मे स्थान देने मे सतर्क था। यह सिद्ध हुए बिना नही रहा, उसका हेतु ऐतिहासिक और प्रसिद्ध स्थानो की जान-कारी प्राप्त करने का था न कि भोज के राज्य का गमे-टीयर लिखने का। राजा मुज और भोज के समय उज्जैन उनकी राजनैतिक और धार कौटुम्बिक राजधानी थी। अलबेरूनी ने अपने प्रवास मे धार से भेलसा जाने वाले मार्ग पर उज्जैन मुकाम और महाकालेश्वर का भी वर्णन किया है। कई स्थानो के बीच के फासले तक का इस अरबी पडित ने वर्णन किया है। तो अब स्तम्भ शीर्ष की मानव आकृति की छानबीन करना आवश्यक हो गया।

परमार राजाओ के राजकीय ध्वज पर गरूड रहा है। उनके ताम्रपत्रो पर भी स-पख मानवाकृति गरूड का चित्र अकित है। भोज के पिता महाराजा सीयक हर्षदेव के सन् ९६९ ई० के ताम्रपत्र[१६] और मुज के सन् ९८१ ई० के ताम्रपत्र[१७] पर स-पंख मानवकृति गरूड का सुन्दर चित्र अकित है।

अलबेरूनी ने जो बातें लिखी हैं वे सत्य प्रमा-णित हो जाती हैं। वह एक राज्याश्रित पडित था। भारत भ्रमण में वह जहा कही भी गया किसी हाट या बाजार के चौराहे पर बैठकर वहा का और समीपवर्ती स्थानो का हाल मालूम नहीं कर लेता था। वह विद्वान होने के कारण उच्चस्तर के लोगो में विद्वान और अधिकारियो तथा शासक वर्ग मे भी उसका प्रवेश था। विश्वासपात्र लोगो से इतिहास और स्थानीय हाल मालुम करने के बाद उसको अपने प्रवास मे वृतान्त लिखता था। अत. स्तम्भ शीर्ष पर मानव अवयवो की आकृति दिखलाई देती है, उसका वह कथन सत्य है।

सीयक और मुज इन दोनो पिता पुत्र राजाओ के ताम्रपत्रो पर मानवाकृति स-पख गरूड का जो चित्र अकित

है उसकी नाक की नोक गरूड पक्षी की चोच जैसी ही बनायी गयी है। एक हाथ मे उसका भक्ष सर्प है, दूसरा हाथ ऊपर उठा हुआ है जो उडने के वेग का द्योतक है। विकराल सर्प बटदार आकृति मे जीभ बाहर निकाले हुए है। गरूड का सिरत्राण एक उठावदार टोपी की आकृति का मुकुट जैसा होकर कटिवस्त्र कमरबन्द और हाथो की पहुचियो पर तथा पिल्लीयो पर वीरोचित पट्टीनुमा अलकार दिखाई देते है। एक पाव टिका हुआ गतिमान अवस्था बताता है। सारांश मे उस सपक्ष मानवाकृति गरूड के भाव वीरोचित और पराक्रम सूचक हैं। चबूतरे सहित लगभग ५० फुट ऊचे स्तम्भ के सर्वोपरी भाग मे स्थित एक मानव शरीराकृति के बाह्य अगो में केवल देह, हाथ, पाव और मस्तक के सिवाय और कोई अवयव स्पष्ट रूप मे दिखाई नही दे सकता था।

उपरोक्त कथन का सार यही कहा जायगा कि १ अलबेरूनी ने धार के स्तम्भ के बारे मे जो कुछ वर्णन किया है, वह प्रामाणिक ठहरता है। २ भोज के समय, धार मे शुद्ध लोहा बनाना जानते थे। ३ सरकारी भवन या राजप्रासाद के सिंह-द्वार के सामने स्तम्भ खडा किया गया था। ४. सम्पूर्ण स्तम्भ का असमान, ऊबड-खाबड अग पर सफाई और चमक लाने के लिए कलात्मक आवरण चढाया गया था। अलबेरूनी के कथनानुसार वह आवरण शुद्ध चांदी का था। ५ धार का विजय स्तम्भ खडा होने के पूर्व कई प्राचीन प्रस्तर स्तम्भ भोज के राज्य मे खडे थे। ६ इस विजय स्तम्भ का शीर्ष सपक्ष मावनाकृति गरूड था। ७ स्तम्भ जहा खडा किया गया था, उसके मूल स्थान पर आज भी पडा है। ८. स्तम्भ के समीप जहाँ आज लाट मसजिद है भोज राजा के समय कोई सरकारी भवन या राजप्रसाद खडा था। ९. अलबेरूनी का भारत से सन् १०३० में जाने के पूर्व विजय स्तम्भ खड़ा कर दिया गया था। १०. घटना का आविभाव हुए बिना न तो तत्सबधी ब्योरेवार वर्णन लिखा जा सकता है और न कहावत का जन्म होता है, ।

सन्दर्भ-सूची

१. परमार इंस्क्रिपशन्स, 'कोदण्डकाव्य' पृ० ७४

२. वही

३. विक्रमचौल—श्रीकृष्णाचार्य, वि० स्मृ० ग्र० पृ० २१९

४ काव्य के अन्त में इस प्रकार लिखा है—इति महाराजाधिराज परमेश्वर भोजदेव विरचित: कोदण्ड, परमार इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७८

५ अलबेरूनीज इडिया, १४ अध्याय १७, पृ० १९१,

५ अ धार स्टेट गझेटियर, पृ० १५३ टीप,

६ वि० स्मृ० ग्रथ, पृ० ३३४

७ वही, पृ० ३३

८. वही, पृ० २३०

९ लाट मसजिट के उत्तरी और पूर्वी प्रवेश द्वार के शिलालेख एपिग्राफिया इडो मेस्लिमिका, १९०९ पृ० ११-१२

१० धार स्टे० गझे०, पृ० १५२

११. आर्कियाο मेमायर, सख्या ५२, कोटला फीरोजशाह,

१२ श्री धर्मघोष सूरि दत्तोपदेश वासित चेतसा स० पेथडदेवेन स० झाझणदेवेनच सवत् १३२१ वर्षे मडप दुर्गे कर हेटक जीरापल्ली श्री शत्रुंजयादिषु ८४ प्रासादा (काञ्चन कलशाचिता) कारिता (मण्डपे शतत्रय प्रासादे सौवर्ण कलसा) कारिता रत्नमडव गणिकृत उपदेश तरगिणी, पृ० ४९। इसके लिये देखिए मेरा लिखा हुआ' मांडव का मत्री पेंथडदेव, गारिहाधार (सौराष्ट्र) से प्रकाशित, सन् १९६२।

१३. अभिधान चितामणि कोष।

१४. वही

१५. विदिशा को अब बेसनगर कहते हैं, यह भेलसा के समीप है।
रीव्हीलिग इडियाज पोस्ट, पृ० २०९-१०

१६. पुरातत्व पुस्तक ३, अं० २—श्री द० बा० डिस्कलकर,

१७. ईपि० ईंडि०, जिल्द २३, पृ० १०३-१०७,

उज्जयिनी का शैव धर्म

सुरेन्द्र कुमार आर्य

उज्जयिनी मे शैव धर्म की स्थापना के प्रारम्भिक प्रमाण शिव आकृति के सिक्के हैं। यह सिक्के ३०० ई०पू० से २०० ई० पू० के काल के हैं, जिन पर कमडलु व दण्ड धारण किये शिव अकित किए गये हैं डा० जे० एन० वेनर्जी ने उज्जयिनी की मुद्रा पर अकित खडी हुई पुरुष आकृति को शिव से तादात्म्य किया है।[1] इनमे शिव मानवीय आकृति मे अकित हैं। तीन मुखो वाली खडी पुरुषाकृति को कनिंघम ने महाकाल से सम्बन्धित किया है, जिसे एलन ने कार्तिकेय कहा, परन्तु शैव धर्म के ग्रथो में शिव का त्रिमुखी रूप कहा गया है। अत॰ यह मुद्रा पर अकित आकृति शिव की ही है जिससे यहा शैव धर्म के अनुयायी थे यह स्पष्ट होता है, व वे इसे पूज्य मानकर मुद्राओ पर अकित करते थे। मुद्राओ पर प्रतीक चिन्ह जैसे तीन पर्वत व चन्द्रमा है, जिन्हे कुमारस्वामी त्रिशिग पर्वत मानते हैं। शिव की एक उपाधि शशाकशेखर भी थी। शिव लिंग का चिन्ह भी उज्जैन की मुद्राओ पर मिलता है। शिव-वाहन-नदी अथवा वैल का चिन्ह व त्रिशूल-चिन्ह भी शैव धर्म से सम्बन्धित है। महाभारत मे महाकाल, कोटि-तीर्थ, भद्रवट आदि का उल्लेख है, जो अवतिका नगर मे थे। इस प्रकार ईसा पूर्व की शताब्दियो से ही उज्जयिनी शैव धर्म का केन्द्र थी।

भास के नाटक 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' मे उज्जयिनी के शिव मन्दिर का उल्लेख मिलता है कि यहाँ स्कद व कार्यायाणी की प्रतिमाए थी। डा० पुसलकर ने भास का समय ४००-२०० ई० पू० निर्धारित किया है। यह प्रमाण भी यहा के प्रारम्भिक शैव धर्म की पुष्टि करता है।

सांची स्तूप दानदाताओ मे उज्जयिनी के शिव नदी नदीगुप्त, नदीगिरी आदि का उल्लेख है, जो यह स्पष्ट करता है कि प्रथम शताब्दि ई० पू० मे उज्जयिनी में शैव धर्म के उपासक थे, जो शिव व उसके वाहन को पवित्र मानकर उन पर अपने नाम रखते थे।[2]

जैन परम्पराओ मे ई० पू० की प्रथम शताब्दि के विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल को शैव उपासक कहा है व विक्रमादित्य को अपने पिता का अनुयायी वतलाया गया है। शैव धर्म मे आर्य व आर्येतर सस्कृति का समन्वित रूप होने से यह विदेशियो के लिये स्वीकार करने योग्य धर्म था। यही कारण था कि शक क्षत्रप शासको ने इस धर्म को स्वीकार किया व अपने नाम शिव की उपाधियो पर रखे जैसे रुद्रदामन आदि।

कालिदास के वर्णन से प्रतीत होता है कि उज्जैन मे शैव मतावलंवी बहुसख्या मे रहते थे। उन्होने नगर मे विद्यमान महादेव के पवित्र धाम चण्डीश्वर का उल्लेख किया है जहाँ पर शिव भक्त रहा करते थे। उस समय यहाँ पर महाकाल का मन्दिर था, जहाँ सध्या के समय आरती उतारी जाती थी।[3] इस मन्दिर मे नर्तकियां नृत्य

[1]—डेव्हलेपमेट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० १७७

[2]—इडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ३२, पृ० २१७

[3]—मेघदूत, ३४-३७

करती थी। जिनके पैरो की किकिणी के शब्द से मन्दिर गूज उठता था। वे मन्दिर मे शिव प्रतिमा के सामने रत्न जटित चवर डुलाती थी। कालिदास स्वय शिव के उपासक थे। 'कुमारसभव' मे ध्यानावस्थित शिव की वन्दना की गई है। वराहमिहिर ने शिव की मानवाकृति व लिग रूप मे पूजा करने का उल्लेख किया है। शिव चन्द्राकृति मुकुट धारण किये व वृषवाहन ग्रहण किये तीन नेत्र व हाथो मे त्रिशूल धारण करने वाले कहे गये हैं। उज्जैन से प्राप्त शिव की एक भग्न प्रतिमा इन्ही लक्षणो से प्राप्त हुई है। अर्द्ध-नारीश्वर के लक्षणो की शिव प्रतिमा व शिव लिंग का वर्णन वराहमिहिर ने किया है।[1] इन्हीं लक्षणो मे कुछ भग्न प्रतिमाए उज्जयिनी से मिलती हैं। वराहमिहिर के समय पाशुपत सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रचलन हो गया था, क्योकि वे शम्भु की प्रतिमा को भस्म चढाने वाले ब्राह्मणो से ही अभिषिक्त करने का विधान करते हैं। टीकाकार उत्पल इससे पाशुपत सम्प्रदाय अनुयायी होने का उल्लेख करते हैं। पाशुपतो मे दिन मे तीन बार भस्मी स्नान होना प्रचलित था। कलचुरि शासक कृष्णराज व बुद्धराज की पत्नी पाशुपत सम्प्रदाय मानने वाले थे। उज्जयिनी की अभोना ताम्रपत्र का दूतक स्वय 'पाशुपत' नामधारी था। लकुलीश प्रतिमाओ से, जो उज्जैन मे प्राप्त हुई है, इसी बात की पुष्टि होती है। ह्वेनसाग मालवा मे ऐसे पाशुपतो से मिला था।[2] छटी शताब्दी मे उज्जैन मे कापालिको का भी सम्प्रदाय निवास करता था। वराहमिहिर ने मुडमाल-धारी कापालिको का उल्लेख किया है।

स्कन्दपुराण मे उज्जयिनी को शिव का निवास स्थल व शैव धर्म का प्रमुख तीर्थ कहा गया है। महाकाल वन मे कल्पो के अन्त तक शाश्वत रहने वाले शिव निवास करते हैं। यहा पर शिव की पूजा महाकाल के नाम से होती थी व शिव इस नगर के रक्षक थे। शिव के ८४ ज्योतिर्लिंग की स्थापना से यह तीर्थ-स्थल रूप मे प्रसिद्ध था। महाकाल मन्दिर की प्रदक्षिणा का भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ माना जाता था। महाकाल मन्दिर मे नृत्य, गीत, वाद्य, स्त्रोत का आयोजन किया जाता था व भक्त नैवेद्य एव उपहार अर्पित करते थे। इसे श्मशान, ऊखर व क्षेत्र, शैव प्रभाव के कारण कहा गया। उज्जयिनी के महाकालेश्वर की द्वादश ज्योतिर्लिगो मे गणना की गई व इसे शैव धर्मा-नुयायियो मे सर्वाधिक पूज्य स्थल बताया गया है। नगर के पूर्व मे पिंगलेश्वर, दक्षिण में कायावरोहणेश्वर, पश्चिम में बिल्वेश्वर व उत्तर मे दुर्देश्वर प्रतिष्ठित हैं व इनके मध्य मे प्रमुख क्षेत्राधिपति महाकालेश्वर स्थित हैं।

शिव पूजा के प्रकार:-

उज्जयिनी मे गुप्त युग मे शिव की भक्ति मानसिक वाचिक और कायिक तीन प्रकारो से की जाती थी। इसके अतिरिक्त लौकिकी, वैदिकी और आध्यात्मिक आराधना का भी उल्लेख मिलता है। ध्यान, धारणा एव बुद्धि के द्वारा शिव के स्वरूपो का स्मरण मानसिकी भक्ति थी। स्तुति, कीर्तन, मगलाचरण के द्वारा की गई भक्ति वाचिक व व्रत, स्नान नियम, सयम आदि से की गई भक्ति कायिक भक्ति कहलाती थी। गोदुग्ध, दधि, घृत, सुगध, चंदन, नृत्य, वाद्य, भोज्य द्वारा की गई पूजा लौकिकी कहलाती थी व वेद-मत्रो से हविष्य आहुति की यजन क्रिया वैदिकी पूजा थी।[3]

शिव भक्ति के आध्यास्वरूप मे प्राणायाम, इद्रिय सयम, यम योगादि द्वारा शिव चिंतन सम्मिलित था। इस प्रकार शिव की पूजा व भक्ति की जाती थी।

गुप्तोत्तर काल मे नगर प्रसिद्ध शैव तीर्थ बन गया था, जिसका प्रमाण पुराण साहित्य मे मिलता है। शिव के निवास से यह काशी से दस गुणित पवित्र मानी जाती थी। यहा के निवासी धर्ममय आचरण करते थे। शैवधर्म के प्रमुख देवताओ के दर्शन करने को देश के अन्य भागो से धर्म श्रद्धालु तीर्थ यात्रा के लिए यहां आते थे। उज्जयिनी की यात्रा से सम्पूर्ण पापो का नाश, समृद्धि, यश व पुण्य की प्राप्ति होती थी। महाकाल के दर्शन से मोक्ष प्राप्ति होती थी, ऐसा जन विश्वास था। शिवरात्रि, प्रदोष आदि उत्सव यहा मनाये जाते थे। फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि को शिवरात्रि के पर्व पर बिल्वपत्र, शिप्रा

1—बृहत्त सहिता, ५७-४३

2—वाटर्स, भाग २, पृ० २४२

3—स्कंदपुराण, अवन्ति खण्ड, ७-१५

जल, गध, पुष्प, फल, धूप, दीप, नैवेद्य से शिव (गिरीश) व उसके गणो की पूजा की जाती थी। शिव पूजको के लिये उज्जयिनी श्मशान, ऊखर, पीठ, क्षेत्र व वन मे पाचो तत्व समाहित होने से पवित्र तीर्थ मानी जाती थी। 'शिव का प्रिय स्थल' अत. श्मशान, पुनर्जन्म नही अत. ऊखर, पापों का क्षय अत. क्षेत्र व मातृकाओ का स्थान, अत पीठ कहा जाता था। सौरपुराण के अनुसार यह लिंगायत सम्प्रदाय का केन्द्र था।[1] इस प्रकार शैव धर्म, पश्चिमी भारत विशेषकर उज्जैन में प्रभुत्वकारी धर्म रहा।[2]

उज्जयिनी मे ८४ लिंगो के मन्दिर थे, जो शैव धर्म से सम्बन्धित थे। अष्ठ भैरव क्रमशः दण्डपाणि, विक्रात, महाभैरव, सितासित, बटुक, आनन्द, काल तथा कालभैरव प्रसिद्ध थे। कालभैरव स्थान आज भी भैरवगढ में शिप्रा तट पर शैवो का उपासना केन्द्र है। अष्ट भैरव के अतिरिक्त शिव के एकादश रुद्रो के यहां मन्दिर थे। एकादश रुद्र थे–कपर्दी, कपाली, कलानाथ, वृषासन, त्र्यम्बक, शूलपाणि, दिगम्बर, चौखासा, कामचारी शर्व, व भैरव। इनकी उपासना शत्रुपक्ष के नाश के लिये की जाती थी। पाशुपत व्रत, कपालव्रत, शिवरात्रिव्रत व प्रदोषव्रत रखकर शैव मतानुयायी धार्मिक लाभ प्राप्त करते थे। पाशुपत व्रतधारी रुद्राक्ष, भस्म, कमडलु धारण करते थे व इन्हे शिव के पवित्र अस्त्र मानकर बधन मुक्ति के प्रदाता के रूप मे ग्रहण करते थे। कापालिक सम्प्रदायी कपाल मे भोजन करते व श्मशान मे निवास करते थे। इनकी शिव मे अगाध श्रद्धा थी। पुराणो के वर्णन से स्पष्ट होता है कि यह नगर शैव धर्म का प्रमुख तीर्थ था।

अभिलेखो के आधार पर प्रारंभिक कलचुरि शासक शकरगण 'परमाहेश्वर' उपाधि से विभूषित था। शकरगण को प्रो० मिराशी ने शैवधर्म के पाशुपत संप्रदाय से सम्बन्धित किया है। कलचुरि राजा द्वारा उज्जयनि से प्रसारित अभोना ताम्रपत्र का 'दूतक' पाशुपत नामधारी था। इस प्रकार उज्जयिनी के विजय स्कन्धावास के अवसर पर खरगृह प्रथम (६१७ ई०) की विदिताम्रपट्टिका मे शीलादित्य प्रथम व उसका भाई खरगृह प्रथम 'परमाहेश्वर कहे गये हैं। इस प्रकार कलचुरि व वलभी के मैत्रको ने यहा शैव धर्म को फैलाया क्योकि वे स्वय शिव के पूजक थे।

बाणभट्ट ने 'सकलत्रिभुवन ललामभूता' उज्जयिनी को पशुपति निवासप्रीत्या व महाकाल के निवास की भूमि कहा है। महाकाल नामक त्रिपुरारि भगवान् शिव ने अपने तीक्ष्ण त्रिशूल से अधक महासुर को नष्ट किया था, वह पार्वती के साथ यहा निवास करते हैं।

शैवधर्म के ही एक अन्य अग पाशुपत सम्प्रदाय का उज्जैन मे प्रभाव रहा। कादम्बरी मे उज्जैन के राजा तारापीड के मत्री शुकनास के भवन द्वार पर रक्त परिधान पहनने वाले पाशुपत प्रतीक्षा कर रहे थे, ऐसा वर्णन है। तारापीड की पत्नी विलासवती महाकाल मदिर मे जाकर पाशुपत देवता का पूजन कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को करती थी। इससे प्रकट होता है कि पाशुपति मतावलम्बी उज्जैन मे वास करते थे। पाशुपत, कापालिक और कालामुख सप्रदाय अतिमार्गिक थे। 'शंकर दिग्विजय' के अनुसार उज्जयिनी में शकराचार्य का सामना कापालिको से हुआ था, जिनके शरीर पर श्मशान की भस्म हाथ में नर-कपाल और लौहयष्टि रहती थी और कपाली-भैरव की रक्त एव सुरा से पूजा करते थे। उज्जयिनी के कापालिक भैरव को सर्जन व सहार करने वाला मानते थे। डा० भाण्डारकर के अनुसार कापालिक सुरापान तथा घृणित पदार्थो के भोजन द्वारा अपनी ज्ञान शक्ति के तीक्ष्ण होने में विश्वास रखते थे।[3]

आठवी शताब्दी मे उज्जैन शैवधर्म के विभिन्न सम्प्रदायो का केन्द्र था। यहा के शैवधर्मी मठाधीश गुजरात व काठियावाड जाकर शेव मठो की स्थापना करते थे। उज्जयिनी के पाशुपत व कापालिक आबू के शिव मदिरो में प्रमुख पुजारी बनाये जाते थे।[4] इस प्रकार

---

१ सौर पुराण, ६७।१

२ डॉ० सुधाकर चट्टोपाध्याय: इवोल्यूशन आफ हिन्दू सेक्टस, १९७०, पृ० १०२

३ वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. १४६।

४ इण्डिन एन्टीक्वीरी, भाग १२, पृ, १६०।

यहा के शैवो को प्रमुख पद दिये जाने लगे व उन्हें आदर का स्थान दिया जाने लगा।

परमार राजाओ ने शैवधर्म के प्रसार मे अत्यधिक योगदान किया। उज्जयिनी के परमार अभिलेखो में प्रारम्भ 'ओ नमः शिवाय' से किया गया है। शंभु, महेश, भवानीपति, महाकालेश्वर, केदारेश्वर आदि देवता उनके पूज्य थे व इनके लिए मदिरो का निर्माण किया गया। परमार शासको के व्यक्तिगत धर्म के कारण शैव धर्म का प्रचार जनता मे अधिक हुआ। वाक्पति द्वितीय की उज्जयिनी-पट्टिका मे गिरिजा, श्रीकंठ, महादेव की स्तुति की गई है।[1] परमार राजा वाक्पति द्वितीय ने भवानीपति की आराधना की थी व उज्जैन मे 'शिव-कुण्ड' का निर्माण किया था। उज्जयिनी के शैव मतानुयायियो के लिए धनिक ने महाकाल के निकट थानेश्वर मदिर का निर्माण किया था। नरवर्मन के महाकालेश्वर मदिर अभिलेख मे उज्जैन मे शिवमंदिर के निर्माण का उल्लेख है। परमार मूर्तिशिल्प मे शिव, शिव-पार्वती, नटराज-शिव भैरव व शिवलिंगो की मदिर मे स्थापना की गई। नटराज-शिव की एक दशभुजा वाली मूर्ति इसी काल मे निर्मित की गई थी। उज्जैन मे शैव-पीठ था जहाँ शैवधर्म के ग्रन्थो को सुरक्षित रखा जाता था व शैवधर्म पर विचार होता था। मठ का प्रधान ज्ञान व पाडित्य मे अग्रणी होता था। 'चडिकाश्रम' ऐसा एक शैव मठ था। इस मठ के प्रमुख मठाधीशो की तालिका इस प्रकार थी।[2] तापस, वाकलवासी, ज्येष्ठजरासी, योगेश्वररासी, मौनीरासी योगश्वरी दुर्वारासि, केदारसी। योगेश्वरी नाम से विदित होता है कि स्त्रिया भी मठाधीश बन सकती थी। इससे यहा के शैवमठो का सगठन व उनका धर्मचिंतन एव नगर को प्रमुख शैवमठ वनाने का सकेत मिलता है। "प्रवन्ध-चिन्तामणि" के अनुसार परमारो को सपूर्ण मालवा, सोलकी शासको ने महाकाल की आराधना के लिये भेंट स्वरुप दिया था। इससे यहा के मदिर महाकाल का महत्व व शासको की शैव धर्म के प्रति आस्था प्रकट होती है। राजकीय अधिकारियो के नाम 'रुद्रादित्य' रहते थे। भोज की नागझिरी (उज्जैन) ताम्रपट्टिका मे भवानीपति शिव की स्तुति की गई है। शिव जटाधारी, व्योमकेशी, भवानी-पति, जगत के सृष्टा व विनाशक कहे गये हैं व महादेव की पूजा का उल्लेख है।[3] परमार राजा भोज प्रथम शैव धर्म का अनुयायी व व्याख्याता था, उसने शैवधर्म की व्याख्या 'तत्वप्रकाश' ग्रन्थ मे की। इसमे पशुपतिपाश निरूपण व शैवदर्शन की व्याख्या है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही शिव की स्तुति की गई है।

परमार शैली की शिव मूर्तिया ओंकारेश्वर, कालभैरव, लालबाई फूलबाई के मदिर, शिप्रातट के घाट पर जडी हुई शिव, शिव-पार्वती के रूप मे प्राप्त होती है। शैवोपासको की मूर्ति व महाकाल मदिर को १२११-३६ ई० मे इल्तुमिश ने ध्वस्त किया था। जिसमे शैवधर्म को आघात पहुचा। इस प्रकार प्रारम्भ से १२ वी शताब्दी तक उज्जैन मे जो शैवधर्म का स्वरुप रहा, उसका दिग्दर्शन किया गया।

शाक्त-धर्म:--

शैवधर्म का ही एक अन्य रूप शाक्तधर्म था। शाक्त धर्म का उज्जैन प्रमुख केन्द्र रहा हैं। शाक्त सप्रदाय के रूप मे प्रचलन यद्यपि गुप्तकाल के पौराणिक धर्म द्वारा हुआ, परन्तु मातृदेवी के रूप मे शक्ति की पूजा अति प्राचीन है। उज्जैन मे मातृदेवी का मूर्तरूप में प्रचलन २०० ई० पू० से ही हो गया था, क्योकि गढकालिका उत्खनन से प्राप्त मृण्मूर्ति पर वालक लिए मा का चित्रण है। उज्जयिनी की मुद्रा पर जिसे २०० ई० पू० की माना गया है। बनर्जी इसे अभिषेक युक्त लक्ष्मी वतलाते हैं। इससे सभावना की जा सकती है कि मातृदेवी का उर्वरता अथवा यश व सपन्नता की प्रदात्रि देवी के रूप मे चित्रण मुद्राओ पर किया जाता होगा। इसी प्रकार उज्ज-यिनी मुद्रा पर दो स्त्री आकृति वस्त्र पहने आमने-सामने खडी हुई अकित मिलती है। इन्हें यक्षिणी माना गया है।

---

1 इण्डियन एन्टीक्वीरी भाग ६ पृ ५१।

2 इडियन एक्टीक्वीरी, भाग ११, पृ २२१

3 इपिग्राफिया इडिका, भाग १८, पृ ३२०-३२४

कालिदास के समय लक्ष्मी, पार्वती देवी के रूप मे जानी जाती थी। 'मृच्छकटिक' मे सूत्रधार पार्वती की स्तुति करता है। बाणभट्ट ने 'उज्जयिनी-वर्णन' कादम्बरी मे शिव के साथ पार्वती का वर्णन किया है। गुप्तकाल में प्रमुख देवताओ के साथ उनकी पत्नि का विशेष वर्णन किया गया व उन्हे शक्ति के रूप मे माना गया। शिव के साथ पार्वती व विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का वर्णन हुआ है। पुराणकाल मे उज्जैन मे २४ मातृकाओ की पूजा की जाती थी। उज्जैन की हरसिद्धि देवी (दुर्गा) मनोकामनाओ को पूर्ण करती थी। यदि महानवमी को भैंसे की बलि दी जाय तो हरसिद्धी देवी इच्छाओ को पूर्ण करती थी। यह स्थल २४ मातृकाओ का आवास स्थल कहा गया है। स्कन्दपुराण के अनुसार विंध्यवासिनी दुर्गा अवती मे वास करती है।[1]

वराहमिहर ने अभिचार, कृत्य व वेताल व्रतो का उल्लेख किया है, जिनसे जनसाधारण सिद्धी प्राप्त करता था। मन्त्रो व टोनो का प्रचलन था। जनसाधारण का विश्वास था कि इन व्रतो से अशुभ निवारण होता था। गुप्तकाल मे उज्जयिनी मे २४ मातृकाओ की पूजा की जाती थी, जो धनधान्य, ऐश्वर्य और सिद्धि प्रदान करने वाली कही गई है। ये क्रमश महामाया, कपालमातृका, अम्बिका, अम्बा, शीतला, अम्बालिका, अष्टसिद्धा, ब्राह्मणी, पार्वती, योगिनी, कौमारी, भगवती, कृत्तिका, कर्पटमातृका वटमातृका, सरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली, भद्रकाली, चामुण्डा, वाराही, ब्रह्मचारिणी, वैष्णवी, विन्ध्यवासिनी आदि थी।

गुप्तकाल मे ही शक्तिपूजा के प्रचलन से यह स्थल शाक्तपीठ के रूप मे लोक-प्रिय हुआ व पुराणो मे सती की कुहनी गिरने की कथाओ से इसे सम्बंधित किया गया। कालान्तर मे तान्त्रिको के प्रभाव से यह शक्तिपीठ के स्थान के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[2] डा० डी० सी० सरकार के अनुसार पीठ वह स्थल है, जहा शैव धर्म का एक उपसप्रदाय शाक्तधर्म फैला। शाक्तधर्म मे शक्ति को आधा माना गया व स्त्री रूप मे इसकी उपासना को प्रमुखता दी गई। पौराणिक धर्म मे शक्तिपूजा का विशेष महत्व प्रतिपादित किया गया। व्हेनसांग के विवरण से शक्तिपूजा के प्रचलन का पता चलता है। उसके मालवा भ्रमण के समय यहा शक्तिपूजा, मनुष्य की बलि देकर की जाती थी।

'अष्टदशपीठ' ग्रन्थ मे मातृकाओ के १८ पीठ स्थानो मे उज्जयिनी की गणना की गई, क्योकि यहा महा-काली का स्थान था। 'ज्ञानपवित्र' मे ५० पीठो की सूची मे ३४ वा नाम उज्जयिनी का दिया गया है। यही सूची तत्रसार के पीठन्यास अध्याय मे मिलती है। तत्रसार की तिथि १५६५-१६७५ ई० के बीच की है। परन्तु यह पूर्व की तान्त्रिक परम्परा का उल्लेख करता है, जिससे सभावना की जाती है कि ६ वी से १२ वी शताब्दी तक उज्जैन मे शक्ति की उपासना व पूजा प्रमुख रूप से होती थी। इसी काल मे निर्मित महाकाली, भैरवी, वाराही, वैष्णवी, अम्बा, विंध्यवासिनी, भवानी, सप्तमातृका, कात्यायनी, छिन्नमस्ता आदि देवियो की मूर्तिया यहाँ पर मिलती हैं।

परमारकालीन अभिलेखो से शाक्तधर्म के प्रसार का प्रमाण मिलता है। वाक्पतिराज ने उज्जयिनी की देवी भट्टेश्वरी भट्टारिका के धार्मिक पूजन व मदिर के सरक्षण के लिए दान दिया था[3]। 'भट्टारिका' दुर्गा का उपनाम था। कीलहार्न के मतानुसार यह उज्जयिनी की भट्टेश्वरी देवी का स्थानीय नाम था। सर्वप्रथम गिरिजा की स्तुति की गई हैं, फिर उज्जयिनी की भट्टारिका श्रीमद्भट्टेश्वरी के स्नान, पुष्प, गध, धूप, नैवेद्य व मदिर की सुरक्षा हेतु दिये गये दान का उल्लेख किया गया है। कापालिको के 'तत्रग्रन्थ' श्री भाष्य व वेदान्त, कौस्तुभ मे मुण्डधारी, कपालयुक्त देवी की मूर्तिया का वर्णन है, इन्हीं लक्षणों की भैरवी, चामुण्डा की मूर्तिया उज्जैन मे परमार शैली की मिलती हैं। कापालिक अपने आराध्य को स्त्री रूप

---

1 स्कदपुराण ७०।४०

2 डी सी. सरकार : दि शाक्त पीठास, पृ २०, २२

3 इ डि० एन्टी०, भाग १४, पृ० १५६

मे स्मरण करते थे। वह नरमुण्ड माला पहने रौद्र रूप में मूर्तियो मे अकित की जाती थी।[1]

शाक्तधर्म मे जिस शक्तिपूजा का प्रचलन था, उसका रूप भयानक था। डा० भाण्डारकर शाक्तो के इस रूप को ही शक्तिपूजा का स्वरूप कहते है. क्योकि शैव व शाक्त तांत्रिक पद्धति से अत्यन्त प्रभावित हुए व शक्तिपूजा तांत्रिको के कर्मकाण्ड में सम्मिलित हुई, जिनमे मद्य व मैथुन विशेष रूप से प्रचलित हुआ।

परमारकाल में यहां योगिनी-पूजन, बैताल-आराधना, भैरव-उपासना व महिषमर्दिनी की पूजा की जाती थी। 'कुवलयमाला' के अनुसार उज्जयिनी के महाकाल मदिर मे योगी, योगिनी व सिद्ध आते थे, जो तत्र व मत्र मे चतुर थे।[3] तांत्रिको की दृष्टि से शिव तथा शक्ति मे कोई भेद नही माना जाता था, परम शिव ही परमारशक्ति हैं। मालवा मे परमारो के सरक्षण मे शाक्तो के विशेष पर्व दुर्गापूजा व दशहरा धार्मिक भाव से मनाये जाते थे, जब कि देवी की मूर्ति के समक्ष पशु बलि दी जाती थी। इसी काल की महिषासुरमर्दिनी की प्रस्तर प्रतिमा मिली है।

परमारो का विद्याप्रेम ज्ञान की देवी सरस्वती की लोकप्रियता से मिलता हैं। सरस्वती की कुछ प्रतिमाएं उज्जैन के चौसठयोगिनी के मदिर नयापुरा का भैरव टीला, शीतलामाता के चबूतरे व शिप्रातट पर मिलती है। परमार शासको ने इसे 'वाग्देवीभारती' कहा है। ब्रिटिश म्युजियम की सरस्वती प्रतिमा की भाति उज्जैन मे खड़ी सरस्वती परमार शैली मे प्राप्त हुई है। एसी ही एक प्रतिमा दिगम्बर जैन मूर्ति सग्रहालय मे स्थित है[4]।

---

1 सी. एच. चक्रवर्ती : तत्रास स्टेडीज आन देअर रिलिजन्स एण्ड लिट्रेचर, पृ० ५२

2 तिलकमजरी, पृ० ३४, ४२

3 कुवलयमाला, पृ० १३

4 लेखक व वी. एस वाकणकर से मिलकर उज्जैन जैसिगपुरा स्थित जैन मूर्ति सग्रहालय का कटलागिग किया उसमे मूर्ति क्रमाक २८।

याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।

गुणवानो से की गयी प्रार्थना विफल भी हो तो अच्छी, पर अधर्मो से सफल हुई प्रार्थना अच्छी नही।

—मेघदूत

प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्।

महात्माओ का क्रोध प्रणत होने से ही मिट जाती।

—रघुवंश

पूर्वी मालवा में वैष्णव धर्म

जे. एन. दुबे

ऋग्वेद मे विष्णु एक आदित्य के रूप मे माने गये। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण मे आगे के काल मे आदित्य विष्णु का सर्वोच्च देवता के रूप मे उल्लेख हुआ[१]। शतपथ ब्राह्मण मे नारायण पुरुष का उल्लेख प्राप्त होता है। नारायण की विष्णु से अभिन्नता बौधायन धर्मसूत्र मे की गई है। इन नारायण और इनके साथ वर्णित नर पीछे कृष्ण और अर्जुन से अभिन्न माने लिये गये। वासुदेव कृष्ण को उनके जीवनकाल में ही ईश्वर का अवतार मान लिया गया था। मथुरा के आसपास शूरसेन प्रदेश मे वासुदेव कृष्ण, उनके अग्रज सकर्षण, कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न एव साम्ब तथा प्रद्युम्न के पुत्र अनिरूद्ध की यादवो मे पूजा प्रचलित हो गई थी, इन्ही तत्वो से मिलकर वैष्णव धर्म का उद्भव हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे वासुदेव तथा अर्जुन के उपासकों का उल्लेख प्राप्त होता है[२]। पाणिनि का समय सम्भवत. ई० पूर्व ६ टी शती से ई० पूर्व ४ थी शताब्दी रहा होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज ने भी सोर्सेनाई (शोरसेन) लोगो द्वारा हेराक्लीज (हरि-कृष्ण) की पूजा का उल्लेख किया है। विदिशा के उत्खनन[३] से ज्ञात सामग्री के आधार पर विदिशा (वेसनगर) में विष्णु-मन्दिर का प्रारम्भिक निर्माण मौर्य युग के प्रारम्भ मे किया गया होगा। मन्दिर का निचला भाग दीर्घवृत्ताकार मिला है। प्रारम्भिक मन्दिर के ऊपरी भाग मे लकड़ी की शहतीरो का उपयोग किया गया था। इस मन्दिर का ध्वस ३ री शती ई० पूर्व के अन्त मे हुआ होगा।

शुगो के समय भागवत् धर्म को अत्यधिक महत्ता प्राप्त हुई। शुग वंश के नवें राजा भाग (भागवत) के राजत्व काल मे तक्षशिला के निवासी दिय के पुत्र भागवत हेलियोदोर ने देवाधिदेव वासुदेव गरूड ध्वज[४] (स्तम्भ) बनवाया। हेलियोदोर महाराज अतिलिकित के यवन (ग्रीक) राजदूत होकर विदिशा के महाराज भागभद्र के समीप उनके राज्य के चौदहवें वर्ष में आये थे। यह अभिलेख ई० पूर्व २ री शती का है व अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इससे प्रतीत होता है कि भागवत धर्म को ग्रीको तक ने अपनाया था। शुगकाल मे विदिशा मे ही विष्णु मन्दिर का पुनर्निर्माण हुआ[५]। मन्दिर के चारो ओर प्रदक्षिणा पथ बनाया गया था। मन्दिर क्षेत्र मे आठ गोल गर्त मिले हैं, जिनमे पाषाण स्तम्भ लगे थे, इनमें से कई स्तम्भो पर गरूड शीर्ष लगे थे जिस प्रकार का शीर्ष हेलियोदोर के स्तम्भ पर था। इसके अतिरिक्त हेलियोदोर स्तम्भ के निकट से इस काल की एक

---

१ आर० जी० भाण्डारकर–वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियस सेक्ट्स, पृ० ३४

२ अष्टाध्यायी ४।३।९८

४ इण्डियन आर्कयालाजी, ए-रिव्यू, १९६४-६५ पृ० १३

३ आर्कियालाजिकल सर्वे-आफ इंडिया, एन्यूअल रिपोर्ट १९१३-१४ पृ० १९०

५ इण्डियन आर्कियालाजी, ए–रिव्यू, १९६४-६५ पृ-१९

विष्णु प्रतिमा प्राप्त हुई है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवत यह प्रतिमा प्रासादोत्तम मे स्थापित विष्णु प्रतिमा है। इस काल के पाषाण निर्मित कल्पवृक्ष, मकर आदि प्राप्त हुए हैं। इससे इस क्षेत्र मे भागवत धर्म पर महत्वपूर्ण प्रकाश पडता है। इसकी पुष्टि भरहुत स्तूप की वेष्टनी पर अ कित मूर्तिशिल्प से भी होती है (इ डियन म्यूजियम, कलकत्ता, कक्ष क्र० ४)। प्रथम में अश्वारोही गरूडध्वज को लिये जा रहा है, द्वितीय मे यह गज पर गरूड चिन्ह आसीन है व शासक रेवतीमित्र व उसकी महिषी कप्पदेवी है, जिन्होने प्रथम स्तम्भ का दान दिया था। इससे स्पष्ट होता है कि २ री शती ई० पूर्व मालवा मे वैष्णव धर्म मान्य धर्म था[१]। तुमेन मे भी प्रस्तुत काल का एक विष्णु मन्दिर प्राप्त हुआ है। इसे वासुदेव की बाल लीलाओ के अध चित्रो से अलकृत किया गया है[2]। इस समय भारतवर्ष मे भागबत धर्म के तीन महत्वपूर्ण केन्द्र स्थल थे:—मथुरा, विदिशा, (बेमनगर) नागरी घोसुन्डी अभिलेख से इसका ज्ञान होता है।

शु गों के पश्चात् पुराणो के अनुसार विदिशा पर नाग राजाओ का अधिकार रहा। नाग शिवभक्त होने के कारण एव इनके समय की न्यून उपलब्धि से वैष्णव धर्म पर कोई प्रकाश सभव नही है।

कुषाणो के राज्यकाल में भी—जैसे हुविष्क की कुछ मुद्राओ पर चतुर्भु ज ऊष्न (विष्णु) अ कित है। हुविष्क के उत्तराधिकारी ने भी वासुदेव नाम धारण किया था, इससे ज्ञात होता है कि इन कुषाणो ने वासुदेव धर्म स्वीकार कर लिया था, परन्तु प्रस्तुत काल मे पूर्वी मालवा क्षेत्र में वैष्णव धर्म सम्बन्धी कोई आधार दृष्टिगोचर नही होता।

शक श्रीधर वर्मन जो आभीरो का सामन्त था, उसका एक अभिलेख[३] कानाखेरा (सांची के समीप) से प्राप्त हुआ है। उसमे भगवत शब्द का उल्लेख किया गया है।

गुप्त काल का सर्वप्रमुख धर्म वैष्णव धर्म था, जो भागवत धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ। इन राजाओ ने अपने सिक्को और लेखो मे 'परम भागवत' की उपाधि धारण की, जिसका अर्थ है विष्णु भगवान का 'परम भक्त'। सिक्को पर विष्णु के वाहन गरूड तथा उनकी प्रियतमा लक्ष्मी का चित्र अ कित मिलता है। विष्णु के अनेक मन्दिर इस काल मे बने।

रामगुप्त के तावे के सिक्के विदिशा एवं एरण से प्राप्त हुए हैं, उन पर गरूड तथा गरूडध्वज अ कित है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय विदिशा के समीपस्थ उदयगिरि गुफाओ की विष्णु मूर्त्तिया वैष्णव धर्म के इतिहास में एक उत्कृष्टतम उदाहरण है।

(१) शेषशायी विष्णु—गुफा १३

(२) खडी विष्णु प्रतिमाए—उदयगिरि गुफा ६ यहा पर एक अभिलेख[४] है, जिसमे गुप्त संवत् ८२ (४०१ ई०) आषाढ मास शुक्ल एकादशी को परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त व पादानुध्यात महाराज छगलत्र के पौत्र एव महाराज विष्णुदास के पुत्र सनकानिक महाराज द्वारा धार्मिक दान का वर्णन। यह तिथि देव शयन एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है।

(३) खडी विष्णु प्रतिमाएं—गुहा न ६-१२

(४) वाराह अवतार का अकन उदयगिरि की गुहा न० ५ में किया गया है, जिसका उल्लेख कुमारस्वामी ने भी किया है। उन्होंने इसका समय ४०० ई० माना है।[५] यह लोकोत्तर सौन्दर्ययुक्त प्रतिमा गुप्तकला ही नहीं वरन सम्पूर्ण भारतीय कला का अप्रतिम उदाहरण है।

---

1 इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ३०, पृ० ३६०

2 आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एन्यूअल रिर्पोर्ट, १९१८-१९ पृ० २१-२२ प्लेट १३।

3 एपि० इण्डिका, भाग १६, पृ० २३२।

४ का. इ. ई. भाग ३ पृ० २५।

५ कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इण्डियन एन्ड इन्डोनेशियन आर्ट, आकृति १७४

बुध गुप्त (४६७-९५ ई०) के एरण स्तम्भ लेख[1] गु. स. १६५ (४८४-८५ ई०) के प्रारम्भ मे विष्णु की इस प्रकार स्तुति की गई है—

जयति विभुश्चतुर्भुजश्चतुरार्णव विपुल सलिल पर्यङ्कः।
जगतः स्थित्युत्पत्तिन्य (यादि) हेतुर्गरुड केतु. ॥

इस लेख मे उसके सामन्त मातृविष्णु तथा धन्य-विष्णु के द्वारा विष्णु के ध्वज-स्तम्भ के निर्माण का वर्णन मिलता है। इस अभिलेख मे मातृविष्णु को 'अत्यन्त भगवद्भक्त' कहा गया है। इस लेख मे विष्णु को जनार्दन भी कहा गया है तथा चतुर्भुज स्वरूप का वर्णन किया गया है। यहां तक कि हमे मातृविष्णु के पूर्वजो के नाम जैसे—इन्द्र-विष्णु, वरुण-विष्णु, हरि-विष्णु एव भ्राता का नाम धन्य-विष्णु मिलता है। उपरोक्त वर्णन से यह प्रकट होता है कि विष्णु की ही इस काल मे प्रधानता रही।

एरण से ही एक अन्य प्रस्तर अभिलेख[2] तोरमाण के समय का (शासन काल ५०० ई० से ५१५ ई० तक) प्राप्त हुआ है। इसी प्रस्तर पर भगवान वाराह की वाराह रूप मे, एक सुविशाल मूर्ति मिली है। यह भीमकाय मूर्ति मनुष्य के आकार से भी बडी है। देखने से प्रतीत होता है मानो भगवान ने वाराह-रूप मे साक्षात् अवतार लिया हो। इसी प्रस्तर पर भगवान वाराह की स्तुति की गई है—

जयति धरण्युद्धरणे धनघोराघात घूर्णित महीध्रः।
देवो वराह मूर्तिस्त्रैलोक्यमहागृह स्तम्भ· ॥

इस प्रस्तर लेख से यह ज्ञात होता है कि महाराज तोरमाण के अधीनस्थ राजा धन्यविष्णु ने अपने माता-पिता की पुण्य-प्राप्ति के लिए भगवान वराह की मूर्ति का निर्माण कराया।

इसके अतिरिक्त गुप्तकालीन विष्णु प्रतिमा के 'दो मस्तक'[3] भाग श्री एम॰डी.खरे एव डा० कृष्णदत्त वाजपेयी द्वारा विदिशा क्षेत्र से प्राप्त किये गए हैं।

गुप्त काल मे पूजा के हेतु, विष्णु भगवान की चतुर्भुजी मूर्ति का प्रायः अभाव सा ही है, परन्तु इनके किसी न किसी अवतार के रूप की मूर्ति अवश्य मिलती है। भरतपुर राज्य के 'कमन' स्थान से मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिह तथा वामन आदि विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारो की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।[4] भगवान विष्णु के दशावतारो में वाराहवतार की पूजा को विशेष महत्व दिया गया है तथा इसकी प्राधान्यता पाई जाती है। भगवान वाराह की मूर्ति दो प्रकार की मिलती है। पहली मूर्ति मानवाकार की है, केवल मुख वाराह का है, परन्तु दूसरे प्रकार की मूर्ति ठीक वाराह के आकार की मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि उस काल मे विष्णु के अवतार भगवान वराह की पूजा दो रूपो मे होती थी। (१) मनुष्य के रूप में तथा (२) वाराह के वास्तविक रूप मे। उपरोक्त विवरण के आधार पर यह सिद्ध होता है कि भगवान विष्णु अपने मानवीय मूर्त्त रूप मे तथा अनेक अवतारो के रूप में भी पूजे जाते थे एवं अवतारों मे वाराह अवतार की प्रधानता थी। नृसिह अवतार की अवधारणा या विष्णु के नृसिह अवतार का एक अन्य स्वरूप भी गुप्त काल में दृष्टिगत होता है। एक नृसिह मूर्ति जिसका समय लगभग छठी शताब्दी है, बेसनगर से प्राप्त हुई, जो अब ग्वालियर संग्रहालय मे विद्यमान है।

सन् १९३६-३७ मे भेलसा स्थित वेतवा के पुल के समीपस्थ क्षेत्र में नई सडक के हेतु खुदाई[5] मे चार विष्णु प्रतिमाए प्राप्त हुई।

[१] चतुर्भुज विष्णु प्रतिमा, जिसके दो टुकडे हो गए हैं। निचला बांया हाथ टूट गया है, अन्य तीन हाथो

1—का इ. इ. भाग ३, पृ० ८९

2—का इ इ भाग ३, पृ० १५९

3—इडियन आर्कियालाजी, ए-रिव्यू १९६३-६४ पृ० ८९ एव १९६२-६३ पृ० ६६

4—बनर्जी-गुप्त लेक्चर्स, पृ० १२३

5—एन्यूअल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट आफ दि आर्केलाजिकल सर्वे डिपा• ग्वालियर स्टेट, सवत् १९९३, सन् १९३६–३७

मे शख, चक्र व गदा है, मस्तक पर किरीट है, गले मे वैजयन्ती माला धारण किए हुए है। इस प्रतिमा का समय ८ वी ९ वी ई० के लगभग है।

[२] चतुर्भुज विष्णु प्रतिमा–खडी हुई, दोनो निम्न हाथ टूटे हुए हैं। अन्य दो हाथो मे गदा व चक्र है। यह प्रतिमा १० वी शती की है।

[३] यह मूर्ति पूर्ण रूप मे प्राप्त नही हुई है। केवल मस्तक भाग एव प्रभामण्डल ही प्राप्य है। इसका समय भी १० वी शती है।

[४] अन्य विष्णु प्रतिमा का भी कुछ ऊपरी भाग ही मिला है। यह प्रतिमा भी १० वी शती के लगभग की है।

परमार काल मे भी विष्णु पूजा का बहुत ही प्रचार प्रसार था। विष्णु की विभिन्न अवतारो के रूप मे पूजा होती थी जैसे—नृसिह, मत्स्य, वाराह, मकर, परशु-राम, राम एव कृष्ण। परमार राजाओ ने विष्णु के वाहन गरुड को भी अपने राष्ट्र ध्वज मे प्रतीक रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। परमार राजा सीयक नृसिह अवतार को विष्णु रूप मे मानता था। नरवर्मन ने निर्वाण-नारायण की उपाधि धारण की। उसकी नागपुर प्रशस्ति[२] मे विष्णु के विभिन्न अवतारो का निरूपण हुआ है। इसमें विष्णु के प्रथम अवतार मत्स्य का वर्णन है—

> वैश्वरुप्य समस्यस्य मीनायाकृति कैंतवात्।
> स्वाभिन्ननिर्म्मिताशिष विश्वो विष्णु पुनातु वः॥

ग्यारसपुर के अठखम्बा मन्दिर के सभामण्डप मे विष्णु, वराह, बलराम, नृसिह आदि वैष्णव अवतारो की मूर्तियो का अकन विदिशा के समीपस्थ क्षेत्र ग्यारसपुर एव बडोह ८ वी से १२ वी शती मे वैष्णव धर्म के प्रमुख केन्द्रो मे से थे। पठारी मे भी एक अनगढ वाराह प्रतिमा का अकन मिलता है।

[१] ग्यारसपुर—

[२] बडोह—मूल रूप से प्राचीन काल मे यहा द्वादश वैष्णव मन्दिर स्थापित किये गए थे, परन्तु अद्या-वधि तीन विष्णु मन्दिर विद्यमान हैं।[1] ग्वालियर संग्र-हालय मे यहा से उपलब्ध विष्णु अवतार वाली प्रतिमाए निम्न प्रकार हैं—कूर्म, नर-वाराह, कल्कि, नृसिह, वामन, दाशरथि-राम एव बलराम विद्यमान हैं। ये प्रतिमाएं ८वीं शती से लेकर १० वी शती तक की है। अन्य प्रतिमाओ मे एक विशाल प्रतिमा यज्ञ-वाराह विष्णु के अवतार की है, जिस पर हिन्दू अवतारो के सभी प्रमुख देवताओ का अकन किया गया है। जैसे–गण देवता (सप्त मारुत, दस-वसु, एकादश-रुद्र एव द्वादश आदित्य)।

पठारी में एक बड़े प्रस्तर पर वाराह की अनगढ प्रतिमा का अकन किया गया है, जो ग्राम से पूर्व दिशा में १½ मील की दूरी पर स्थित है।

तत्कालीन लक्षण-ग्रथो के अनुकूल निर्मित हुआ है।[३] यही के छखम्बा मन्दिर मे दशावतार मूर्ति फलक व पूर्वी प्रवेश द्वार पर मत्स्य व कूर्म अवतारो का, पश्चिम द्वार पर वराह व दक्षिण मे शीर्ष भाग से ज्वाला निकलते हुए नृसिह अकित हैं व पूर्व मे वामन अवतार का अंकन है। यहा परशुराम, राम, बलराम, कल्कि वराह आदि प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।[४]

उपरोक्त पुरातात्विक सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के मध्य स्थल का भू-भाग वैष्णव धर्म के प्रसार से स्पदित था और शासकीय व सामान्य जन जीवन इससे अनुप्राणित था। वैदिक विष्णु की यह धारा बाद के मौर्य, शुग, गुप्त व गुप्तोत्तर काल में अबाध रूप से बहती हुई अग्रसर होती रही, जिसमे अवगाहन कर पूर्वी मालवा का जन समुदाय परम वैष्णव बना रहा।

1—इपि० इडिका भाग २, पृ० १८२

2—एन्यूअल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियालाजिकल डिपार्टमेन्ट, ग्वालियर स्टेट, सवत् १९८४ पृ० ९ (१९८६) पृ० १९

3—प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दि आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्कल, १९१४ पृ० ६१-६२

4—वही, पृ० ६३

कालिदास एक सर्वेक्षण

रमेश केवलिया एव

नानालाल रुनवाल

विद्वानो ने महाकवि कालिदास को 'सस्कृत कविता कामिनी का विलास' कहा है। बाण भट्ट की कला-प्रशसा विषयक उक्ति 'स्फुरत्कलालाप-विलास-कोमला' कालिदास की कविता पर भी पूर्णत सार्थक प्रतीत होती है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के माध्यम से पाश्चात्य मनीषियो को सस्कृत वाङ्मय का परिचय प्राप्त होने के साथ ही कालिदास समग्र, विश्व साहित्य मे गरिमामण्डित स्थान प्राप्त कर लेते है। भारतीय परम्परा मे कालिदास को कविकुल गुरु कहा जाता है।

कालिदास से पूर्ववर्ती सस्कृत काव्य-परम्परा स्पष्ट रूप से ज्ञात नही है। बुद्ध चरित्र और सौन्दर नन्द के प्रणेता प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य अश्वघोष को विद्वानो ने कालिदास का परवर्ती माना हैं। कालिदास के पूर्व पाणिनि के 'जाम्ववती जय' तथा भास के नाटको की यत्र-तत्र चर्चा सुनाई पडती है, किन्तु साहित्य-शास्त्र के नियमो के अनुसार (यद्यपि ये नियम भी परवर्ती युग मे ही ठीक ठीक निर्धारित हुए है) महाकाव्य की रचना सर्वप्रथम कालिदास द्वारा ही की गई है। पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे वाल्मीकीय रामायण कालिदास के लिये असदिग्ध रूप से उपजीव्य ग्रन्थ रहा है और उनके काव्य मे वाल्मीकि का न केवल वस्तुगत अपितु शैलीगत प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। कालिदास स्वय अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकी आदि कवियो के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते है।

'अथवा कृत-वाग्द्वारे वशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभि.।
मणौ वज्र समुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति॰॥

महाकवि कालिदास को यो तो ४० से ५० ग्रन्थो का प्रणेता माना जाता है, किन्तु अधिकाश समालोचक विद्वानो ने उन्हे केवल ७ ग्रन्थो, एक लघु काव्य, ऋतु सहार, एक सन्देश काव्य, 'मेघदूत', दो महाकाव्य—'कुमार सम्भव' और रघुवशम् तथा तीन नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' की ही रचना का श्रेय दिया हैं। यदि कालिदास की इतनी रचनाए न भी होती, तब भी केवल मेघदूत (मेघे माघे गत वय) अथवा कवल शाकुन्तल (काव्येषु नाटक रम्य तत्र रम्या शकुन्तला) उनकी अक्षय कीर्ति के लिये पर्याप्त था। सस्कृत साहित्य की विभिन्न काव्य-विधाओ मे कालिदास की कृतिया परवर्ती कवियो के लिये अनुकरणीय आदर्श मानी जाती रही हैं और अधिकांश कवियो की कृतियो मे उनकी छाप स्पप्ट है।

आकार मे लघु होने पर भी 'ऋतु संहार' लालित्य एव कमनीयत्व का आगार है, इसे यद्यपि महाकवि की प्रारम्भिक रचना माना जाता है तथापि भाषा-सौष्ठव एव भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से इसकी गणना सस्कृत साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओ मे की आती हैं। इसमे कवि ने छ सर्गो मे भारत की छहो ऋतुओ का मजुल एव मनोहारी वर्णन किया है। निदाध की तीव्र ऊष्मा से ग्रन्थ का प्रारम्भ कर कवि सहृदय पाठक को वसन्त की सुषमा से प्लावित विहारस्थली मे विश्रान्ति प्रदान करता हैं। विषय वस्तु की सीमा तथा आकार के लघुत्व के आधार पर ही 'ऋतु सहार' को कवि की प्रारम्भिक कृति कहा

जा सकता है, अन्यथा विभिन्न ऋतुओ के अनुकूल रमणियो के हाव-भाव, विलास-विभ्रम आदि का हृदयग्राही वर्णन वस्तुतः कवि के सूक्ष्म एव गहन मनोवैज्ञानिक मनन, चिन्तन एव अनुभव का स्पष्ट प्रमाण है। इसमे प्रकृति के आलम्बन रूप का और साथ ही कवि की कल्पना शक्ति का सुन्दर निखार है, जिसका भव्यतम स्वरूप कवि की बाद की कृतियो मे निरूपित हैं, एव जो विश्व साहित्य की अमूल्य एव अक्षय निधि बन गया है।

तारकासुर बध की कथा को आधार बना कर कवि ने 'कुमार-सभव' की रचना की है। शिव-पार्वती का विवाह और कुमार कार्तिकेय का जन्म ये दो घटनाए ही इस महाकाव्य की विषय वस्तु का प्रमुख आधार कही जा सकती हैं। इस कथा का कालिदास के पूर्व कुछ भी रूप रहा हो, 'कुमार सम्भवम्' मे कवि ने उसमे एकदम नवीनता ला दी है और एक विवाह प्रसग (या प्रेम प्रसग) को भी जितना शालीन एव अलौकिक कालिदास ने बना दिया है, उतना सभवत अन्य किसी कवि के लिये अशक्य था। कामदहन करवा कर कालिदास ने अपने काव्य को निष्काम प्रेम और शिवत्व की भावना से भर दिया है। इसमे सौन्दर्य एव सौभाग्य का गगा-यमुना सगम है, जिसमे त्र्यम्बक के तृतीय नेत्र से निकल कर ज्ञानानल रूपिणी सरस्वती गुप्त-रूपेण सम्मिलित हो जाती हैं। भला, ऐसी पावन त्रिवेणी मे अवगाहन करके किस सहृदय पाठक का हृदय आनन्द से परिप्लावित नही हो जायगा ? निष्काम प्रेम के आकर्षण की तीव्रता स्वय शिव को पार्वती के समीप खीच लाती है और कवि का अभि-प्रेतार्थ यही पूर्ण हो जाता हैं। ऐसे पावन सयोग का फल विश्व के लिये कितना कल्याण-कर हो सकता है। इस पर टिप्पणी करने की आवश्यकता ही नही रह जाती। यदि कोई जिज्ञासु साहित्य का व्यावहारिक दृष्टिकोण ढूढना चाहे, तो 'कुमार सभव' मे ढूढ सकता है।

विश्व विश्रुत रघुवशीयो के चरित्र-नायकों का पावन चरित्र भारत के अधिकांश कवियो तथा कथाकारों के लिये प्रेरणा-स्रोत रहा है। आदि-कवि वाल्मीकि ने राम चरित्र लिख कर ही अपनी लेखनी को कृतार्थ किया ही है। कालिदास मे भी 'रघुवशम्' महाकाव्य की रचना करते समय यह भावना रही है, जिसका सकेत "क्व सूर्य प्रभवो वश क्व चाल्प विषया मतिः," आदि प्रारम्भिक श्लोको में स्पष्टतः दिखाई देता है। 'रामाभिधानो हरिः' आदि उक्तियो से यहाँ ध्वनित होता है कि काव्य निर्माण की इच्छा के साथ साथ कालिदास के हृदय मे भागवत प्रेम कूट-कूट कर भरा था। शैव माने जाने वाले कालिदास मे भागवत प्रेम होना सभवत. हमें विरोधाभास प्रतीत हो, किन्तु अष्ट मूर्ति शिव मे समग्र विश्व को समाविष्ट बतलाने वाले महाकवि के लिए इसमे कोई विरोधाभास नही है—'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'।

'रघुवशम्' मे दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक एक लम्बी राजकुलीय परम्परा का हृदयावर्तक चित्रण है। वस्तुतः 'रघुवशम्' कुछ अर्थों मे प्राचीन तथा कुछ अर्थों मे कवि की समकालीन सभ्यता एव सस्कृति का दर्पण कहा जा सकता है। दण्डी ने कहा भी है.—

'आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वय पश्य नश्यति॥'

रघु के वश का सर्वोत्कृष्ट विश्वस्त यशोबिम्ब है। 'रघुवशम्' महाकाव्य, दिलीप, रघु और राम जैसे उदात्त चरित नायको का चरित्र चित्रण करने मे अबाध गति से चलने वाली कवि की लेखनी, महाकाव्य का अन्तिम भाग लिखते लिखते निश्चित ही श्लथीभूत हो जाती है। इसका प्रमुख कारण अवश्य ही उन चरित नायको की विशद एवं आदर्श परम्परा मे कलक रेखा लगाने वाले अग्निवर्ण जैसे राजा का प्रादुर्भाव है। अद्भुत गरिमा मण्डित नृपतियों के कुल मे उत्पन्न अग्निवर्ण जैसे विषयासक्त एव कर्तव्य-भ्रष्ट पात्र का चरित्र चित्रण करने में क्या वेदना हो सकती है, किसी कवि को, इसे हम कालिदास से सुन सकते हैं 'रघुवश' के कुछ अन्तिम सर्गों मे। क्या सचमुच वह रघुवश के प्राय अन्त का चित्रण किया है या किसी समसामयिक भारतीय राज्य के ध्वस्त हो जाने का सांकेतिक वर्णन ? सरस एव उदात्त शृगार युक्त काव्य का प्रणेता कालिदास 'रघुवश' के माध्यम से विषय वासनाओ मे तल्लीन तथा राष्ट्रीय चरित्र से भ्रष्ट हुए भारतवासियो को किसी सम्भावित विपत्ति की सूचना दे रहा था। कवि कालिदास के पास

ऐसा भी हृदय रहा होगा, जिसमें राष्ट्रीय चारित्रिक भावना तथा देशप्रेम की ऊष्मा का तीव्र स्पन्दन हो रहा हो। रघुवश मे सर्वत्र यही स्पन्दन ध्वनित होता है। प्रतीति तो यह होती है, मानो रघुवश कालिदास का हृदय स्पन्दन ही हो। अन्यान्य अंगो का बाह्य सौन्दर्य तो उनके अन्य ग्रथों मे भी यत्र तत्र आकर्षण की वस्तु रहा है, किन्तु समष्टि की मगल कामना जिस हृदय से महाकवि ने की है, उसका प्रमाण तो रघुवश ही हमे दे सकता है। साहित्य के दोनो पक्ष—स्वान्त सुख एव सर्वा त सुख की समन्वयात्मक साधना का मधुरतम फल रघुवश है। 'रघुवश' ने कालिदास को पूर्णत· आत्मसात् कर लिया है और यह बात पूरे विश्वास के साथ कही जा सकती है कि आने वाले युगो मे 'रघुवश' ही कालिदास के व्यक्तिगत जीवन की पूरी पूरी जानकारी दे सकेगा। अभी ऐसे अन्तर्द्दष्टा की उसे प्रतीक्षा है।

कालिदास का गीतिकाव्य 'मेघदूत' तो केवल भारत मे ही नहीं, बल्कि अखिल विश्व मे अद्वितीय हैं। यक्ष द्वारा अपने अधिकार (कर्तव्य-पालन) में अनवधानता हो जाने पर एक वर्ष के लिये अलकापुरी से निष्कासित होना, रामगिरि के आश्रमो मे वसति बनाना और जीमूत के माध्यम से अपने हृद्‌गत भाव तथा कुशल-क्षेम-सन्देश अपनी प्रियतमा तक पहुचाना या पहुचाने का मोघ (या कि अमोघ) प्रयत्न करना यही मेघदूत है। कल्पना की उडान कितनी ऊची, कितनी उदात्त हो सकती है, यह तो 'मेघदूत' ही बता सकता है। पर किसे मालूम कौनसा कालिदास इसमे अश्रुपूरित नेत्रो से अपनी अन्तर्व्यथा का मूक निवेदन कर रहा है। मेघदूत प्रेम की यौवनावस्था का काव्य है। दो छोर पर दो पात्र हैं, एक दूसरे से दूर, अत्यन्त दूर, किन्तु प्रणय-स्मृति के सूक्ष्मतम अदृश्य तन्तु दोनो को बाघे हुए है। कालिदास ने यक्ष से जो कुछ कहलवाया है, वह प्रेमी युगल की मार्मिक विरह वेदना है। 'कण्ठाश्लेष-प्रणयिजन' की विरह जन्य मनोव्यथाए मेघ ही तो वहन कर सकता था, आषाढ़ का वह प्रथम मेघ 'सतप्तानां त्वमसि शरण'। वर्षा ऋतु के साथ ही विरहीजनो की विरहवेदना युक्त मन· स्थित का चित्रण वाल्मीकीय रामायण मे भी हुआ हैं—

'वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति सभा श्वसति।
नद्या घना मत्तगजा वनान्ता· प्रियाविहीनाः शिखिन. प्लवंगा॥'

किन्तु विरह-विधुरा प्रिया को कुशल-सन्देश प्रेषित करने हेतु आषाढ़ीय मेघ को दूत बनाने की कल्पना कालिदास की अपनी ही है। यक्ष रामगिरि पर है और उसकी यक्षेश्वरी की 'हरशिरश्चन्द्रिका-धौत-हर्म्या' अलकापुरी में! प्रेम के चुम्बकीय आकर्षण से दोनो एक दूसरे के समीप आ गये प्रतीत होते हैं, दो स्थूल शरीरों के बीच इतनी भौतिक दूरी होने पर भी उनके स्नेह-स्निग्ध हृदयों के अन्तर्मिलन का सजीव चित्रण—कालिदास द्वारा मानवीय मनोभावो (Emotions) के चित्रण का प्रधान लक्ष्य रहा है। सन्देश काव्य यो तो बाद मे भी बहुत से लिखे गये हैं, किन्तु मेघदूत आज भी अनन्य है। यदि सस्कृत गीतिकाव्यो मे से मेघदूत को हटा दिया जाय, तो उनमे एक अपूरणीय अभाव हो जायगा—

'नक्षत्र-तारा-ग्रह-सकुलापि
ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥'

'मालविकाग्निमित्रम् और विक्रमोवर्शीयम्' ये दोनो नाटक क्रमश विदिशा के राजा अग्निमित्र और ऐलवशी राजा पुरूरवा के जीवन से सम्बद्ध घटनावों के आधार पर रचे गये हैं। अग्निमित्र का ऐतिहासिक अस्तित्व है, व पुरूरवा का पौराणिक। (क्योकि अभी तक विद्वत्समुदाय भारतीय इतिहास एव पुराण मे अभेद करने में सक्षम नही है) 'शाकुन्तलम्' भी महाभारत के एक उपाख्यान के आधार पर लिखा गया है। प्रचलित कथानको मे परिवर्तन-परिवर्धन करके कालिदास ने जो नयी सृष्टि की हैं, उस पर पूर्व और पश्चिम के सभी विद्वान मन्त्र मुग्ध हुए हैं। जर्मन महाकवि गेटे तो शाकुन्तल को पढ़कर नाच उठे थे। सरस्वती का कितना अमित प्रसाद पाया था कालिदास ने, कि जिस विषय वस्तु को उन्होंने स्पर्श किया, उसे उन्होने स्वर्णिम बना दिया। स्वर्ण स्पर्श की यह प्रक्रिया शाकुन्तल मे तो बेजोड ही है, तीनो नाटको के द्वारा कालिदास ने पृथ्वी और स्वर्ग के अन्तर को पाट दिया है। स्वर्ग के देवता, पुराणो मे भारत-पुण्य-भू पर जन्म लेना महान् भाग्य समझते थे, कालिदास ने उन्हे सशरीर पृथ्वी पर उतार दिया। पृथ्वी पर एक नवीन स्वर्ग का निर्माण इसी प्रकार सम्भव था। उर्वशी का पृथ्वी लोक के लिये आकर्षण कालिदास की इसी

भावना को अभिव्यक्त करता है। 'यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते'—कवि अपना नया जगत बना सकता है।

'मालविकाग्निमित्रम्' का परिप्रेक्ष्य छोटा है। इसे अन्त पुर (Harem) का नाटक कहा जा सकता है। स्वाभाविक ही है कि यहा प्रेम की चांचल्यपूर्ण क्रीडा दृष्टिगोचर होती है। अग्निमित्र और मालविका का प्रणय सम्बन्ध चित्रित करने वाला यह नाटक कालिदास का इस दिशा मे पहला प्रयास है। 'विक्रमोर्वशीयम्' मे यही परिप्रेक्ष्य विस्तृत हो जाता है। वहा प्रेम अन्त पुर की प्राचीरो से निकलकर निमर्ग मे उन्मुक्त विचरण करता है। पुरूरवा के प्रेमी हृदय का विलाप मानवीय भावो का चित्रण करने की कालिदाम की निपुणता का सुन्दर परिचायक है। यह विलाप हृदयगत भावो और मनोव्यथाओ की कवि द्वारा अभिव्यक्त निकटतम अनुभूति है। यहाँ कालिदास ने मानव और प्रकृति को एक धरातल पर ले आने का सफल प्रयास किया है, जिसका पूर्ण प्रस्फुटन 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' मे हुआ है। 'शाकुन्तलम्' में पुन परिप्रेक्ष्य को वढाया गया है तथा प्रेम के सूक्ष्मतम अदृश्य तन्तुओ के द्वारा स्वर्ग और पृथ्वी को परस्पर निबद्ध कर दिया गया है। शाकुन्तल की सृष्टि मे पृथ्वी और स्वर्ग का अन्तर्मिलन हो गया है—'एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो:' गेटे यहाँ यही तो कहना चाहते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त तक आते-आते कालिदास की नाट्यकला निखर गई सी लगती है। 'शाकुन्तल' एक साथ ही सस्कृत साहित्य का हृदय भी है और गर्वोन्नत मस्तक भी।

कालिदास प्रमुख रूप से प्रेम और श्रगार के कवि है, उनका सारा काव्य प्रेम और श्रगार से ओत-प्रोत है, किन्तु इस प्रेम और शृगार को ठीक-ठीक समझने के लिये इसकी पूर्व पीठिका समझना आवश्यक है। कालिदास का प्रादुर्भाव ऐसे समय हुआ है, जब बौद्ध धर्म भारतीय समाज मे व्यापक रूप से प्रभविष्णु हो रहा था। परावर्ती काल मे बौद्धधर्म के आचार्यो ने श्रमण वृत्ति को अत्यधिक महत्व दे डाला था और फलस्वरूप लोग गृहस्थ बनने की अपेक्षा सयास ले लेना अधिक पसन्द करने लगे थे। निश्चय ही समाज के अस्तित्व के लिए यह एक हानिकर वस्तु थी। इतिहास मे भी हमे यह ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व के विदेशी आक्रमणो में बौद्धों ने विदेशियो को सहायता दी थी। भारत भक्ति (राष्ट्रभक्ति) की प्रेरणा कालिदास को इन राष्ट्रविरोधी तत्वो का विरोध करने हेतु तत्कालीन वातावरण से मिली और असामयिक भ्रमण-वृत्ति के विरोध मे उन्होने काव्य (दृश्य एव श्रव्य) के माध्यम से जन-जन तक गार्हस्थ्य का पवित्र सन्देश पहुचाया। प्रेम और शृगार का कालिदास के काव्य मे जो आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, उसका मूल कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ है, जिनमे कवि परिवर्तन लाना चाहता था। ब्राह्मण धर्म (अपने उदार अर्थ मे) के समुत्थान के लिए लोगो को पुन शिव की भावना के साथ काम की ओर उन्मुख करके सन्तति कुल परम्परा-चलाने हेतु प्रेरित करना कवि का लक्ष्य था—'यौवने विषयैषिणा' और 'प्रजायै-गृहमेधिनाम्'-यही अर्थ लिये हुए हैं। बौद्ध धर्म के अनुयायियो ने आश्रम पद्धति का उल्लेख इसी हेतु किया कि जनता उसे पुन अपनावे ताकि देश की युवा पीढी सन्यास लेने के बजाय कर्म-क्षेत्र मे उतरे और राष्ट्र पर आने वाली किसी भी प्रकार की विपत्ति का धैर्य के साथ सामना कर सक।

कालिदास ने प्रेम और शृगार के जिस पक्ष को अपने काव्य मे चित्रित किया है, वह भी उल्लेखनीय है। कोमल भावनाओ तथा तीव्र मनोवेगो को करने में कवि ने सदैव श्लील का ध्यान रखा है। समाज मे स्वस्थ वातावरण निर्मित करने की आकांक्षा रखने वाले कवि से यही अपेक्षित था। कालिदास का प्रेम यौनाकर्षण से प्रारम्भ होता है। जो कि अत्यन्त स्वाभाविक भी है, किन्तु वही कवि कुछ ऐसी घटना का आयोजन कर देता है कि प्रेमी युगल को तीव्र विरहाग्नि मे तपना पढता है—अपने चरित्रो की अग्नि परीक्षा दिलाने [या लेने] मे कालिदास अत्यन्त ही निर्मम हैं—स्वर्ण स्वर्ण तो है ही, फिर भी तपा कर उसे निखारा जाता है—हेम्न: सलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि श्यामिकापि वा'—तप कर या तप पूत होकर पात्र निर्मल-हृदय हो जाते हैं और तब उनका सयोग होता है। सयोग का यह क्षण जीवन मे कितनी नवीनता लेकर आता है, यह दर्शाने को कवि की ही एक उक्ति सक्षम है—'क्लेश: फलेन हि पुनर्नवता विधत्ते'।

कालिदास का प्रेम और शृंगार नैतिकता से भरा है। वह कहीं भी जीवन की दिव्य धारा से रगड नही खाता, प्रत्युत स्वस्थ जीवन की ओर ही सदैव अग्रसर होता है। मासल भावो से उठकर वह एक ऐसा रूप धारण कर लेता है जो सार्वजनिक हित का हेतु बन जाता है। उन्मुक्त या स्वच्छन्द प्रेम विरोधिनी घटनाओ से पुष्ट होकर पवित्र गार्हस्थ्य मे परिवर्तित हो जाता है और सन्तान परम्परा मे फलीभूत होता है। प्रायः प्रत्येक कृति में कालिदास का यही ध्येय रहा है।

कालिदास प्रमुखत वैदर्भी रीति के कवि हैं। वैदर्भी शैली अपनाना उनका विदर्भ देश के प्रति कोई आकर्षण विशेष रहा है–ऐसा विद्वानो का कथन है। यह भी कोई असभावना नहीं है, किन्तु शैली की सहजता और मृदुलता ही इस आकर्षण का कारण हो सकती है। मृदुल भावो की सरल अभिव्यक्ति कालिदास की कविता की प्रमुख विशेषता है। वे अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यजना का प्रयोग अधिक करते हैं, जिससे निश्चय ही काव्य की ध्वन्यात्मकता मे वृद्धि हो जाती है। घटनाओ का पूर्वापर सम्बन्ध बनाये रखने मे भी वे प्रवीण हैं। बडे से बड़े कथानक मे भी छोटी से छोटी घटनाओ का पूरा ध्यान रखकर वे आगे बढते हैं। विशेष कर उनके नाटको मे (क्योकि नाटको मे यह अधिक आवश्यक भी है) यह बात स्पष्ट है।

कालिदास को 'रसेश्वर' कहा गया है—'रसेश्वर नौमि च कालिदासम्'—वैसे तो कालिदास के काव्यो में सभी रसो का परिपाक हुआ है, किन्तु वे शृगार (सभोग और विप्रलम्भ) तथा करूण मे अधिक रमे हैं। उनकी दो करुण गीत–अजविलाप एव रति-विलाप तथा पुरुरवा एव यक्ष का रुदन इस दिशा मे विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है। कालिदास का रस मात्र प्रदर्शन के लिए ही नहीं है, अपितु सामाजिको को रस-सिक्त कर देने के लिए है। इसका साधारणीकरण हो जाना ही उसकी सार्थकता है और कालिदास इस विषय मे पूर्णतः सिद्धहस्त हैं। व्यजनात्मक शैली होने के कारण कालिदास रस की तीव्रता सहज ही सम्पादित कर देते हैं।

अलकारो की अधिकता से कालिदास दूर रहे हैं। जहाँ भी उन्होने अलंकारों का उपयोग किया है, भाव व्यंजना एवं काव्य सौन्दर्य को अधिक निखार मिला है। कविता कही भी अलकारो के कारण बोझिल नहीं हो पाई है। विद्वानो ने 'उपमा कालिदास्य' कह कर उनकी उपमाओ को सर्वोच्च स्थान दिया है, किन्तु उपमा के समान ही सशक्त उनके अर्थान्तरन्यास भी हैं। अर्थान्तर न्यासो मे उनका गम्भीर जीवन दर्शन एव व्यावहारिक अनुभव भरा हुआ है। अभिव्यक्ति की ईमानदारी उनके अर्थान्तर न्यासो मे ।र्वाधिक स्पष्ट हुई है। सुन्दर शब्द योजना तथा मजुल वाक्य विन्यास उनकी वैदर्भी शैली के मूल तत्व हैं। सर्वाधिक हृदयाकर्षक और हृदयगम काव्य के प्रणेता रहे हैं—कालिदास।

कालिदास का चरित्र चित्रण भारतीय लौकिक परम्परा एव आदर्शो पर अवलम्बित रहा है। उपजीव्य ग्रथ से पात्र चयन करने के उपरांत उसका जो भी चित्रण उनके द्वारा किया गया, वह सर्वथा नवीन एव तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो के अनुकूल हुआ है। प्राचीन परम्परा की उर्वशी और शकुन्तला कालिदास के हाथो पूरी तरह नवीन बन गई हैं। कालिदास ने मानव और प्रकृति मे तादात्म्य स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया है। निसर्ग कन्या शकुन्तला का चित्रण इस सन्दर्भ मे सर्वाधिक उल्लेखनीय है पात्रो के मनोवेगो का पूरा पूरा प्रभाव प्राकृतिक दृश्यो, वन्य प्राणियो और पशु पक्षियो तक मे दिखला कर कालिदास ने एक अद्भुत सृष्टि निर्मित कर दी है, जो निश्चित रूप से दर्शन शास्त्रियो के 'सर्व खल्विद ब्रह्म' आदि सिद्धान्तो से बहुत ही आगे की वस्तु है। बौद्ध एव जैन धर्म की आदर्श करुणा का व्यावहारिक रूप दिखाना सभवत कालिदास का अभिप्रेत लक्ष्य रहा होगा। और इससे ह्रासोन्मुख ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा मे अभिवृद्धि हुई होगी। मल्लिनाथ की स्वय के लिये कही गई उक्ति–नामूल लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते'–कालिदास के काव्य के सन्दर्भ मे भी एक दम उचित प्रतीत होती है। कालिदास ने अपने काव्य मे कोई बात ऐसी नही लिखी, जो निर्मूल हो और न उनका कोई पात्र अनपेक्षित बात कहता पाया जाता है।

पुरुष पात्रो की अपेक्षा कालिदास के नारी पात्र अधिक सशक्त है। हृदयान्तर्गत भावो का सूक्ष्म

निरीक्षण करके नारी पात्रो मे कालिदास ने जो सौन्दर्य भर दिया है वह संस्कृत नाटक को उनकी महती मौलिक देन है। 'शैशवेऽभ्यस्त विद्याना' आदि कहकर उन्होने भारतीय चारित्रिक आदर्श का निदर्शन मात्र ही नही किया है, अपितु पदे-पदे वे अपने ही पात्रो के द्वारा ही उन-उन आदर्शों को व्यवहार रूप मे परिणत करवाते गये हैं, इस प्रकार उनका काव्य भारतीय सम्यता एव सस्कृति का प्रतिनिधि काव्य कहा गया है।

काव्य के दोनों पक्ष—कला पक्ष ऐव भावपक्ष का सफल साधक यह महाकवि अपनी अनुपम कृतियो के माध्यम से अजर अमर बन गया है। काल उनके यशः शरीर को, समाप्त करना तो दूर रहा, स्पर्श तक नही कर सकता। कालयापन के साथ ही उनका निर्मल यश शरीर अधिकाधिक समुज्ज्वल होता जा रहा है, और होता ही जायगा—'नास्ति येषा यशः यश काये जरामरणरणजभयम्' रघुवंश का वह विशाल साम्राज्य आज नाम-शेष रह गया है, किन्तु 'रघुवशम्' मे वह आज भी अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ नयनगोचर हो रहा है। विक्रम का भी आज केवल नाम शेष है और उज्जयिनी का वह वैभव भी ध्वस्त हो चुका है, किन्तु कालिदास के काव्यजगत् मे आज भी सब कुछ नवीन ही बना हुआ है। उनके काव्य मे आज भी 'शिप्रातरगानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यान-परम्परासु। शिप्रा का सारा दृश्य सजीव रूप धारण किये हुए हैं। आज भी वहा महाकाल का गगनोन्नत निकेतन अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ खडा है और यह तब तक ऐसा ही बना रहेगा, जब तक 'मेघदूतम्' अस्तित्व मे रहेगा।

यदि कालिदास न हुए होते, तो सभवतः विद्वानो को विक्रमादित्य को ढूढने की आवश्यकता ही नही रह जाती। कालिदास ने एकाधिक विक्रमादित्य को अमर बना दिया है—अपना अस्तित्व लुप्त करके। यह विक्रम के कालिदास के प्रति स्नेह और सद्भावना का अकाट्य प्रमाण है, 'न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः' कालिदास की प्रतिभा निःसन्देह अप्रतिम थी और परवर्ती कोई भी कवि वह ख्याति अर्जित नही कर पाया, जो उन्होने की है। उनके विशद एव निर्मल वाणी-विन्यास ने युग-युग मे कोटि कोटि जन मानस को काव्यानन्द पारावार मे अवगाहन करवाया है। बाण जैसा दिग्गज विद्वान् तभी तो कहता है—

> 'निर्गतासु नवा' कस्य कालिदास्य सूक्तिषु।
> प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मजरीष्विव जायते ॥'

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि कालिदास ने अपने काव्य के माध्यम से न केवल सरस्वती की, अपितु अपने समस्त राष्ट्र की एव विशाल विश्व की उदात्त भावना से सेवा की है। भावात्मक एकीकरण की उन्हे उस समय कितनी आवश्यकता प्रतीत हुई थी – उनके ग्रथ इस बात के साक्षी हैं। कुमार-सभव, मालविकाग्निमित्र, शाकुन्तल और मेघदूत अधिकाशतः उत्तर भारत का वर्णन कर रहे हैं, तो रघुवश में सम्पूर्ण दक्षिण भारत भी वर्णित कर दिया गया है। विभिन्न प्रदेशो के लौकिक आचार विचार, रहन सहन, रीति रिवाज का बहुत ही सुन्दर विवरण कालिदास की कृतियो मे उपलब्ध होता है। सारे भारत की प्रमुख पैदावार, वनस्पति, पशु पक्षी, सभी का स्थान स्थान पर यथा-सभव निदर्शन किया गया है। यह कालिदास के विस्तृत अध्ययन एव ज्ञान का परिचायक है। काव्यगत विशेषताओ के साथ साथ कालिदास का अपने राष्ट्र के प्रति उत्कट प्रेम उनकी कृतियो से स्पष्ट है। उनके ग्रन्थ भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के पोषक हैं और उसका प्रतिनिधित्व करते हैं।

महाकवि कालिदास की ठीक ठीक तिथि निश्चित करना बहुत ही कठिन है। अथक प्रयास करने के बाद भी विद्वज्जन इस विषय मे किसी एक निष्कर्ष पर नही पहुँच पाये हैं। यही स्थिति उनकी जन्म-स्थली के विषय में भी रही है। काश्मीर, बग, विदिशा, उज्जयिनी आदि अनेकों स्थान उनके काव्य मे यत्रतत्र प्रसगगत हुए हैं और इससे उक्त समस्या और अधिक जटिल हो गई है। प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व से नवम शताब्दी ईस्वी तक तथा उसके भी पश्चात् ११ वी शती मे धाराधीश भोज के साथ उनका नाम जोडा जाता रहा है। विद्वानो ने कम से कम तीन कालिदास बना दिये हैं, किन्तु इस विषय में बाणभट्ट का उपरिलिखित श्लोक सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण है, जिसमे एकवचनान्त प्रयोग (कालिदासस्य) करना एक ही (और

प्रख्यात श्री) कालिदास होने का सकेत करता है। जनश्रुति भी विक्रम और कालिदास (नवरत्नो में से एक का नाम) साथ साथ लेती है। विक्रम किसी महेन्द्रादित्य का पुत्र ईस्वी पूर्व ५७ मे उज्जयिनी का राजा कहा गया है और उसीने 'विक्रम सवत्' के नाम से प्रसिद्ध सवत् का प्रवर्तन किया है। इन्ही तथा ऐसे ही अन्य आधारो पर अनेक विद्वानों ने कालिदास को प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व मे रखा है और उज्जयिनी (श्री विशाला विशाला) को उनकी जन्म-स्थली एवं कर्म-स्थली माना है। प्रमाण चाहे जो भी हो, वस्तुतः कालिदास देश, काल एव स्थान की सीमाओ को लाघ गये है और अव उन्हे किसी विशेष देश, काल, अथवा स्थान के साथ बाध रखना अत्यन्त कठिन है।

जय भारत जय

—श्री मैथिलीशरण गुप्त

जय भारत जय, जिसने हमको अपना वन्द्य स्थान दिया,
रक्खे उसका मान सदा हम, जिसने हमको जन्म दिया।

गिरि-वन-नद-नदियो से शोभित मिली उर्वरा धरा हमे,
मालव ऐसे क्षेत्र उपस्थित हैं रखने को हरा हमे।

प्राप्य निरन्तर मणि रत्नो की खानो का धन खरा हमे,
नव जीवन के साधन रहते डरा सके क्यो जरा हमे ?

उज्जयिनी मे महाकाल ने हमे अभय वरदान दिया,
जय भारत जय जिसने हमको अपना मध्य स्थान दिया।

अहो भाग्य जो पाया हमने निज सन्तुलन भार इसने,
हम क्या जग में जाग न कोई अब परवशता से मिलने।

अब कैसा यह स्ववश पूर्व मे इसे स्वतन्त्र किया किसने,
क्या न हमारा ही विक्रम था चला दिया संवत जिसने ?

किसने किसको कालिदास-सा अमर गिरा का गान दिया।
जय भारत जय जिसने हमको अपना मध्य स्थान दिया॥

महाभारत की एक विलक्षण लघुकथा

एकलव्य का अंगूठा

प्रा. ग. वा. कवीश्वर

महाभारत के आदि पर्व मे एकलव्य की विलक्षण कथा आती है। इसके बारे में कई सदेहात्मक धारणाए प्रचलित हैं। कहा जाता हैं कि, गुरु द्रोणाचार्य ने अपने प्रियतम शिष्य अर्जुन का धनुर्विद्या मे सर्वश्रेष्ठत्व अबाधित रखने हेतु निरपराध शूर एकलव्य का दुष्टतापूर्वक अगूठा कटवाकर उसको धनुष्य बाण चलाने से ही असमर्थ कर दिया। साथ मे एकलव्य को एक निर्धन निराधार बालक भी बताया जाता है। फिर, एकलव्य निषाद जाती का होने से इस कथा में आर्य-अनार्य वाद भी देखने की चेष्टा कोई करते हैं। इस प्रकार के ये भ्रम कितने दृढ मूल हैं यह जानने हुए भी, मैं उनके निराकरण मे द्रोणाचार्य-एकलव्य कथा का एक पुनर्मूल्याकन प्रस्तुत करने का प्रयास करता हू। मैं आशा करता हू कि यदि कुछ पाठको को यह विवेचन प्रथम वाचन मे पूर्णतया न जचे, तो भी वे उस पर कृपया गभीर विचार करेंगे।

यहाँ मैं प्रथम ही स्पष्ट कर देना चाहू गा कि मेरी यह भूमिका नही है कि महाभारत की घटनाओ की या पात्रो की आलोचना नही होनी चाहिये। हमारी प्राचीन पौराणिक कथाओ का चिकित्सक विचारपूर्वक अध्ययन करने का हमे अवश्य अधिकार है। उनमे जो वास्तव मे सदोष अश हो उस पर आक्षेप भी लिये जा सकते हैं। किन्तु प्रथम सवाल यह होना चाहिये कि ऐसी किसी भी कथा के मूल वर्णित तथ्य क्या हैं? विशेषतः महाभारत ग्रन्थ एक ऐसे अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न महापडित की कृति है, जिसने उसकी रचना आव्हान पूर्वक अत्यन्त सूक्ष्मता से स्थान-स्थान पर कई प्रकार के गहन कूट स्थल रखकर की है। इनमे से कुछ कूट कालगणनात्मक होकर उनमे महाभारत की प्रमुख घटनाओ की तिथियाँ कुशलता से छिपा रखी है। जैसा कि पाठक जानते ही होगे, मैं गत कुछ वर्षो से उनका स्पष्टीकरण विभिन्न स्थानो पर विद्वज्जनो के सामने रख रहा हू[१]। महाभारत के कुछ कूट श्लोक दार्शनिक स्वरूप के हैं जो खासकर गीता में मिलते हैं, उनकी भी चर्चा सदियो से विद्वानो द्वारा की जाती आ रही है।

इनके अलावा कुछ अन्य कूट भी है, जो स्थल, प्रसग तथा स्वभाव वर्णन मे आते हैं। महाकवि की सूक्ष्म शब्द रचना के कारण इनके विषय मे भी सहज ही गलत धारणाएं प्रसृत हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, यह एक आम धारणा है कि महाभारत का कौरव-पाडव युद्ध प्रति दिन ठीक सूर्यास्त पर ही बद होता था। किन्तु वास्तव में न तो वैसा नियम था, नही वह प्रत्यक्षतः प्रति दिन

---

१ इस विषय पर मेरा एक प्रबन्ध नागपुर के विदर्भ सशोधन मडल द्वारा मराठी मे तथा विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन द्वारा हिंदी और अग्रेजी मे प्रकाशित हुवा है।

हुवा[1]। इसी प्रकार एक बहु प्रचलित धारणा के अनुसार जयद्रथ वध के समय श्रीकृष्ण ने उसको सूर्यास्त के मायावी दृश्य से धोखे मे डाला और उस अवस्था मे जब वह आश्वस्त होकर रणभूमि पर बिना किसी शंका के विचर रहा था तब अर्जुन ने उसको एकदम मार डाला। यदि वास्तव में घटना ऐसी ही हो तो वह श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के लिये लाछन नही होगा? महाकवि व्यास का इस प्रसग का वर्णन सूक्ष्म तथा मार्मिक होकर, उसके ठीक अध्ययन से इस घटना की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। एकलव्य की कथा के बारे मे भी गलत धारणाए तथा द्रोणाचार्य पर गलत आक्षेप लगाये गये हैं। तो आइये, इस छोटीसी किन्तु बहुचर्चित गुरु शिष्य कथा के तथ्य हम देखें।

द्रोण, एक महान राजगुरु

महाभारत मे कहे अनुसार (आदिपर्व अध्याय १३०-१३१) राजा द्रुपद ने उसके बालमित्र द्रोण का घोर अपमान किया। इस पर द्रोणाचार्य क्रोधित होकर धनुर्विद्या मे अपने कुछ श्रेष्ठ शिष्य तयार कर उनके द्वारा द्रुपद को पराजित करना चाहते थे। इस हेतु घूमते-घूमते वे हस्तिनापुर आ पहुचे। तब दुर्योधनादि धार्तराष्ट्र एवं युधिष्ठिरादि पाण्डव बाल्यावस्था मे थे। पाडु मर चुका था, और धृतराष्ट्र अध होने से राज्य का कार्य मुख्य रूप से पितामह भीष्म देखते थे। द्रोणाचार्य की धनुर्विद्या मे ख्याति से भीष्म परिचित थे। अत अनायास ही द्रोण हस्तिनापुर आने का समाचार पाते ही भीष्म ने उनका सम्मानपूर्वक स्वागत किया और हस्तिनापुर मे ही बसकर कुरुकुल के बालको को धनुर्विद्या सिखाने के लिये उनको आमन्त्रित किया। भीष्म ने द्रोणाचार्य को निवास के लिये अच्छासा मकान दिया तथा उनके जीवनयापन की समुचित व्यवस्था कर दी।

गृहच सुपरिच्छन्न धनधान्यसमाकुलम्।
भारद्वाजाय सुप्रीत प्रत्यपादयत प्रभु.॥ आदिपर्व १३१/३॥

द्रोणाचार्य ने वह प्रस्ताव मान्य किया और कुरुकुल के आदरणीय राजगुरु के रूप मे वे कार्य करने लगे। इस प्रकार जब द्रोणाचार्य हस्तिनापुर में बस गये, आसपास के अन्य भी कई राजपुत्र उनके पास आकर धनुर्विद्या सीखने लगे।

राजपुत्रास्तथा चान्य समेत्य भरतर्षभ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमरस्त्रार्थे द्विजसत्तमम्॥ १३१/१०॥
वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवा:
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरु द्रोणमियात् तदा॥ ११॥

एक लव्य का प्रवेश

इस सदर्भ मे यहा पर एकलव्य का प्रवेश होता है। वह निषाद राज हिरण्यधनु का पुत्र था और द्रोणाचार्य से धनुर्विद्या सीखना चाहता था।

ततो निषाद राजस्य हिरण्यधनुष : सुतः।
एकलव्यो महाराज द्रोणमम्याजगाम ह॥ १११/३१॥

द्रोणाचार्य ने उसको शिष्य बनाना अमान्य किया। इसका कारण बताते हुए महाभारत मे द्रोणाचार्य को 'धर्मज्ञ' कहकर लिखा है—

न स त अतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्।
शिष्य धनुषि धर्मज्ञ स्तेषामेवान्नवेक्षया॥१३१,३२॥

यहाँ द्वितीय चरण मे 'नैषादि' के स्थान पर यदि 'निषाद' शब्द होता, तो एकलव्य 'निषाद जाति का है इसका विचार कर' ऐसा अर्थ हो सकता था। किन्तु 'नैषादि' शब्द मुख्यत जातिवाचक नही। जाति की दृष्टि से निषाद का पुत्र निषाद ही कहलायेगा 'नैषादि' नहीं। इसके विपरीत 'नैषादि' शब्द मुख्यत. पितृसूचक होकर उसका अर्थ निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य सा होता है, जिस प्रकार पचाल देश की कोई भी स्त्री पाचाली कही जा सकती होने पर भी महाभारत के विशिष्ट सन्दर्भ मे 'पांचाली' का अर्थ पचालराज यज्ञसेन द्रुपद की कन्या द्रौपदी से होता है। इसी प्रकार वैदर्भी का अर्थ विदर्भ नरेश राजा भीम की पुत्री दमयती और नैषध का अर्थ निषाधराज वीरसेन का पुत्र नल होता है। 'नैषादि' के इस प्रकार आशय मे ध्यान राज्य या जाति की अपेक्षा पिता

[1] देखिये उक्त प्रबध।

हिरण्यधनु पर अधिक केन्द्रित होता है। पाठक देखेंगे कि एकलव्य की इस कथा मे आगे भी 'नैषादि' शब्द सीधा 'एकलव्य' के अर्थ मे ही महाभारत कार ने प्रयुक्त किया है। अब एकलव्य राजा हिरण्यधनु का पुत्र था, इसलिये द्रोणाचार्य को विशेष रूप से क्या सोचना पडा ? यहाँ हम उक्त श्लोक के चतुर्थ चरण पर आते हैं।

'तेषाम् एव अन्ववेक्षया' का आशय गीता प्रेस ने 'कौरवो की ओर दृष्टि रखकर ही उन्होने ऐसा किया' इस प्रकार दिया है। इस स्पष्टीकरण को ध्यान मे लेते हुए यही मानना उचित होगा कि आचार्य द्रोण ने अपने स्वामी की इच्छा, हस्तिनापुर के कुरुकुल का राजा हिरण्यधनु से राजनैतिक सम्बन्ध, एकलव्य को धनुर्विद्या सिखाई तो भविष्य मे उसके द्वारा उस विद्या का सभाव्य उपयोग आदि वातो का उचित विचार कर एकलव्य का अनुरोध अस्वी-कार किया। यदि इस परिस्थिति मे वे किसी लोभ या स्वार्थ वश एकलव्य का (जो स्वय एक राजपुत्र था) अनु-रोध स्वीकार करते तो वह स्वामिद्रोह माना जा सकता था। स्वय द्रोणाचार्य का एकलव्य के प्रति कुछ भी तिर-स्कार या तत्सम भाव होने का महाभारत मे सकेत नही है, किन्तु जिस प्रकार पाण्डवों के प्रति मन मे वस्तुतः स्नेह होते हुए भी, आगे जाकर राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधन के सेवक नाते द्रोणाचार्य उन्ही पाण्डवो के ही विरुद्ध कर्तव्य वुद्धि से लडे, उसी प्रकार उन्होने यहाँ एकलव्य की इच्छा का कर्तव्य दृष्टि से विरोध किया. यही मानना अधिक तर्क सगत होगा।

दुर्भाग्य से कई वार द्रोणाचार्य की तुलना एक निर्धन पेटपालू शिक्षक से (या द्रव्य लोभ से कुछ विशिष्ट छात्रो की खास 'ट्यूशन' करने वाले निम्न स्तर के अध्यापक से) की जाती है, जो कतई उचित नही। यह ठीक है कि अपने जीवन के पूर्वकाल में उनकी आर्थिक स्थिति वहुत खराव थी, किन्तु यह नही भूलना चाहिये कि वे स्वाभिमानी भी थे। वे राजा द्रुपद के पास भीख मागने के लिये नही, अपितु उसी ने विद्यार्थी दशा मे दिये मित्रता के वचन का स्मरण दिलाने हेतु गये और जब उन्हे अत्यन्त अपमानास्पद उत्तर मिला तो वे तुरन्त वहाँ से वापिस लौटे। उसके पश्चात् वे उचित शिष्य तैयार करने के इरादे से भ्रमण करने लगे। हस्तिनापुर पहुंचने पर भी स्वय उन्होंने धृतराष्ट्र या भीष्म के सामने हाथ नही पसारा, बल्कि उनके आगमन की सूचना मिलते ही स्वय भीष्म ने उनको आदर के साथ हस्तिनापुर मे ठहरा लिया।

फिर कुछ साल वाद तो स्वय द्रोणाचार्य एक राज्याधिपति वन गये इस बात की ओर प्राय दुर्लक्ष किया जाता है। धनुर्विद्या की शिक्षा पूर्ण होने पर पाण्डवो ने गुरुदक्षिणा के रूप मे राजा द्रुपद को युद्ध मे वन्दी बना कर द्रोण के सामने प्रस्तुत किया। इस समय उसके राज्य का दक्षिण भाग उसी को लौटाकर द्रोणाचार्यीने उत्तर भाग अपने पास रखा। यह सब उन्होने अपने अपमान का वदला लेने के लिए ही किया।

गुरू की वंचना

द्रोण के इन्कार के बावजूद एकलव्य ने उन्हीं को अपना गुरू मानकर उनकी पार्थिव प्रतिमा बनाई और उसकी पूजा करते हुए धनुर्विद्या का स्वय ही जगल मे अध्ययन प्रारम्भ किया। क्या एकलव्य का द्रोणाचार्य की इच्छा के विरुद्ध उनके नाम तथा प्रभाव का गुरू के रूप में ऐसा गुप्त उपयोग कर विद्या प्राप्त करना उचित था ? स्पष्ट है कि, उस युग की धारणानुसार किसी श्रेष्ठ गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त किये बिना उस प्रकार का उच्च विद्याध्ययन सफल न हो सकता था। इसीलिये एकलव्य ने यह दु.साहस किया होगा। एक आधुनिक उदाहरण लीजिए आजकल के विश्वविद्यालयीन नियमानुसार भी पी. एच. डी की उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी मान्यता प्राप्त विद्वान को 'गुरू' (गाइड) मानना आवश्यक होता है। अब यदि कोई विद्वान किसी निजी कारण से एक व्यक्ति विशेष का 'गुरू' (गाइड) होना स्वीकार नही करता, और फिर भी वह व्यक्ति उसी को 'गुरू' मानकर तथा बताकर अपना प्रबध (और वह भी ऐसे विषय मे जिस पर उस विद्वान ने अपने मार्गदर्शन मे अन्य किसी अभ्यासक को पहिले ही प्रबन्ध लिखवाना मान्यकर लिया हो) विश्व-विद्यालय मे प्रस्तुत कर उक्त उपाधि प्राप्त करने का प्रयास करता है तो आप क्या कहेंगे ?

एकलव्य ने जगल के एकान्त मे द्रोणाचार्य की इच्छा के विरूद्ध उनकी प्रतिमा का उपयोग कर विद्या प्राप्त की इतना ही नही, अपितु वह ससार मे भी प्रतिष्ठा प्राप्त करने हेतु अपने को द्रोणशिष्य बताने लगा। स्वय पाँडवो को उसने अपना परिचय देते समय यही कहा[1]—

निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुषः सुतम् ।
द्रोणाशिष्य च मा वित्त धनुर्वेदकृतश्रमम् ॥४५॥

यह सुनकर स्वाभाविक ही पाण्डवो को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। अर्जुन ने तो द्रोणाचार्य से शिकायत ही की। आपने मुझे आशीर्वाद दे रखा था कि, आपका कोई भी अन्य शिष्य धनुर्विद्या मे मुझसे बढकर नही होगा—

तदाह परिरम्यैकः प्रीतिपूर्वमिद वच. ।
भवतोक्तो न मे शिष्यस्त्व द्विशिष्टोभविष्यति ॥४८॥

फिर आपका यह दूसरा शिष्य, निषाद राजका पुत्र, धनुर्विद्या मे इतना कुशल तथा मुझसे भी श्रेष्ठ कैसा हुआ ?

अथ कास्मन्मद्विशिष्टो लोकादपिच वीर्यवान् ।
अन्योऽस्ति भवतः शिष्यो निषादाधिपते सुतः ॥४६॥

अब यहा जरा सोचिये। यदि इस शिकायत पर द्रोणाचार्य चुप रहते तो उन पर कितना गभीर आरोप आता ? क्या वे चोरी छिपे जगल मे किसी विशेष को धनुर्विद्या और वह भी अर्जुन से भी श्रेष्ठ स्तर की, सीखा रहे थे ? अब केवल 'मैं तो उसको मेरा शिष्य नही मानता' कहने से काम चलने वाला नही था, क्यो कि उधर उनकी प्रतिमा का उपयोग कर एकलव्य श्रेष्ठ धनुर्धर होकर स्वयं को द्रोणशिष्य बता भी रहा था। इस परिस्थिति में द्रोण का क्या कर्तव्य था ? उन्होंने एक 'मुहूर्त' सोचा और अर्जुन को साथ लेकर वे सीधे एकलव्य के पास पहुचे।

---

[1] इसी लिये यद्यपि इस युद्ध मे लडाई के प्रति दिन पश्चात् एक अवकाश दिन रहता था, जयद्रथवध के रोज के बाद अवकाश दिन नही था (देखिये मेरा पूर्वोक्त प्रबन्ध)

भगवान्-गिरीषः

यद्वैभवाकृष्टमना हि मार्द्रि,
पुरातनं धाम निजं विसृज्य
सुरा सुराभ्यर्चित पादपद्मो,
अध्यास्ते स्वयंयाम् भगवानगिरीषः

श्री दयाशकर वाजपेयी एम. ए.

चतुर्भाणी की उज्जयिनी

श्री भगवतीलाल राजपुरोहित

एकनट एकांकी भाण है। चतुर्भाणी मे चार भाण का सग्रह हैं। इन चारो के रचयिता भी भिन्न-भिन्न हैं। इनमे से दो भाण की वस्तु का सम्बन्ध पाटिलपुत्र से है तथा दो का उज्जयिनी से। उज्जयिनी से सम्बद्ध भाणो में से पद्म प्राभृतकम् भाण का रचयिता लोकप्रिय रूपक मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक से अभिन्न हैं। द्वितीय भाण श्यामिलक का पादताडितकम् हैं। दोनो भाण गुप्तकाल से परवर्ती रचना नही हैं। दोनो का अगी रस शृगार है। नायक विट है, जो उज्जयिनी के बाजार तथा वहाँ की वेश-भूषा मे विचरण करता हुआ वहाँ के वातावरण का आँखो देखा हाल प्रस्तुत करता हैं। उसकी इस यात्रा मे गणिकाओ से हास-उपहास, चुहलवाजी तथा राह मे पडे परिचितो पर फवतिया, उस युग तथा उसकी मनोवृत्ति को अधिक यथार्थ तथा मनोरम रूप में प्रस्तुत कर सकी। अपने युग के यथार्थ को हम तक पहुचाने मे ये भाण निश्चय ही सहायके बने हैं।

शूद्रक का भाण अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती है। चतुर्भाणी के एक भाण वररुचि का उभयाभिसारिका भी सगृहीत है। वररुचि के काव्य का अभ्यास कर प्रतिभाशाली हुए उज्जैन के गुप्त तथा महेश्वरदत्त कवियो का उल्लेख पादताड़ितक (श्लोक १४२) में हुआ है। अवश्य ही वररुचि की रचना अधिक पूर्ववर्ता हैं, परन्तु उसकी वस्तु पाटिलपुत्र से सम्बद्ध है।

उपर्युक्त भाणयुगल के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उज्जैन सार्वभौम नगर था। उस युग मे केवल सार्वभौम कहने से उज्जैन का बोध होता था। (पादता० २१/६, २६/८)। अपनी श्रीमत्ता के कारण यह जम्बूद्वीप का प्रधान नगर बन गया था (पद्म० ८/२०, पादता० २१/९)। उज्जयिनी अवन्तिसुन्दरी थी, जो सम्पन्नता के कारण नयनाकर्षक लगती थी। यहा के बाजार विविध मनोरम विक्रेय पदार्थों (भाण्ड) से सज्जित थे। बाजार में निकलने पर विविध दृश्य एक साथ सुलभ हो जाते थे, जिससे उसकी धर्म, अर्थ तथा काम की कथा अनायास साक्षात् हो जाती थी। वेदो का पवित्र अभ्यास, हाथी, रथ, घोडो का निनाद, धनुष की प्रत्यञ्चा की ध्वनि, नाट्य, श्रव्यकाव्य तथा विद्वानो के शास्त्रार्थं दूकानो पर चारों समुद्रो से आनीत माल की लेन-देन, गाना बजाना, जुआ तथा हँसीठट्ठा, विटो की गप्पें, सारी कलाओ का ज्ञान प्रदर्शन, घर-घर में पालतू पक्षियो, चूडियो तथा मेखला की ध्वनि। (पद्म० ९) सगीत से, वनिताभरणो की झकार से, पालतू पक्षियो की चह चहाट से, स्वाध्याय की ध्वनि से, धनुष की टकार से, वधशाला की खड्ग ध्वनि से, पालतू सारस तथा पात्रो की कमरो में गूँजती आवाज से, धवल प्रासाद की पंक्तियाँ मानो आपस में वार्तालाप करती रही (पादता० २२)। साथ ही पर्वतो से, द्वीपो से समुद्रतटो से, मरुभूमियो से सैकडो राजा यहा आकार हर दिशा में बस गये थे। पहिले अनसुनी अनोखी कहानी की भाँति विधाता की विविध रचनामयी सृष्टि को यहां एक ही स्थान पर मानव प्रत्यक्ष देख सकता है। इस आनन्दमय नगर में शक, यवन, तुषार (कुषाण), पारसीक (इरानी), मागध, किरात, कलिंग, वग, माहिषक (हैदराबाद के

परित.) चोल, पाण्ड्य तथा केरल के निवासी चारो ओर दिखाई देते थे (पादता० २३-२४)।

उज्जैन के वाजार में जल तथा थल मार्ग से आयात वढिया तथा घटिया माल का लेन-देन करने वाले स्त्री पुरुषो की भीड दुकानो पर लगी रहती थी। शोभा से हँसती फूलमाला पानागारो में चलते प्याले, हाथ में सरकण्डो की मूठी लिये उन नगरविहगो को कनखियो से देखते मासविक्रेता जो उस कसाई खाने पर टूट रहे थे, जिसकी भीतरी दीवारो पर छुरियाँ सजी थी (पादता० २६)। यहाँ के वाजार का पथ चौडा था, जिस पर अपार भीड रहती थी। पक्षियो के वसेरे तथा गायो के बाडे के समान यहाँ के लेन-देन वाले वाजार मे मनुष्यो की भीड का शोर होता था। लुहारो की दुकानो पर टन-टन, खराद पर चढ़े कासे की आवाज, घोडे की सांय सांय जैसी आवाज करता हुआ, चूडा काटने को शख पर रखा लोहे का औजार एव चारो ओर मे क्रयविक्रय के लिए आते लोग, (२७-२८) कन्धे से कन्धा भिडाकर आपस मे वहस करते तथा खरीदते हुए आते जाते जनो की अपार भीड ऐसे लगती मानो खेतो में पौधो की पक्तियाँ हो। जुआडी जुए मे कुछ मापक (चादी का दो रत्ती अथवा तांवे कार्षापरती तोल का सिक्का) जीतकर फूल, पुए मास और आसव हाथ मे लिये परिचारको के साथ चकले की ओर वढते थे (पादता० ३०)।

यहाँ की समृद्धि का परिचय हमे कालिदास के मेघदूत, वाण की कादम्वरी तथा पद्मगुप्त परिमल के नवसाहसांकचरित से भी उपलब्ध हो जाता है, परन्तु उस वर्णन मे प्राय. परिपाटी का अनुसरण है। नगर तथा उसकी गतिविधि पर विहगम दृष्टि डालने का सार्थक प्रयास इन भाणो तथा मृच्छकटिक में ही हुआ है। मृच्छकटिक से इन भाणो के कई तथ्यो की पुष्टि हो जाती है।

मुख्य वाजार से पुष्पवीथी पारकरने पर दायें पानागार पडते थे। वही सामने पूर्णभद्र शृंगाटक (तिराहा) पडता था, जिसे पार कर मकररथ्या में होते हुए वेशपथ में पहुंचते थे। प्राचीन उज्जैन की गली का मकररथ्या अभिधान अर्वाचीन उज्जैन की सकीर्ण 'मगरमुहा' गली के नाम मे सुरक्षित पाया जा सकता है, जहाँ से अब भी वेशपथ अधिक दूर नही है। राजवीथी मे लावणिकापण (पादता० ६७/१७) के अनुरूप आज भी उज्जैन के मुख्य पथ से नमक-मण्डी अधिक दूर नही है। वेशपथ के निकट ही उज्जैन का प्रसिद्ध कामदेवायतन था, जिसका उल्लेख मृच्छकटिक तथा कादम्वरी मे भी उपलब्ध होता है। यह मन्दिर एक उद्यान मे था (मृच्छ० १/३२)। नगर मे मन्दिर के अतिरिक्त खुले चवूतरे पर भी शिवपिंडी स्थापित की जाती थी (पद्म० १८/११)। अनेक चौराहो के अतिरिक्त वहाँ एक मोहल्ले का नाम वहिश्शिविक (पादता० ८५/५) था, जो नगर से वाहर था तथा जिसमे पताका (नीच, सस्ती व प्रच्छन्न) वेश्याएँ रहती थी (पादता० ९३-९४)।

उपर्युक्त उल्लेखानुसार उज्जैन मे कई विदेशी आकर वस गये थे, इन्ही मे से एक का नाम 'इरिम' था। यह सम्भवत यूनानी एरमेश (HERMES) का सस्कृत रूप है। काकायन मत का अनुयायी वाह्लीक देश का भिषक् हरिश्चन्द्र उज्जैन मे रहता था। यहाँ पर कई विदेशी वेशयुवतियां रहती थी। एक यवनी का नाम कर्पूरतुरिष्ठा था। नाम का उत्तरार्ध किसी यवन शब्द का ही सस्कृत रूपान्तर हैं। कवि ने यवनी तथा गणिका को साधारण कहा है (पादता० ११५/१)। इससे स्पष्ट है कि यवन स्त्रियाँ यहाँ आकार प्राय· गणिका अथवा परिचारिका वृत्ति में लग जाती थी। उनका स्वरूप भी वर्णित है—चकोर के समान वाल तथा आंखो वाली यवनी मधुपात्र मे अपना मुख देखती हुई, नखो से लम्वी लटो को विखरती हुई, मधूक कुसुम सी शुभ्र तथा सुकुमार गालो पर उभरे मदराग को आन्तता समझकर पोंछती है —

'चकोरचिकुरेक्षणा मधुनि वीक्षमाणा मुख
विकीर्य यवनीनखैरलक्तकदल्लरीमायताम्।
मधूककुसुमावदातसुकुमाररागयो.
प्रमार्ष्टि मदरागमुद्यितमलक्तकाशङ्कया ॥ ११५ ॥

उज्जैन के निवासी यशस्वी शार्दूल वर्मा का पुत्र वराहदास इस यवनी पर आसक्त था। मालव तथा यवनी के सम्वन्ध पर फवती कसता हुआ कवि कहता है—जैसे

खैर के वृक्ष पर केंवाच तथा नीम पर परवल की लता फैलती हैं उसी प्रकार यदि किसी मालव पर यवनी आसक्त हो तो बढिया जोडी होती है—

'खदिरतरुमात्मगुप्ता पटोलवल्ली समाश्रिता निम्बम् ।
श्लिष्टो वत सयोगो यदि यवनी मालवेसक्ता । ११६ ।

कवि ने यवनी तथा गणिका के समान ही मालव तथा कामुक, वानरी तथा नर्तकी, गायक तथा गधे को समान गुणशाली कहा है । इन यवनियो की भाषा यहा के लोग प्राय: समझ नही पाते थे । इनसे प्राय इशारो से बातचीत होती थी । इसीलिए पहिचान होने पर भी विट यवनी से बिना बात किये सट कर निकल जाता है । वह कहता है—ऐसा कौन है जो वानरी की आवाज के समान चीत्कारयुक्त अनजाने व्यजनों से युक्त, कुछ इशारो के साथ केवल प्रदेशिनी अगुली से अभिप्राय व्यक्त करने वालो स्वय वेशयवनो की बात सुनेगा । (पादता. ११६।२) ।

"को हि नाम तानि वानरीनिष्कूजितोपमानि चीत्कारभूयिष्ठानि अप्रत्यभिज्ञेयव्यञ्जनानि किञ्चित्करेणान्तराणि (!) प्रदेशिनीलालनमात्रसूचितानि स्वयवेशयवनीकथितानि श्रोष्यति ।"

उज्जैन मे कई कवि रहते थे । गुप्त तथा महेश्वर दत्त के अतिरिक्त दाशेरक (मन्दसौर का) रुद्रवर्मा दाक्षिणात्य कवि आर्यक आदि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं । शूद्रक उज्जैन के एक कवि कात्यायन के विषय में कहता है कि वह चर्मकार के समान पुराने काव्यपद के टुकडो को गांठता है तथा बिखरी गोओ को खोजने वाले ग्वाले के समान नवपादो को ढूढता है । यह कवि अपने घर के द्वार पर सोचते हुए पुराने-नये का मेलकर बढिया से कविता लिखता है (पद्म ९-१०) शैव्य कवि आर्य रक्षित के माध्यम से तद्युगीन सस्ते व हीन कवियो पर भी गहरा व्यग्य किया गया है—यह आर्यरक्षित उज्जैन मे क्षत्रियो के घर जाकर एक प्याला शराब के लिये अपना काव्य बेच आता है, जो शिबिकुल मे उत्पन्न होकर भर्तृस्थान (मूल स्थान=मुलतान) मे बूढा हो गया । कोडी के मोल कविता बेचने वाले टटपूंजिये पियक्कड कवि न केवल उज्जैन मे बल्कि काशी, कौसल, भर्ग तथा निषाद में भी थे (पादता १३३-३४) —

"विक्रीणाति हि काव्य श्रोत्रियभवनेषु मद्यचषकेण ।
य. शिबिकुले प्रसूतो भर्तृस्थाने जरा यातः ।।
विक्रीणन्ति हि कवयो यद्येव काव्य मद्यचषकेण ।
काशिषु च कोसलेषु च भर्गेषु च निषादनगरेषु ।।"

विषय का आयाम अमित है । कवि श्यामिलक (पादता० ५) की उस आनन्दवादी उक्ति के साथ हम यह प्रकरण समाप्त करते हैं, जिससे उस युग के मनमौजी जीवन पर प्रकाश गिरता है, सदा मुह बिगाडने की आदत छोडकर उन्मुक्त हृदय से हसते रहना चाहिये क्योकि न तो रोने से यतियो को मोक्ष मिलती है न हसी-ठट्ठे से स्वर्ग का पथ अवरूद्ध होता है—

न प्राप्नुवन्ति यतयो रूदितेन मोक्ष,
स्वर्गायति न परिहासकथा रूणद्धि ।
तस्मात् प्रतीतमनसा हसितव्यमेव
वृत्ति बुधेन खलु कौरुकुची विहाय ।।

एकोऽहि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दो किरणेष्वांकः

अनेक गुणो मे एक दोष वैसे ही छिप जाता हैं, जैसे चद्रमा मे कलक ।

कालिदास का ऋतुसंहार

—महर्षि अरविन्द

कालिदासका "ऋतुसहार" एक महान कवि की उन आरम्भिक कृतियो मे से है, जो उनके कवित्व-विकास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिये उनकी परवर्ती सर्वोत्कृष्ट रचनाओं की अपेक्षा अधिक रोचक हैं। यहा हम अपरिपक्व रचना-कौशल और अनिश्चित शैली मे भी उनकी विशिष्ट प्रतिभा को देखते हैं और कवि की आत्माभिव्यक्ति त्रुटिपूर्ण होने पर भी उसके स्थायी व्यक्तित्व को पहचान सकते हैं। यहा वाह्य अभिलेख-साक्षी कम हैं, वहा यह रुचि प्राय प्रामाणिकता के प्रश्न से विचलित हो जाती है और जहा सदेह का कोई भी कारण उपस्थित हो वहा पहले उसे दूर करना आवश्यक है। हमे प्रारम्भिक और अपरिपक्व कृति की प्रामाणिकता को अस्वीकार करने की ओर ले जानेवाली हमारी प्रवृत्ति स्वाभाविक और लगभग अनिवार्य है। जब हम कवि-कुल-गुरू कालिदास की महान सुस्वरताओ और विजयी कल्पनाओ से इन अनिश्चित आरम्भिक रचनाओ के अपरिपक्व और कदाचित त्रुटिपूर्ण काव्य कौशल की ओर मुडते हैं तो हम हठात् चिल्ला उठने को वाध्य होते हैं कि "यह तो उस कवि की रचना नही है किन्तु यह प्रवृत्ति चाहे कितनी ही स्वाभाविक क्यो न हो, सदा युक्तिसगत नही होती। यह सिद्धान्त कि कवि पैदा होते हैं, बनाये नही जाते, केवल इसी अर्थ मे सत्य है कि बच्चे के मन में महान कवित्व-शक्तिया विद्यमान होती है और इस अर्थ मे वही कथन प्रत्येक प्रकार की मानव-प्रतिभा के लिये उतनी ही सत्यता पूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है। दार्शनिक, शिल्पी, चित्रकार, आलोचक, वक्ता, राजनीतिज्ञ, ये सब जन्मजात होते है, वनाये नही जाते, किन्तु काव्य-प्रतिभा अधिक दुर्लभ या हर हालत मे दूसरी किसी भी प्रतिभा से अपने आकर्षण मे अधिक व्यापक और चिरस्थायी होती है, सामान्य बुद्धि ने जिसमे सत्य के अनेक पहलुओ में से एक को पकड लेने और मूल-भ्रान्तियों को कहावत का ठोस रूप प्रदान करने का आशु गुण होता है, कवि को प्रकृति की एक ऐसी महान् विचित्र कृति के उच्च आसन पर बिठा दिया है, जो सामान्य नियम से बाहर हो। यदि वक्तृत्व की ज्वलत अन्तर्जात प्रतिभा से रहित किसी व्यक्ति को प्रशिक्षण के द्वारा एक अच्छा वक्ता बनाया जा सकता हैं या सिद्धहस्त चित्रकार मे पायी जाने वाली रूप और रग की अतः प्रेरणा से रहित कोई अन्य व्यक्ति स्वय के लिये एक निर्दोष चित्रशैली का आविष्कार कर सकता है तो उसी प्रकार एक अल्प प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति भी सतत अभ्यास के द्वारा सुन्दर छन्द रचना के यन्त्र का काम कर सकता है, किन्तु कवि-प्रतिभा के विकास के लिये अनुभव और आत्म-अनुशासन की उतनी ही आवश्यकता होती हैं जितनी किसी भी अन्य प्रतिभा के लिये और ठीक उसकी जटिलता के कारण अधिकाँश प्रकार की प्रतिभाओ की अपेक्षा और भी अधिक बहुमुखी प्रतिभा से युक्त महान कवियो के लिये यह वात विशेष रूप से सत्य है। एक उच्च किन्तु सकीर्ण प्रतिभा केवल एक ही दिशा में सर्वोत्तम रूप से कार्य करती है और वह अपने विकास के किसी आरम्भिक चरण मे पूर्णत्व प्रकट कर सकती है, किन्तु शेक्सपीयर या कालिदास जैसे शक्तिशाली और वहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क अधिक विकसित अवस्था से पहले मुश्किल से ही कभी

अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान पाते हैं। निश्चय ही उनका पहले का कार्य ओज, भावी महत्ता के सकेतों और प्रतिभा से युक्त होता है, किन्तु वह त्रुटिपूर्ण निम्नकोटि का और प्रायः अनुकरणशील भी होगा। स्वभावत: यह अपूर्णताउनकी विविध शक्तियो के सामजस्य के नियम को अन्नमय कोष पर जो आत्मा की स्वाभिव्यक्ति का उपकरण है, स्थापित करने की गुरुतर कठिनाई से उत्पन्न होती है। इस सामजस्य को प्राप्त करने के लिये समय और श्रम की आवश्यकता होती है और इस बीच रचना प्राय. त्रुटिपूर्ण और असमान होगी, अभिव्यक्ति हुई अ त प्रेरणा के तथा सत्य-दर्शन की या अभिव्यक्ति की क्षीणता के बीच उसके अनेक विविध रूप होगे।

साहित्य मे कालिदास से अधिक वहुमुखी, उर्वर और वैविध्यक्षम प्रतिभा वाला दूसरा व्यक्ति नही है, और विशेषत उनकी कृतियो के सम्बन्ध मे हमे त्रुटियो और गौण भिन्नताओ के आधार पर प्रामाणिकता को अस्वीकार करने से वचने के लिये सतर्क रहना चाहिये। सर्वप्रथम तो हमे कालिदास के उस अत्यल्प और अपरिभाष्य व्यक्ति की उपस्थिति या अनुपस्थिति के द्वारा निर्णय करना चाहिये जिसे हम उनकी समस्त असदिग्ध कृतियो में प्रत्यक्ष रूप में पाते हैं, चाहे उन कृतियो का स्वरूप और विषय कितना ही भिन्न क्यो न हो और तत्पश्चात उन सुनिर्देश विशिष्टताओ के आधार पर हमे निर्णय करना चाहिये जो उनकी प्रतिभा का सार तत्व है और दूसरो के द्वारा कम से कम अनुकरण के योग्य हैं। वाह्य साक्षी के अभाव मे, जिसका अपने आप मे मुश्किल मे ही कोई मूल्य होता है, जब तक कि वह निश्चित और समकालीन या लगभग समकालीन प्रातो मे प्राप्त न हो, व्यक्तित्व रूपी कसौटी ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। आकस्मिक वस्तुए और व्यौरे की बातें केवल समर्थन करने वाली साक्षी के रूप मे ही उपयोगी होती हैं, क्योकि ये परिवर्तनशील और अनुकरण योग्य है। किन्तु व्यक्तित्व एक ऐसी उपस्थिति है, जो स्पष्ट पहचानी जा सकती है और स्थायी वस्तु है तथा अनुकरण की पकड मे उतनी ही मुश्किल से आती है, जितनी कि विश्लेषण की। साहित्यिक रसानुभूति सबधी थोडा सा भी सूक्ष्म विवेक नलोदय और कालिदास की असली रचना के बीच के अन्तर को स्पष्ट देख सकता है। वह (नलोदय) न केवल एक ऐसे युग के कवि-सप्रदाय की वस्तु है, जिसमें काव्यात्मक रुचि निकृष्ट और कृत्रिम हो चुकी थी, क्योकि वह उन गद्य-रचनाओं का एक काव्यात्मक प्रतिरूप है, जिनके अस्तित्व के औचित्यका समर्थन मुख्यत. पांडित्य-प्रदर्शन के द्वारा ही होता जान पडता है, किन्तु वह व्यक्तित्व के और स्थायी विशेषताओ के इस मामले मे शाकु तल या कुमार सभव या रघुवश के साथ भी कोई पर्याप्त सपर्क-विन्दु प्रस्तुत नही करना। किन्तु जिस प्रकार कि कालिदास की मुख्य विशेषताए, उनकी सशक्त कल्पना, उनकी शैली की सुघडता, उनकी व्यापक इन्द्रिय सुखानुभूति की भावना उनकी उपमाओ की विशिष्ट प्रकृति, उनके विचार और कल्पना की विशिष्ट कुशल रेखाए, उनके वर्णन का विशिष्ट और अननुकरणीय ढाचा, उसी प्रकार उनका व्यक्तित्व भी ऋतु सहार में स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होता है। इसका अधिकांश भाग अभी तक एक अर्धविकसित अवस्था मे हैं, पूर्ण सुसगति मे रहित हैं, अभी तक उस कुशल हस्तस्पर्श से गढा नही गया है, जो उन्होने शीघ्र ही प्रकट किया, किन्तु कालिदास वहा बिलकुल उतने ही स्पष्ट रूप मे विद्यमान है, जितना कि अपनी अधिक प्रारभिक रचना वीनस एण्ड एडोनिस (Venus and Adonis) यालुक्रीस (Lucrece) मे शेक्सपियर जिन दोषों से प्रौढ कालिदास दूर रहते है यथा, विचारों की पुनरुक्ति, नितात आवश्यक से अधिक शब्दो का प्रयोग, शब्दो और शब्द-विन्यासो की अव्यवस्थित पुनरावृत्ति, जो किसी सुनियोजित प्रभाव को उत्पन्न करने के लिये नही बल्कि लापरवाही, उतावली या शब्द-भण्डार की कमी के कारण ही, ये सब दोष इस काव्य मे सामान्यत. विद्यमान हैं। इतना ही नही, यहा बराबर ही कालिदास के हस्त-स्पर्श की सदिग्धता का बोध होता है और सिद्धहस्त रचना-कौशल का प्राय: अभाव है। कवि अपनी कवित्व-शक्ति के र्भवित वोध को प्रकट करनेमे बहुत ही उतावला रहा है और उसने इस बात का काफी ध्यान नही रखा कि शब्द-विन्यास भी, जहा तक हो सके, सर्वोत्कृष्ट होना चाहिए और अभी तक अपरिपक्व कवि की सर्वोत्तम कृतियो की अपेक्षा भाषा की परिमार्जितता और लालित्य मे बहुत निम्न कोटि का, विचार सबधी गभीर त्रुटियो से विक्षत, पद्य-रचना मे उतावली और अल्हडपन के स्पष्ट चिन्हो से युक्त होने

पर भी ऋतु सहार न केवल एक उच्च, यद्यपि अपरिष्कृत सौन्दर्य से ओत-प्रोत है, अपितु कालिदास की सशक्त और समृद्ध प्रतिमा के अनेकानेक विशिष्ट चिन्हो से युक्त है। त्रुटिया वे ही है, जो एक ऐसे समृद्ध इन्द्रियसुखानुभूति परक स्वभाव वाले कवि की प्रारभिक रचनाओ के लिए स्वाभाविक है, जो कवित्व शक्ति के प्रति तीव्र रूप मे सचेतन तो हो, किन्तु अभी तक प्रशिक्षित और अनुशासित न हो।

काव्य का सार

कालिदास का ऋतुसहार शायद किसी भी साहित्य का पहला काव्य ग्रथ है, जो प्रकृति का वर्णन करने के सुनिश्चित विशिष्ट उद्देश्य को लेकर लिखा गया है । अपने उद्देश्य मे यह टॉमसन के 'Seasons' (सीजन्स) के ठीक समान है, जो अठारहवी शताब्दी का उसी दिशा मे किया गया एक प्रसिद्ध असफल प्रयत्न था। दोनो काव्य के नाम समान हैं, रूप समान हैं और दोनो ने प्रत्येक ऋतु के लिये एक-एक सर्ग रखने की योजना ग्रहण की है और पद्धति मे भी यहाँ तक समानता है कि दोनो के कवियो ने प्रत्येक ऋतु को उसकी प्रमुख विशेषताओ, दृश्यो और विशिष्ट घटनाओ के साथ चित्रित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु यही सारी समामता समाप्त हो जाती हैं । एक सर्वोच्च विश्व के कवि की प्रतिभा और अठारहवी शताब्दी के छदकार के बुद्धि कौशल के बीच जितनी चौडी खाई है, उतना ही बडा अन्तर इस प्राचीन भारतीय काव्य के सचित ओज और समाहित शक्ति, परमोत्कृष्ट स्वरमाधुर्यो और सजीव सत्य के तथा ऋतु सहार के आधुनिक प्रतिरूप की व्यापक कृत्रिमता और आलकारिक छन्द-रचना के बीच है और भावात्मक अन्तर भी कुछ कम नहीं है । टॉमसन (Thomson) जो उस नीरस और कृत्रिम युग का कवि था जब कि एग्लो-सेक्सन मानस ने इग्लैड मे जन्म लेकर गैलिक रूप धारण कर लिया था । इस प्रकार की वर्णनात्मक कविता के प्राथमिक मनोवैज्ञानिक नियमो को समझने मे असमर्थ रहा। उसने वर्ण्यवस्तु पर अपनी दृष्टि स्थिर की, किन्तु वह केवल उसके बाह्य तल को ही देख सका। वस्तु के नव सृजन की अपेक्षा उसने उसका छायाचित्र (फोटो) उतारने की कोशिश की और उसे यह स्मरण नही रहा था उसे इसका पता नही था कि प्रकृति या तो जीवन के लिये एक चौखट, पृष्ठ भूमि या सौन्दर्य प्रसाधन हो या फिर आत्मा के लिये एक सजीव उपस्थिति हो वही तक वह कविता के लिये सार्थक होती है, अन्यथा कविता के लिये उसका कोई मूल्य नही होता । वर्ड्सवर्थ के द्वारा अपनी स्वय की चेतना के और विश्वात्मक चेतना के एक अग के रूप मे, शेक्सपियर के द्वारा जीवन के वाद्यवृन्द सगीत के एक स्वर या सहवर्ती साधन के रूप मे, अधिक आधुनिक कवियो के द्वारा सजीव विश्व चित्र की सौन्दर्य सज्जा के एक तत्व के रूप मे की गई प्रकृति की व्याख्या कविता मे सम्भव है । एक स्वतत्र किन्तु निर्जीव सत्ता के रूप मे उसका स्वय जगत् में या कवि की सृष्टि मे कोई स्थान नही हैं । बाह्य जगत् के साथ मनुष्य के सम्बन्धो की दृष्टि से प्राण और मन ही वास्तविक मनुष्य है । इन्द्रिया केवल उपकरण मात्र हैं और मनुष्य अपने से बाहर जो कुछ खोजता है, वह है अपने स्वय के गम्भीरतर स्वरूप के अनुरूप प्रत्युत्तर । जो कुछ नेत्र ग्रहण करते हैं, उसका केवल वही तक महत्व है, जहाँ तक कि उसका इस वास्तविक मनुष्य से सम्बन्ध हो या वह मनुष्य के इस गम्भीर सत्य की स्वय को सतुष्ट करने की इस आशा की सहायता करता हो। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी सूक्ष्म कलात्मक भावना, अपनी प्राणवता और सहृदय मानव प्रेम के कारण तथा सच्ची कविता क्या होनी चाहिये, इस विषय मे गम्भीर अतर्बोध के फलस्वरूप कालिदास ने आरम्भ से ही कवि के दृष्टिकोण मे प्रकृति के यथार्थ स्थान की कल्पना कर ली थी। शेक्सपियर की भाति जिससे उनकी अनेकानेक आश्चर्यजनक समानताए है। वे सदा ही आध्यात्मिक की अपेक्षा भावुक और बौद्धिक अधिक रहे हैं। हमे उनसे वाल्मीकि की चमत्कार पूर्ण अन्तर्दृष्टि की आशा नही करनी चाहिये, वर्ड्सवर्थ के आध्यात्मिक अन्तर्बोध की तो और भी कम। वे भीतर की ओर देखते हैं, किन्तु बहुत अधिक भीतर नही। किन्तु वे सदा ही कविता की अमरता के एक मात्र स्थायी आधार के रूप मे जीवन की चरम महत्ता का अनुभव करते है।

प्रथम सर्ग ग्रीष्म ऋतु मे मनुष्यो और पशुओ के जीवन और पेड-पौधो के जीवन से ओत-प्रोत है । वह सर्वजयी शक्ति और तीव्र भावावेग का स्वर मुखरित करना

आरम्भ करता है तथा एक अनुपम शक्ति और आकर्षण से युक्त काव्य का आश्वासन प्रदान करता है, किन्तु सारे छः अध्यायो मे इस मूल स्वर को विविध रूपो मे क्वणित करना युवा कवि के अद्यावधि सीमित अनुभव और सकुचित कल्पना कौशल से परे की वस्तु रहा प्रतीत होता है। वे इन्द्रिय भोगेच्छापरक जीवन पर लौट पडे, जिसकी कल्पनाओ से निःसदेह उनका उद्दाम यौवन सबसे अधिक परिचित था, किन्तु उन्हे कविता के मुख्य विचार मे गूथ देने के बदले वे सहारे के लिये उनकी ओर मुडे, और जब उनकी कल्पनात्मक स्मृति ने उनका साथ न दिया तो इस कमी को पूरा करने के लिये वे उन कल्पना-चित्रो की सख्या-वृद्धि करते गये। कलाकार की कला के प्रति सच्चाई से इस गिरावट को अपना स्वय का बदला चुकाना पडा, जैसा कि इस प्रकार के सभी स्खलनो के साथ होता है। कालिदास की सशक्त प्रकृति और अभीप्सु स्वभाव ने उन्हे अवश्य ही एक दोष से बचा लिया। उन्होने वासनापूर्ण वर्णन की उस उबकाई पैदा करने वाली और स्त्रैण शिथिलता में स्वय को कभी ढीला नही छोडा जो कीट्स की प्रारम्भिक रचनाओ के प्रति हममे रोष उत्पन्न करती है। उस युग के मनुष्य अपनी सारी विषयासक्ति, विलास और बाह्य-सौन्दर्य की पूजा के बावजूद एक पौरुष सम्पन्न और अत्यन्त पराक्रमी जाति के लोग थे और कालिदास मे उनकी पौरुष-सम्पन्न और सशक्त मनोवृत्ति उतनी ही सुस्पष्ट है, जितनी कि उनकी दुर्बलतर प्रवृत्तियां। उनकी इन्द्रियसुखास्वादन-प्रवृत्ति दुर्बलतापूर्ण असयम से युक्त नही है, वरन् वह एक साहसपूर्ण और विनयशील भावना है, जो पार्थिव जगत् के सौन्दर्य और आनन्द को अपने लिये अधिकृत करती है तथा आत्मा को इन्द्रियो की इच्छानुसार चलने के लिये अपना दास बनाने वाली नही, अपितु आत्मा के ही आनन्द मे सहायक होने के लिये समस्त इन्द्रियो को बाध्य करने वाली है। दोनो प्रकार की इन्द्रियसुखास्वादन प्रवृत्ति मे अन्तर शायद प्राण शक्ति की न्यूनाधिकता से कुछ न हो, किन्तु काव्य के प्रयोजनो के लिये तो वह वास्तविक और महत्वपूर्ण अन्तर है। सौन्दर्यातिशयसे मूर्छित होने वाली आनन्दपूर्ण दुर्बलता की भावना एण्डिमियान (Endymion) जैसी कविताओ को सुकोमल शिथिलता का एक विशिष्ठ आकर्षण प्रदान करती है, किन्तु वह एक दुर्बलताजनक आकर्षण है, जिसका आश्रय कोई भी पौरुष-सपन्न स्वभाव नही लेगा। कालिदास की कविता चरित्र के सशक्त ततुओ को निर्बल बनाए बिना ही इन्द्रियसुखास्वादन परायण कल्पना को तृप्त करती है, क्योकि प्राणवान शक्ति सर्वोत्तम सस्कृत कविता की अमोघ विशेषता है और इस विषय में कालिदास किसी से भी कम नही है। फिर भी उनकी कला सबधी भूल का उनकी कविता की विषय वस्तु पर घातक पडा है।

ऋतु सहार भारत की छ ऋतुओ, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त के अनुसार छ सर्गों मे लिखा गया है। काव्य के प्रारम्भ के अद्भुत सौन्दर्य और ओज से बढ कर दूसरी वस्तु नही हो सकती। हम कवि को अपनी प्रतिभा के अद्यावधि साहस, नवीनता और शक्ति से हर्षोन्मत्त देखते हैं और बलपूर्वक कविता के साम्राज्य को जीत लेने के सम्बन्ध मे आश्वस्त पाते हैं। कुछ समय तक उनकी रचना की प्रखर प्रतिभा उनके उत्साह के औचित्य को सिद्ध करती प्रतीत होती है। ग्रीष्म पर लिखे गये श्लोको मे हम अद्भुत कल्पना-शक्ति से, वस्तु पर कालिदास की दृष्टि की अप्रतिम सूक्ष्मता और सुस्पष्ट तीव्रता से तुरन्त अभिभूत हो जाते हैं, शब्द-विन्यास मे एक गरिमामय और समाहृत सूक्ष्मयथार्थतता है, जो हमारे लिये कालिदास की उत्कृष्ट शैली का प्रथम उदाहरण है और उसमे है भाषा की सर्वतोमहान् शक्ति, वैभव-श्री और सक्षिप्तता, जो उत्कृष्ट प्राचीन सस्कृत साहित्य की उच्च शैली का हमारा पहला उदाहरण है किन्तु यह सर्ग काव्य के शेष भाग की अपेक्षा अधिक उच्च स्तर पर है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने अपनी शक्ति का सर्वोत्तम अश काव्य-रचना के अपने प्रथम तीव्रोत्साह मे ही व्यय कर दिया था और एक लम्बी कविता के लिये उपयुक्त स्थायी ओज के लिये अपर्याप्त भण्डार पीछे रख छोडा। पहले तो ओज का ह्रास हमे निराश नही करता। वर्षा पर लिखे गये श्लोक हमें अनेक सुन्दर चित्र प्रदान करते हैं, उनकी शैली कम ओजस्वी होते हुए भी वे श्लोक एक अधिक गरिमापूर्ण सयम और गभीरतर एक और श्रेष्ठतर समस्वरता से युक्त हैं शैली की कुशल शब्दयोजना का और कल्पना चित्रो का एक अधिक सामजस्यपूर्ण निखार कमी को पूरा कर देता है। हम यह विश्वास करने को प्रेरित होते हैं कि कवि अपने वास्तविक स्वरूप

को प्राप्त कर रहा है और अकलुष काव्य–सुषमा के चरम शिखर पर आरोहण करेगा फिर प्राप्त होती है निराशा। आगे के दो सर्गो में मूल विषय कालिदास के हाथ से छूट गया-सा प्रतीत होता है, प्रकृति-चित्रण की छटाए लुप्त हो जाती हैं अथवा कुछ अपवादो को छोडकर कामचलाऊ मात्र, यहाँ तक कि रूढिबद्ध रह जाती हैं, तथा उसकी प्रतिभा की सारी शक्ति नारी सौंदर्य के इन्द्रिय वासनापूर्ण असाधारण चित्रो की पक्ति मे निक्षिप्त हो गई है, जो इतने सजीव हैं मानो वास्तव मे रेखा और रगों से अ कित किये गए हो। दोनो तत्व जो कभी भी यथोचित रूप मे एकाकार नही हो पाये, साथ साथ खडे भी नहीं रहते। हेमन्त के सारे वर्णन मे हम कुछ ही श्लोक पाते हैं, जिनमे शीत का और सर्दी के दिनो मे खेतो, पौधों और नदियो-तालाबो आदि के दृश्य का वर्णन किया गया है। ये श्लोक किसी भी प्रकार सुन्दरता से रहित नहीं है, किन्तु इनमे ओज, सूक्ष्म निरीक्षण और उत्कठा का अभाव है। शिशिर पर लिखे गए श्लोको मे काव्य का मूल उद्देश्य और भी धु धला हो गया है। अपने अल्हड यौवन मे समृद्ध प्रतिभा सम्पन्न कवि के लिए परिपक्वता का अभाव और प्रचण्ड वस्तुओं के प्रति आकर्षण स्वाभाविक वस्तुए थी। अत ये ऋतुए कदाचित् अपनी मौन निस्तब्धता के कारण और इस कारण भी कि उनमे चमकते हुए रगो मे चित्रित करने योग्य दृश्यों का और अपनी पृथक्-पृथक् परम भव्य विशिष्टताओ का अभाव होता है, उसके लिए प्रेरणा शून्य विषय बन गये थे, किन्तु वसन्त भारतीय वर्ष की सर्वोत्तम ऋतु है और वह रग, मधुरता और समस्वरता के प्रति कालिदास के अन्तर्जात प्रगाढ प्रेम की दृष्टि से उनकी काव्य रचना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होनी चाहिये थी। अन्तिम सर्ग काव्य का मुकुटमणि होना चाहिये था, किन्तु कवि का पाप उसका पीछा नही छोडता और यद्यपि हम पहले की विशुद्ध ओजस्विता को पुन प्राप्त करने का एक स्पष्ट प्रयत्न देखते हैं तथापि वह एक ऐसा प्रयत्न है जो अपने आप को टिकाये नही रख सकता। ध्वनि और भाषा के सामजस्यपूर्ण श्री-वैभव मे कमी नही आई है, किन्तु अन्त प्रेरणायुक्त कवि-दृष्टि की आत्मा इस सुन्दर वाह्य कलेवर को अनुप्राणित नही करती और काव्य का अन्त क्षीण निष्प्राण होता जाता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि वसन्त के अन्तिम श्लोको के दो पाठ-भेद हैं और प्राचीन ग्रथ पाठो की परिपाटी के अनुसार दोनो ही पाठ-भेद साथ-साथ रख दिये गए हैं। अत प्रेरणा की क्षीणता की अनुभूति से कालिदास की प्रखर कलात्मक दृष्टि को अवश्य ही तीव्र वेदना हुई होगी और इस कारण उन्होने एक ओजहीन अन्त के स्थान पर एक अधिक परिष्कृत और समृद्धतर अन्त को रखने का प्रयत्न किया है। जिसे हम बहिष्कृत पाठ मान सकते हैं। वह नि.सन्देह दोनो मे से अधिक निर्बल है, किन्तु दोनो मे से कोई भी हमे सन्तुष्ट नही करता। वसन्त पर लिखे गये श्लोक जो सर्वोत्तम होने चाहिए थे, पूरे काव्य मे सबसे अधिक निराशा जनक हैं।

पथः श्रुतेर्दर्शयतारः ईश्वरा,
मलीमसामाददते न पद्धतिम्।

भावार्थ —

पवित्र मार्ग के प्रवर्तक देवतागण स्वय पाप मार्ग का अनुसरण नही करते।

राजा भोज का बहुमुखी साहित्य

क्रमिक ह्रास की करुण कहानी एवं नवोन्मेष की नयी संभावनाएं

—श्री वि० वेंकटाचलम्

कहते है, इतिहास की बार-बार पुनरावृत्ति होती रहती है। यह कहना तो कठिन है इसमे यथार्थता का अश कितना है। जो भी हो, इतना तो सत्य है कि मध्ययुगीन भारत की आकाक्षाओ के प्रतीक, परमार वश की प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर, महाराजा भोज के युग मे मालव भूमि में जो घटनाए घटती थी, उनकी एक अनूठी सी पुनरावृति अभी दो वर्ष पूर्व उसी मालव धरती की उज्जयिनी में अवश्य हुई, जब विक्रम विश्वविद्याल के सस्कृत विभाग के तत्वावधान मे राजा भोज के कृतित्व पर अखिल भारतीय सेमिनार का सफल आयोजन हुआ।

उन दिनो राजा भोज की विद्वता तथा उदारता से आकृष्ट होकर देश के सर्वोच्च विद्वान राजा भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक प्रासाद मे उनकी 'वाग्देवी' के चरणों मे बैठकर चर्चा किया करते थे।

जब यूरोप के सास्कृतिक तथा राजनीतिक इतिहास मे इटली का प्रभुत्व चरम उत्कर्ष पर था तब की परिस्थिति का सकेत करने वाली अग्रेजी कहावत प्रसिद्ध हैं—(all roads lead to Rome) अर्थात् सभी सड़कें रोम नगरी की ओर ही जाती हैं'। ठीक इसी प्रकार की स्थिति भारत वर्ष मे राजा भोज के उस युग मे भी रही, जब देश के सभी मनीषियो की सारस्वत यात्रा के मार्ग उनकी राजधानी धारानगरी की ओर ही जाया करते थे तथा वे अपना 'अक्षरःलक्ष' [अर्थात् किसी रचना के प्रत्येक अक्षर पर एक लाख का सम्मान] पाकर लौटते थे। 'अक्षर-लक्ष' दान का यह विचार ही कितना अद्‌भुत है ?

वह जमाना ही कैसा रहा होगा जब लोग कल्पना की उडान के रूप मे ही क्यो न हो, महाकवियो की रचनाओ पर 'अक्षर-लक्ष' देने की बात सोच भी सकते थे तथा अतिशयोक्ति के रूप मे ही क्यो न हो, कह भी सकते थे। ऐसे वातावरण मे यदि सर्वसाधारण जनता भी विद्या की ओर आकृष्ट हुई तथा समाज के सभी स्तरो मे प्रतिभा का विकास हुआ तो इसमे आश्चर्य ही क्या? जनश्रुति है—भोज के राज्य मे जुलाहे भी कविता मे राजा के साथ वार्तालाप करते थे। एक जुलाहे ने राजा से सहज बातचीत करते हुए कहा—

काव्य करोमि, न हि चारुतर करोमि,
यत्नात् करोमि यदि चारुतर करोमि।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ
श्री साहसाङ्क, कवयामि वयामि यामि॥

अर्थात्, मैं कविता तो कर लेता हूँ, किन्तु सुन्दर कविता नही कर पाता हू। हा, विशेष प्रयत्न करने पर

सुन्दर कविता भी लिख लेता हूँ। महाराज, आपके चरणो पर तो अनेक सामत राजा अपने मुकुटमणियो को न्यौछावर करते रहते हैं, मेरा क्या ? मैं तो कविता करता रहता हू। कपडा बुनता रहता हूँ। इसी धधे मे मेरे दिन भी गुजरते रहते हैं।

जुलाहे के 'कवयामि', 'वयामि', 'यामि' इन शब्दो मे एक-एक अक्षर के क्रमश लोप से कैसा शब्द चमत्कार हुआ है ? क्या इसमे एक सहज स्वाभाविकता झलकती नही है ? जुलाहे को अपने धधे के प्रति कितना अभिमान है ?

भोज के सम्बन्ध में प्रचलित ऐसी घटनाए तमिल साहित्य के मूर्धाभिषिक्त कवि-सम्राट कम्बन्' के बारे मे कही जाने वाली उस प्रसिद्ध कहावत का मानो सत्यापन करती है, जिसके अनुसार महाकबि 'कम्बन्' के घर मे पलग के पाये भी कविता करते थे।

हा, राजा भोज के दान की बातें तो कहानिया ही बनकर रह गयी। उनकी राजनीतिक उपलब्धियाँ भी इतिहास के पृष्ठो मे ही रह गयी। किन्तु जिस साहित्य का उन्होंने सृजन किया वह आज भी उनकी बहुमुखी सारस्वत प्रतिभा तथा साधना का अद्भुत परिचय प्रस्तुत करता है। राजा भोज के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यही सर्वोपरि है कि वे अन्य अनेक राजाओ की भाँति केवल विद्याप्रेमी तथा विद्वानो के आश्रयदाता तक ही सीमित नही रहे, किन्तु स्वय एक महान् प्रतिभाशाली कवि, मेधावी विद्वान, प्रखर समालोचक तथा विराट साहित्य सृष्टा थे। आज उनके साहित्य का जो अवशेष है, वह सैकडो वर्षों की उदासीनता के बाद भी, शिक्षा के उत्कृष्ट तथा व्यापक विकास के वर्तमान युग के मानव को भी चकित और चमत्कृत करने के लिए पर्याप्त है।

भोज के नाम पर जो ग्रन्थ आज उपलब्ध है, उनकी व्यापकता तथा विविधता ऐसी है, जो भारतवर्ष के इतिहास मे, सभवत विश्व के इतिहास मे भी, अन्यत्र दुर्लभ है। उनके ग्रन्थो मे साहित्य, सगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि ललितकलाओ के साथ समालोचना, व्याकरण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, दर्शन, कोष आदि विविध पारम्परिक विषयो का जो विलक्षण समन्वय है, उससे यह स्पष्ट है कि राजा भोज का स्थान भारत की उन अपूर्व समन्वयकारिणी प्रतिभाओ मे है, जिन्होने काव्य के कोमल पथ पर विचरण करते हुए शास्त्रो के कठोर क्षेत्र मे अपनी बुद्धि की अकुठित गति का परिचय दिया, जैसा कि उसी सदी के प्रसिद्ध पडित कवि जयदेव की उक्ति प्रसिद्ध है, जयदेव ने प्रतिभा की इस कोमलता और कठोरता के प्रतिभासिक विरोध का प्रतिवाद करते हुए पूछा—क्या अपनी प्रेयसियो के साथ ललित-मधुर चेष्टाओ मे अपनी प्रगल्भता का परिचय देने वाले महारथी वीर मतवाले हाथियो के माथे पर बाण नही चलाते हैं ?

येषा कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषा कर्कंशतर्कवक्रवचनोद्गारोऽपि किं हीयते,
यै· कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दभारोपिता-
स्तै किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीया शराः ॥

यह तो किसी हद तक ठीक भी है कि राजा भोज ने इसी प्रकार काव्य की सरस उपवन वीथियो के साथ शास्त्रो की विषम वनस्थलियो मे स्वेच्छा-सचार किया। यद्यपि एक व्यक्ति के द्वारा इतने विषयो का आकलन भी असाधारण मेधावैभव का परिचायक है, फिर भी यह साधारण समझ से परे नही है। इतिहास मे ऐसे अनेक बहुमुखी प्रतिभावान् मनीषी हुए है और आज भी हो रहे हैं, किन्तु हमारे विश्वास और श्रद्धा को चुनौती देने वाली राजा भोज के व्यक्तित्व की चमत्कारिक बात तो यह है कि उपर्युक्त सभी ललित कलाओ तथा शास्त्रो के साथ-साथ विज्ञान की बहुतसी शाखाओ पर भी उन्होंने अप्रतिहत अधिकार रखा। उनकी सर्वंकषा प्रतिभा की विशाल परिधि में पशुचिकित्सा सहित चिकित्साविज्ञान यत्र, विमान, जहाज आदि के निर्माण की उच्चस्तरीय तकनीकी विद्याओ का व्यापक तथा गभीर ज्ञान भवन निर्माण, नगर योजना आदि का पूर्ण परिचय समस्त प्रकार के रत्नो के परीक्षण के सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक पक्ष इस प्रकार मानव के पूर्ण विकसित सासारिक जीवन की बहुमुखी दैनन्दिनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले समस्त ज्ञान-विज्ञान सम्मिलित थे। इन समस्त विद्याओ के विशेषज्ञो के लिए आज जिस पदावली का प्रयोग किया

जाता है, यदि हम उन शब्दो से भोज का वर्णन करें तब हमे उनके विराट व्यक्तित्व की यथार्थता की झलक मिल सकती है। कवि (सस्कृत तथा प्राकृत दोनो भाषाओ के) समीक्षक, वैयाकरण, कोपकार, ज्योतिषी (फलित तथा गणित दोनो के विशेपज्ञ) दार्शनिक, चित्रकार, मूर्तिकार, डाक्टर (इसमे 'वेटरनरी' भी), इ जीनियर (सिविल, मेकेनिकल, मरीन तथा एवियेशन एक साथ), आर्किटक्ट—वाह ! एक व्यक्ति और एक साथ इतनी पदविया ! विश्वास करना भी कठिन हो जाता है। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि लगभग इन समस्त ज्ञान-शाखाओ मे राजा भोज ने प्रशस्त ग्र थ भी लिखे है, जिनकी सख्या ८४ तक पहुच गयी।

हा यह सभी बातें विश्वसनीयता के बाहर अवश्य प्रतीत होती हैं। हो भी सकता है, भोज नाम से प्रचलित सभी ग्रथ उनकी स्वय की कृतियां न हों, उनके दरबार के विशेपज्ञ विद्वानो की सहायता से लिखे अथवा विद्वानो के द्वारा ही लिखाये गये हो। फिर भी इसे बहुत बडी उपलब्धि मानना चाहिए। समूचे देश की समसामयिक प्रतिभा को अपनी राजधानी में समेट, उनकी प्रतिभा के विकास के लिए समुचित वातावरण निर्माण करना, उनसे समस्त ज्ञान-विज्ञान का गहन परिचय प्राप्त करना यह भी किसी असाधारण व्यक्ति द्वारा ही सभव है।

वास्तव मे भोज के विपक्षी समालोचको को भी इतना स्वीकार करना ही होगा कि उनमे विद्वानो की इतनी बडी मण्डली को कुशलतापूर्वक रचनात्मक पथ पर सक्रिय बनाये रखने की विलक्षण प्रतिभा तथा दक्षता तो थी ही। क्या आज के सभी विश्वविद्यालयो मे इस प्रकार की प्रतिभा का सग्रह नही हैं ? फिर भी आज हमारे देश मे कितने ऐसे विश्वविद्यालय हैं, जिनसे एक साथ इतने वैविध्यपूर्ण विषयो पर प्रामाणिक पुस्तको का निर्माण होता है ? कितने ऐसे कुलपति हैं, जो एक साथ इतनी पदवियो की उपलब्धि मे, इतने वैविध्यपूर्ण विषयो के प्रगाढ विद्वता में, इतने गरिमामय साहित्य के निर्माण अथवा सपादन मे राजा भोज से सानी रखते हैं ? हमारे विश्वविद्यालयो मे इतना सफल 'इन्टर डिसिप्लिनरी' सपर्क क्यो नही हो पाता है ? हमारे अधिकाश विश्वविद्यालय पारस्परिक मत्सर तथा क्षुद्र सघर्ष के केन्द्र क्यो बनते जा रहे हैं ? काश ! आज दस-बीस राजा भोज भारतवर्ष के महान विश्वविद्यालयो के कुलपति होते।

अनन्तर युग मे इतिहास ने करवट बदली। विदेशी आक्रामक मालव भूमि तक पहुच गये। जहा समृद्धि तथा शान्ति के स्वस्थ वातावरण मे विद्या का अनुपम एव अभूतपूर्व विकास हुआ था, वहा आतक फैल गया। राजा भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक विद्या मदिर का आकार मिला। वह स्थान दोनो सस्कृतियो के सगम का विचित्र प्रतीक हो गया। राजा भोज के द्वारा प्रतिष्ठापित सरस्वती प्रतिमा के हाथ टूटे। उस सरस्वती की 'छत्रछाया मे विद्याप्रेमी भोज के उदात्त नेतृत्व मे एकत्रित हुए विद्वान पुन बिखर गये। परवर्ती मुसलमानो के, मराठो के अथवा अग्रेजो के काल मे देश की सर्जनात्मक प्रतिभा का वह पुनरुन्मेप नही हो पाना स्वाभाविक ही था। भोज का स्वर्णिम सरस्वतीयुग स्मृतिशेप रह गया। उनकी भव्य सरस्वती की मूर्ति भी, जो खण्डित होकर धार मे पडी थी, लन्दन ले जायी गयी और आज लन्दन के सग्रहालय की शोभा बढा रही है। उसको पुन' भारत मे लाने का तथा धार मे उसे यथास्थान प्रतिष्ठापित करने का प्रयास आज तक विफल ही रहा। 'सरस्वती' भी राजनीतिक समस्या बन गयी।

विदेशी सग्रहालय मे जीने वाली यही निष्प्राण बन्दी सरस्वती मेरे लिए प्राणप्रद प्रेरणास्रोत बनी। उसी ने, मानो, मेरे सम्मुख आकर अपनी करुण कहानी सुनायी और आव्हान किया—

'विदेशी प्रवासिनी मुझ पत्थर पर आपकी अनुकम्पा के लिए शत शत धन्यवाद। किन्तु मेरे प्रतिष्ठापक राजा भोज की यथार्थ सरस्वती—जो अपने भारतवर्ष मे ही मुश्किल से सास ले रही है-उसकी तरफ आप लोगो का ध्यान क्यो नही जाता है ? उसकी भी तो दशा मेरी दशा से कम दयनीय नही है। उसके कितने ही अग अत्र हमेशा के लिए नष्ट हो गये हैं और हो रहे हैं। जो अभी भी शेष हैं वे भी देश के विभिन्न भागो मे क्षत-विक्षत पाण्डुलिपियो के रूप मे छिन्न-भिन्न अवस्था मे तो है। उन्हे

समेटकर पुनरुद्धार करना, क्या भोज की सरस्वती की सच्ची पूजा नही है ?

यह था वह प्रेरणा-बिन्दु जिससे लगभग पाच वर्ष पूर्व मेरी भोज अनुसधान योजना ने जन्म लिया था तथा विक्रम विश्वविद्यालय के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत हुई थी। उसके विनम्र आरम्भ के रूप मे धीरे-धीरे दो तीन तरुण शोध-छात्रो ने भोज के ग्रन्थो पर अनुसधान कार्य करना भी प्रारम्भ किया। हमारे वर्तमान कुलपति डा शिवमगलसिंह 'सुमन' के पद ग्रहण के बाद इस कार्य को नया बल मिला। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से हमारी दो योजनाओ मे से एक योजना को स्वीकृति मिली। फलत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा प्रादेशिक शासन के सहयोग से उज्जैन मे 'भारतीय विद्या' की विभिन्न शाखाओ को राजा भोज की देन' इस विषय पर समुन्नत स्तर का एक अखिल भारतीय चर्चासत्र सम्पन्न हुआ।

चर्चासत्र की सफलता के प्रमुख कारणो में से यह था कि राजा भोज के मूर्धन्य ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश पर अपने अनुसन्धान से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मद्रास विश्वविद्यालय के भूतपूर्व सस्कृत विभागाध्यक्ष डा० वि० राघवन इसके उद्घाटन हेतु पधारे। अपने प्रेरणादायक उद्बोधन मे डा राघवन् ने भोज के वैविध्यपूर्ण साहित्य पर एव उनके अप्रकाशित ग्रन्थो की पाण्डुलिपि-सामग्री पर विद्वतापूर्ण प्रकाश डालते हुए उनके ग्रन्थो के बारे मे विद्वानो मे प्रचलित कतिपय भ्रान्त धारणाओ का खोजपूर्ण निराकरण किया। अध्यक्ष पद से बोलते हुए कुलपति डा० शिवमगल-सिह 'सुमन' ने भोज-सेमिनार की सामयिकता तथा महत्ता का दिग्दर्शन करते हुए उपस्थित सभी विद्वानो से भोज साहित्य के पुनरुद्धार के पवित्र यज्ञ मे पूरी निष्ठा से जुट जाने का आह्वान किया।

डा० राघवन के अतिरिक्त देश के लब्धप्रतिष्ठ अनेक उच्च कोटि के विद्वानो प्रसुप्त भोज-साहित्य के पुनर्जागरण की इस नवीन योजना का अभिनन्दन करते हुये सक्रिय सहयोग के रूप मे अपने महत्वपूर्ण शोधपत्र भेजे। इतना ही नहीं, उनमे से अनेक विद्वान स्वय सेमिनार मे पधारे, अपने शोधपत्रो को स्वय प्रस्तुत किया एव पूरी चर्चा मे भाग लेकर अपनी प्रखर विद्वता से चर्चा का स्तर अत्यन्त समुन्नत रखा। वास्तव मे ऐसे अनेक विद्वानो का यह योगदान ही भोज सगोष्ठी की उल्लेखनीय सफलता का महत्वपूर्ण कारण था।

अप्रकाशित ग्रन्थो का प्रकाशन, आवश्यकतानुसार कुछ प्रकाशित ग्रन्थो का प्रामाणिक आलोचनात्मक सस्करणो का प्रकाशन, विभिन्न ज्ञान-शाखाओ को भोज की देन का अध्ययन तथा उन पर स्वतत्र ग्रन्थ निर्माण, इन सब कार्य की आधारभूत 'बिबलियोग्राफी' आदि अनुसधान-सामग्री का सकलन आदि हमारे समक्ष है।

इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण कार्य भी शेष है सभी जानते हैं, भोज निर्मित 'सरस्वतीकण्ठाभरण' भवन से (जिसे आजकल भोजशाला के रूप मे तथा कमल मोला मसजिद के रूप मे धार के निवासी जानते हैं) ऐसी दो शिलाए पहले निकाली जा चुकी है जो उसी भवन के दीवारो मे उल्टी लगी हुई थी हुई थी और जिनमे भोज के 'कूर्मशतक' तथा परमार वश के परवर्ती राजा अर्जुनवर्मा के युग के मदन नामक कवि की 'पारि-जातमजरी' उत्कीर्ण मिली। आज भी उस भवन की अनेक दीवारो मे ठीक उसी प्रकार की बहुतसी शिलाए विद्यमान हैं जिनमे पीछे की तरफ भोज के अथवा अन्य विद्वानो के ग्रन्थ अवश्य छिपे पडे है। वैज्ञानिक प्रगति के आज के युग मे भवन को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाते हुए इन पत्थरो को निकालकर अन्य पत्थरो को उन स्थानो पर लगाना अथवा उन्ही पत्थरो को उलटा लगाना कोई कठिन कार्य नही है।

एक और बात। भोजशाला भवन मे उसी आकार-प्रकार की अनेक शिलाए फर्श पर लगी हुई है, जिन पर लिखे गये सारे अक्षर पर्याप्त मात्रा मे मिटे हुए हैं। पत्थरो पर लिखे हुए क्रमाक आज तक स्पष्ट दीख पडते हैं। आज भी सभी दर्शक लोग इन पत्थरो पर चलते-फिरते है। इससे उत्कीर्ण अक्षर अधिक मिटते जा रहे हैं। यह सर्वथा असभव नही हैं कि भविष्य मे कोई अध्यवसायी अनुसधाता इस विकृत अवशेष के आधार पर भी इनके पढने का प्रयास करे और उसमे सफल भी हो सके। ऐसे भावी अध्ययन के लिए यदि हम आज भी इन शिलाओ को निकालकर अलग सुरक्षित नहीं रखेंगे तो आने वाली

पीढी के सामने हम अपनी इस अक्षम्य उदासीनता के लिए दोपी ठहरेंगे।

राजा भोज के लुप्तप्राय, अज्ञात, अल्पज्ञात, अप्रकाशित ग्रन्थो को पुन: देश की प्रबुद्ध जनता के समक्ष प्रकाश मे लाने के इस कार्य का देश के सास्कृतिक इतिहास के पुनर्लेखन मे असाधारण महत्व है। सभव है, अज्ञात गाव-गाव मे बिखरे हुए निजी पाण्डुलिपि सग्रहो मे भी कुछ ऐसे ग्रन्थ सुरक्षित हो, जो आज तक किसी भी सग्राहलय मे अथवा प्रकाशित पाण्डुलिपि सूची मे निर्दिष्ट न हो। ऐसे एक ग्रन्थ का उल्लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती के "सत्यार्थप्रकाश" मे मिलता है। उन्होने इतिहास पर राजा भोज के "सजीवनी" नाम के ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए "भिण्ड" (जो वर्तमान मध्यप्रदेश मे है) मे एक तिवारी परिवार के पास उसकी पाण्डुलिपि होने का प्रमाण प्रस्तुत किया हैं। ज्योतिष पर "कामधेनु" नाम के भोज प्रणीत (?) किसी ग्रन्थ की जानकारी विद्वानो के सम्मुख आयी थी, जिसकी खण्डित पाण्डुलिपि भोपाल के श्री ईशनारायण जोशी के संग्रह में हैं। इन दोनो ग्रन्थो पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने विगत आल इडिया ओरिएन्टल कान्फ्रेंस मे विद्वानो के समक्ष एक शोध पत्र प्रस्तुत किया था। इसके अतिरिक्त देश की अन्यान्य प्रादेशिक भाषाओ मे राजा भोज के किस्से कहानियो का सुन्दर सग्रह भी प्रचलित है और कही-कही 'भोज चरित्र,' 'भोज प्रबन्ध' आदि नाम से संकलित भी है।

हमारे देश मे ऐसे अनुसन्धान कार्यो के लिये अपेक्षित बुनियादी आवश्यकताओ के अभाव मे अनुसन्धाता किस प्रकार त्रस्त होते हैं और पद-पद पर होने वाले अवरोधो से कार्य की प्रगति कैसे रुकी रहती है यह तो खुला रहस्य है। फिर भी इस विशाल योजना के प्रथम चरण के रूप मे चार ग्रन्थो का सपादन कार्य एव बुनियादी बिब्लियाग्राफी आदि हेतु एक प्रारूप विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के समक्ष प्रस्तुत किया है। अपने कार्य की उपादेयता, लक्ष्य की महत्ता एव कार्य-सिद्धि की असदिग्धता पर अटूट श्रद्धा के साथ हम सीमित साधनो को लेकर ही उसका विनम्र प्रारभ करने के लिये कृतसकल्प हैं। हमे पूरा विश्वास है कि विलम्ब से ही क्यो न हो, इसकी मान्यता अवश्य मिल कर ही रहेगी और हम धीरे-धीरे पूरा कर सकेंगे।

मालव धरती को राजा भोज से जो अक्षय सम्पत्ति मिली, उससे हम मालव निवासी कभी भी पूर्ण रूप से उऋण नही हो सकते है। यह तो ध्रुव-सत्य है। फिर भी मेरा विनम्र विश्वास है कि हमारा यह कार्य उस महान विभूति की साहित्य साधना की समुन्नत वेदी पर समर्पित पुष्पाजलि मे एक सुरभित श्रद्धा-सुमन के रूप में चिर-प्रतिष्ठित रहेगा।

विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य, स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्

भावार्थः—

अपने हाथ से सींचे हुए विष वृक्ष को अपने ही हाथ से काटना उचित नहीं।

PHOTO . SHYAM AG ..WAL

सांदीपनि आश्रम
SANDIPANI ASHRAM
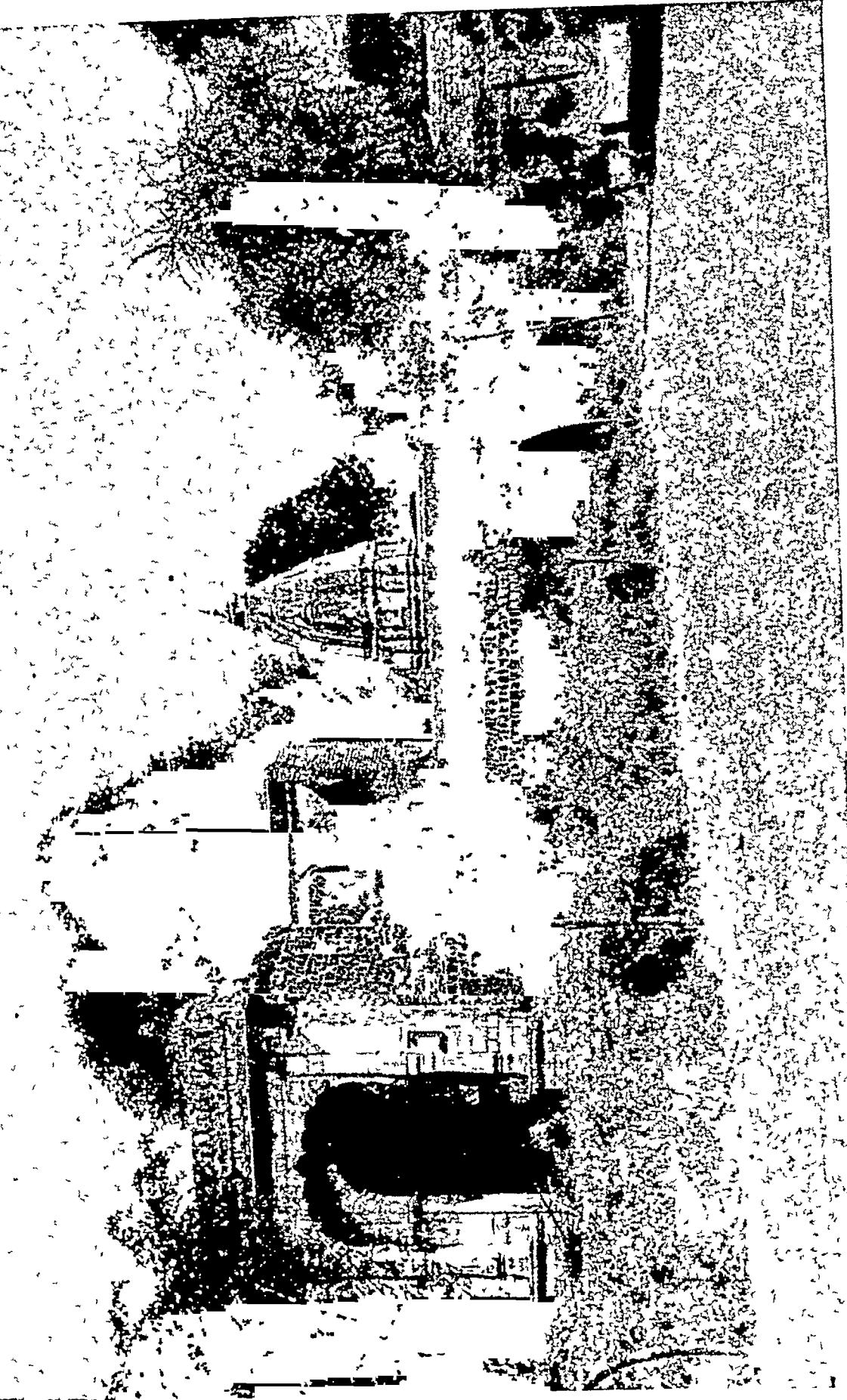
PHOTO & COURTESY SHYAM AGRAWAL
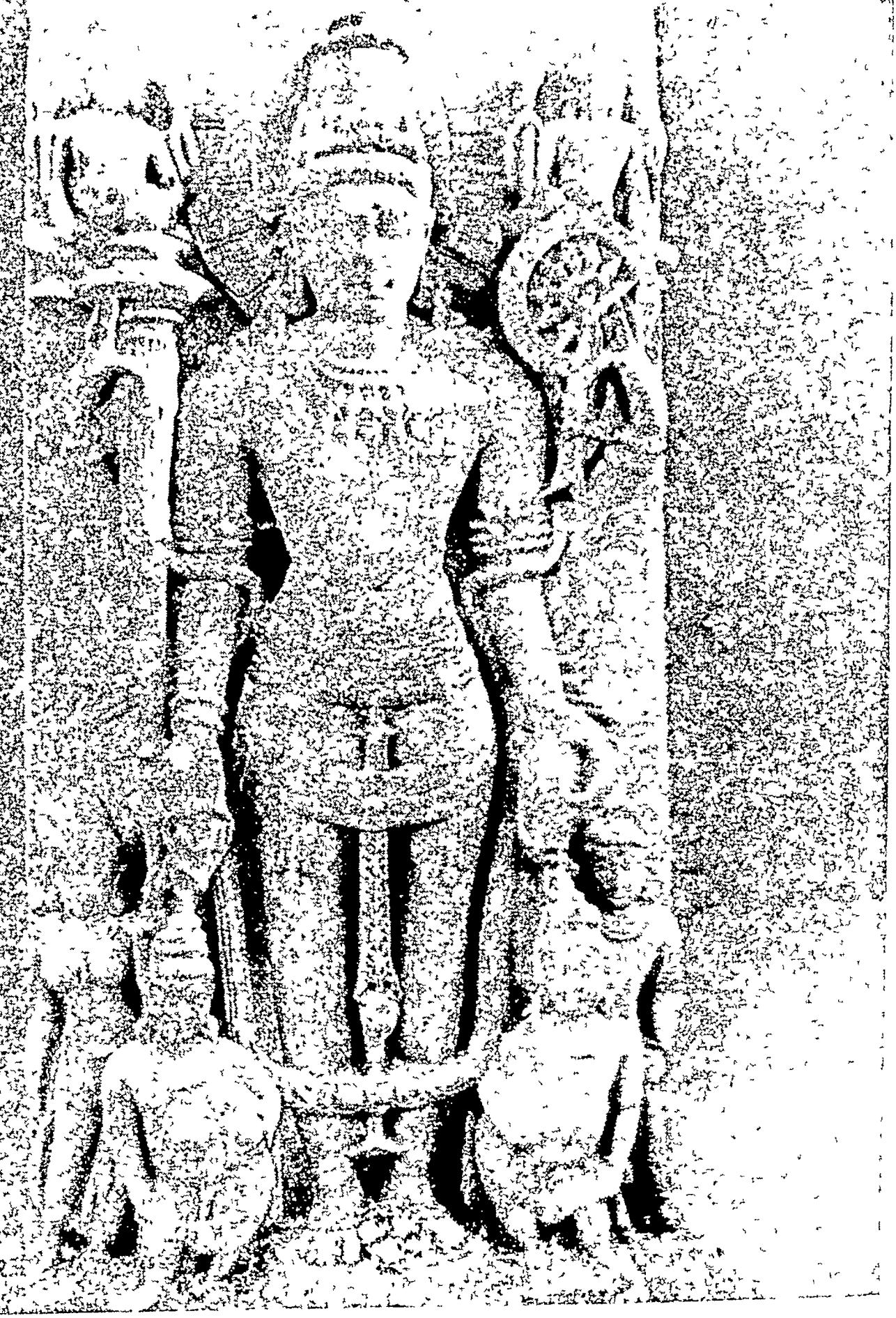
चतुर्भुज विष्णु (११वी सदी)
CHATURBHUJ–VISHNU (11th Century)

The Age of Kalidasa.

Maharshi Aurobindo.

VALMIKI, Vyasa and Kalidasa are the essence of the history of ancient India, if all else were lost, they would still be its sole and sufficient cultural history Their poems are types and exponents of three periods in the development of the human sole, types and exponents also of the three great powers, which dispute and clash in the imperfect and half-formed temperament and harmonise in the formed and perfect At the same time, their works are pictures at once minute and grandiose of three moods of our Aryan civilisation, of which the first was predominatingly moral, the second predominatinly intellectual, the third predominatingly material The fourth power of the soul, the spiritual, which can alone govern and harmonise the others by fusion with them, had not, though it pervaded and powerfully influenced each successive development, any separate age of predominance, did not like the others possess the whole race with a dominating obsession It is because, conjoining in themselves the highest and most varied poetical gifts, they at the same represent and mirror their age and humanity by their interpretative largeness and power that our three chief poets hold their supreme place and bear comparison with the greatest world-names, Homer, Shakespeare and Dante

It has been said truly that the Ramayana represents an ideal society and assumed illogically that it must therefore represent an altogether imaginary one The argument ignores the alternative of a real society idealised. No poet could evolve entirely out of his own imagination a picture at once so colossal, so minute and so consistent in every detail. No number of poets could do it without stumbling into fatal incompatibilities either of fact or of view, such as we find defacing the Mahabharata This is not the place to discuss the question of Valmiki's age and authorship This much, however, may be said that after excluding the Uttarakanda which is a later work, and some amount of interpolation for the most part easy enough to detect, and reforming the text which is not unfrequently in a state of truly shocking confusion, the Ramayana remains on the face of it the work of a single, mighty and embracing mind. It is not easy to say whether it preceded or followed in date Vyasa's epic : it is riper in form and tone, has some aspects of a more advanced and mellow culture, and yet it gives the general impression of a younger humanity and an earlier, less sophisticated and complex mind The nature of the poem and much of its subject-matter might at least justify the conclusion that Valmiki wrote in a political and social atmosphere much resembling that which surrounded Vvasa. He lived' that is to say, in an age approaching the present disorder and turmoil, of great revolutions and unbridled aristocratic

violence, when the governing chivalry, the Kshatriya caste, in its pride of strength was asserting its own code of morals as the one rule of conduct We may note the plain assertion of this standpoint by Jarasandha in the Mahabharata and Valmiki's emphatic and repeated protest against it through the mouth of Rama This ethical code was, like all aristocratic codes of conduct, full of high chivalry and the spirit of *noblesse oblige*. but a little loose in sexual morality on the masculine side and indulgent to violence and the strong hand To the pure and delicate moral temperament of Valmiki, imaginative, sensitive, enthusiastic, shot through with rays of visionary idealism and ethereal light, this looseness and violence were shocking and abhorrent He could sympathise with them, as he sympathised with all that was wild and evil and anarchic, with the imaginative and poetical side of his nature, because he was a universal creative mind driven by his art-sense to penetrate, feel and re-embody all that the world contained ; but to his intellect and peculiar emotional temperament they were distasteful He took refuge therefore in past age of national greatness and virtue, distant enough to be idealized, but near enough to have left sufficient materials for a great picture of civilization which would serve his purpose—an age, it is important to note, of grandiose imperial equipoise such as must have existed in some form at least, since a persistent tradition of it runs through Sanskrit literature In the framework of this imperial age, his puissant imagination created a marvellous picture of the human world as it might be if the actual and existing forms and materials of society were used to the best and purest advantage, and an equally marvellous picture of another non-human world in which aristocratic violence, strength, self-will, lust and pride ruled supreme and idealised or rather colossalised He brought these two worlds into warlike collision by the hostile meeting of their champions and utmost evolutions of their peculiar character-types, Rama and Ravana and so created the Ramayana, the grandest and most paradoxical poem in the world which becomes unmatchably sublime by disdaining all consistent pursuit of sublimity, supremely artistic by putting aside all the conventional limitations of art, magnificently dramatic by disregarding all dramatic illusion, and uniquely epic by handling the least as well as the most epic material Not all perhaps can enter at once into the spirit of this masterpiece , but those who have once done so, will never admit any poem in the world as its superior

My point here, however, is that it gives us the picure of an entirely moralised civilisation, containing indeed vast material development and immense intellectual power, but both moralised and sub-ordinated to the needs of purity of temperament and delicate ideality of action Valmiki's mind seems nowhere to be familiarised with the high-strung intellectual gospel of a high and severe Dharma culminating in a passionless activity, raised to a supreme spiritual significance in the Gita, which is one great key-note of the Mahabarata Had he known it the strong leaven of sentimentalism and feminity in his nature might well have rejected it , such temperaments when they admire strength, admire it manifested and forceful rather than self-contained Valmiki's characters act from emotional or imaginative enthusiasm, not from intellectual conviction , an enthusiasm of morality actuates Rama, an enthusiasm of immorality tyrannises over Ravana Like all mainly moral temperaments, he instinctively insisted on one old established code of morals being universally observed as the only basis of ethical stability, avoided casuistic developments and distasted innovators in metaphysical thought as by their persistent and searching questions dangerous to the established bases of morality, especially to its wholesome ordinariness and every-

dayness, Valmiki, therefore, the father of our secular poetry, stands for that early and finely moral civilisation which was the true heroic age of the Hindu spirit

The poet of the Mahabharata lives nearer to the centre of an era of aristocratic turbulence and disorder If there is any kernel of historic truth in the story of the poem it records the establishment of those imperial forms of government and society which Valmiki had idealised. Behind its poetic legend it celebrates and approves the policy of a great Kshatriya leader of men who aimed at the subjection of his order to the rule of a central imperial Power which should typify its best tendencies and control or expel its worst But while Valmiki was a soul out of harmony with its surroundings and looking back to an ideal past, Vyasa was a man of his time, profoundly in sympathy with it, full of its tendencies, hopeful of its results and looking forward to an ideal future The one might be described as a conservative idealist advocating return to a better but departed model, the other is a progressive realist looking forward to a better but unborn model Vyasa accordingly does not revolt from the aristocratic code of morality, it harmonises with his own proud and strong spirit and he accepts it as a basis for conduct, but purified and transfigured by the illuminating idea of the *niskama karma.*

But, above all, intellectuality is his grand note, he is profoundly interested in ideas, in ethical problems, he subjects morality to casuistic tests from which the more delicate moral tone of Valmiki's spirit shrank, he boldly erects above ordinary ethics a higher principle of conduct having its springs in intellect and strong character, he treats government and society from the stand point of a practical and discerning statesmanlike mind, idealising solely for the sake of a standard He touches, in fact, all subjects and whatever he touches he makes fruitful and interesting by originality, penetration and a sane and bold vision In all this he is the son of the civilisation he has mirrored to us, a civilisation in which both morality and material development are powerfully intellectualised. Nothing is more remarkable in all the characters of the Mahabharata than this puissant intellectualism, every action of theirs seems to be impelled by an immense driving force of mind solidifying in character and therefore conceived and outlined as in stone. This orgiastic force of the intellect is at least as noticeable as the impulse of moral or immoral enthusiasm behind each great action of the Ramayana Throughout the poem the victorious and manifold mental activity of an age is prominent and gives its character to its civilisation There is far more of thought in action than in the Ramayan, far less of thought in repose, the one pictures a time of gigantic creative ferment and disturbance, the other, as far as humanity is concerned, an ideal age of equipoise, tranquillity and order.

Many centuries after these poets, perhaps a thousand years or even more, came the third greate embodiment of the national consciousness, Kalidasa There is a far greater difference between the civilisation he mirrors than between Vyasa's and Valmiki's He came when the daemonic orgy of character and character and intellect had worked itself out and ended in producing at once its culmination and reaction in Buddhism There was everywhere noticeable a petrifying of the national temperament, visible to us in the tendency to codification, philosophy was being codified, morals were being codified, knowledge of any and every short was being codified, it was on one side of its nature an age of scholars, legislators, dialecticians, philosophical formalisers On the other side, the creative and aesthetic enthusiasm of the nation was pouring itself into things material, into the life of the senses, into the pride of life

and beauty The arts of painting, architecture, song, dance, drama, gardening, jewellery, all that can administer to the wants of great and luxurious capitals, received a grand impetus which brought them to their highest technical perfection That this impetus came from Greek sources or from the Buddhists seems hardly borne out · the latter may rather have shared in the general tendencies of the time than originated them, ond the Greek theory gives us a maximum of conclusions with a minimum of facts I do not think, indeed, it can be maintained that this period, call it classical or material or what one will, was marked off from its predecessor by any clear division such a partition would be contrary to the law of human development. Almost all the concrete features of the age may be found as separate facts in ancient India · codes existed from old time , art and drama were of fairly ancient origin, to whatever date we may assign their development , physical yoga processes existed almost from the first, and the material development portrayed in the Ramayana and Mahabharata is hardly less splendid than that of which the Raghuvansam is so brilliant a picture. But whereas before, these were subordinated to more lofty ideals, now they prevailed and became supreme, occupying the best energies of the race and stamping themselves on its life and consciousness In obedience to this impulse the centuries between the rise of Buddhism and the advent of Shankaracharya became—though not agnostic and sceptical, for they rejected violently the doctrines of Charvak—yet profoundly scientific and outwerd-going even in their spiritualism It was therefore the great age of formalised metaphysics, science, law, art and the sensuous luxury which accompanies the arts

Nearer the begining than the end of this period, when India was systematising her philosophies and developing her arts and sciences, turning from Upanishad to Purana, from the high rarefied peaks of early Vedanta and Sankhya with their inspiring sublimities and brasing keenness to physical methods of ascetic yoga and the dry intellectualism of metaphysical logic or else to the worm sensuous humanism of emotional religion, before its full tendencies had asserted themselves, in some spheres before it had taken the steps its attitude portended, Kalidasá arose in Ujjayini and gathered up in himself its present tendencies while he foreshadowed many of its future developments He himself must have been a man gifted with all the learning of his age, rich, aristocratic, moving wholly in high society, familiar with and fond of life in the most luxurious metropolis of his time passionately attached to the arts, acquainted with the sciences, deep in law and learning, versed in the formalised philosophies He has some notable resemblances to Shakespeare , among others his business was, like Shakespear's, to sum up the immediate past in the terms of the present · at the same time he occasionally informed the present with hints of the future. Like- Skakespeare also he seems not to have cared deeply for religion. In creed he was a Vedantist and in ceremony, perhaps, a Shiva-worshipper, but he seems rather to have accepted these as the orthodox forms of his time and country, recommended to him by his intellectual preference and aesthetic affinities, than to have satisfied with them any profound religious want In morals also he accepted and glorified the set and scientifically elaborate ethics of the codes, but seems himself to have been destitute of the finer elements of morality. We need not accept any of the ribald and witty legends with which the Hindu decadence surrounded his name , but no unbiassed student of Kalidasa's poetry can claim for him either moral fervour or moral strictness His writings show indeed a keen appreciation of high ideal and lofty thought, but the appreciation is aesthetic in its nature : he elaborates and seeks to bring out the

effectiveness of these on the imaginative sense of the noble and grandiose, applying to the things of the mind and soul the same aesthetic standard as to the things of sense themselves. He has also the natural, high, aristocratic feeling for all that is proud and great and vigorous, and so far as he has it, he has exaltation and sublimity; but aesthetic grace and beauty and symmetry sphere in the sublime and prevent it from standing out with the bareness and boldness which is the sublime's natural presentation. His poetry has therefore never been, like the poetry of Valmiki and Vyasa, a great dynamic force for moulding heroic character or noble or profound temperament In all this he represented the highly vital and material civilisation to which he belonged

Yet some dynamic force a poet must have, some general human inspiration of which he is the supreme exponent, or else he cannot rank with the highest. Kalidasa is the great, the supreme poet of the senses, of aesthetic beauty, of sensuous emotion His main achievement is to have taken every poetic element, all great poetical forms and subdued them to a harmony of artistic perfection set in the key of sensuous beauty. In continuous gift of seizing an object and creating it to the eye he has no rival in literature A strong visualising faculty, such as the greatest poets have in their most inspired descriptive moments, was with Kalidasa an abiding and unfailing power and the concrete presentation which this definiteness of vision demanded, suffused with an intimate and sovereign feeling for beauty of colour and beauty of form, constitutes the characteristic Kalidasian manner He is besides a consummate artist, profound in conception and suave in execution, a master of sound and language who has moulded for himself out of the infinite possibilities of the Sanskrit tongue a verse and diction which are absolutely the grandest, most puissant and most full-voiced of any human speech, a language of the Gods. The note struck by Kalidasa when he built Sanskrit into that palace of noble sound, is the note which meets us in almost all the best works of the classic literature. Its characteristic features of style are a compact but never abrupt brevity, a soft gravity and smooth majesty, a noble harmony of verse, a strong and lucid beauty of chiselled prose, above all, an epic precision of phrase, weighty, sparing and yet full of colour and sweetness. Moreover, it is admirably flexible, suiting itself to all forms from the epic to the lyric, but most triumphantly to the two greatest, the epic and the drama. In his epic style Kalidasa adds to these permanent features a more than Miltonic fullness and grandiose pitch of sound and expression, in his dramatic an extraordinary grace suavity which makes it adaptable to conversation and the expression of dramatic shade and subtly blended emotion

With these supreme gifts Kalidasa had the advantage of being born into an age with which he was in temperamental sympathy and a civilisation which lent itself naturally to his peculiar descriptive genius It was an aristocratic civilisation, as indeed were those which had preceded it, but it far more nearly resembled the aristocratic civilisations of Europe by its material luxury, its aesthetic tastes, its polite culture, its culture, its keen worldly wisdom and its excessive appreciation of wit and learning. Religious and ethical thought and sentiment were cultivated much as in France under Louis XIV, more in piety and profession than as swaying the conduct, they pleased the intellect or else touched the sentiment, but did not govern the soul. It was bad taste to be irreligious, but it was not bad taste to be sensual or even in some respects immoral The splendid and luxurious courts of this period supported the orthodox religion and morals out of convention, conservatism, the feeling for established order and the inherited tastes and prejudices of centu-

ries, not because they fostered any deep religious or ethical sentiment. Yet they applauded high moral ideas if presented to them in cultured and sensuous poetry much in the same spirit that they applauded voluptuous description similarly presented. The ideals of morality were much lower than of old, free drinking was openly recognised and indulged in by both sexes, purity of life was less valued than in any other period of our civilisation Yet the unconquerable monogamous instict of the high-class Hindu woman seems to have prevented promiscuous vice and the disorganisation of the home which was a result of similar state of society in ancient Rome, in Italy of the Renascence, in France under the Bourbons and in England under the later Stuarts The old spiritual tendencies were also rather latent than dead, the mighty pristine ideals still existed in theory,—they are outlined with extraordinary grandeur by Kalidasa,—nor had they yet been weakned or lowered to a less heroic key It was a time in which one might expect to meet the extremes of indulgence side by side with the extremes of renunciation, for the inherent spirituality of the Hindu nature finally revolted against the splendid and unsatisfying life of the senses But of this phase Bhartrihari and not Kalidasa is the poet The greater writer lived evidently in the full heyday of the material age, and there is no sign of any setting in of the sickness and dissatisfaction and disillusionment which invariably follow a long outburst of materialism.

The flourishing of the plastic arts had prepared surroundings of great external beauty of the kind needed for Kalidasa's poetic work. The appreciation of beauty in Nature, of the grandeur of mountain and forest, the loveliness of lakes and rivers, the charm of bird and beast life had become a part of contemporary culture. These and the sensitive appreciation of trees and plants and hills as living things, the sentimental feeling of brotherhood with animals which had influenced and been encouraged by Buddhism, the romantic mythological world still farther romanticised by Kalidasa's warm humanism and fine poetic sensibility, gave him exquisite grace and grandeur of background and scenic variety The delight of the eye, the delight of the ear, smell, palate, touch, the satisfaction of the imagination and taste are the texture of his poetical creation, and into this he has worked the most beautiful flowers of emotion and intellectual or aesthetic ideality The scenery of his work is a universal paradise of beautiful things. All therein obeys one law of earthly grace; morality is aestheticised, intellect suffused and governed with the sense of beauty. And yet this poetry does not swim in languor, does not dissolve itself in sensuous weakness; it is not heavy with its own dissoluteners, heavy of curl and heavy of eyelid,cloyed by its own sweets, as the poetry of the senses usually is. Kalidasa is saved from this by the chastity of his style, his aim at burdened precision and energy of phrase, his unsleeping artistic vigilance.

As in the Ramayana and Mahabharata we have an absorbing intellect-impulse or a dynamic force of moral or immoral excitement driving the characters, so we have in Kalidasa an intense hedonistic impulse thrilling through speech and informing action An imaginative pleasure in all shades of thought and of sentiment, a rich delight of the mind in its emotions, a luxuriousness of ecstasy and grief, a free abandonment to amorous impulse and rapture, a continual joy of life and seeking of beauty mark the period when India, having for the time exhausted the possibilities of soul-experience attainable through the spirit and the imaginative reason, was now attempting to find out the utmost each sense could feel, probing and sounding the soul-possibilities in Matter and even seeking God through the senses. The emotional religion of the Vaishnava Puranas which takes, as its type of the relation between the human

soul and the Supreme, the passion of a woman for her lover, was already developing. The corresponding Tantric development of Shaivism may not yet have established itself fully; but the concretisation of the idea of Purusha-Prakriti, the union of Ishwara and Shakti, from which it arose, was already there in the symbolic legends of the Puranas and one of these is the subject of Kalidasa's greatest epic poem The birth of the War-God stands on the same height in classical Sanskrit as the Paradise Lost in English literature · it is the masterpiece and *magnum opus* of the age on the epic level. The central idea of this great unfinished poem, the marriage of Shiva and Parvati, typified in its original idea the union of Purusha and Prakriti, the supreme Soul and dynamic Nature by which the world is created; but this type of divine legend was used esoterically to typify also the Nature-Soul's search for and attainment of God and something of this conception pierces through the description of Parvati's seeking after Shiva Such was the age of Kalidasa, the temper of the civilisation which produced him; other poets of the time expressed one side of it or another, but his work is its splendid integral epitome, its picture of many composite hues and tones Of the temperament of that civilisation the *Seasons* is an immature poetic self-expression, the *House of Raghu* the representative epic, the *Cloud Messenger* the descriptive elegv, *Shakuntala* with its two sister love-plays intimate dramatic pictures and the *Birth of the War-God* the grand religious fable Kalidasa, who expressed so many sides and faces of it in writing' stands for its representative man and genius, as was Vyasa of the intellectual mode of Indian civilisation and Valmiki of its moral side

It was the supreme misfortune of India that before she was able to complete the round of her experience and gather up the fruit of her long millenniums of search and travail by commencing a fourth and more perfect age in which moral, intellectual and material development should be all equally harmonised and all spiritualised, the inrush of barbarians broke in finally or her endless solitary *tapasya* of effort and beat her national life into fragments A preparation for such an age may be glimpsed in the new tendencies of spiritual seeking that began with Shankara and continued in later Vaishnavism and Shaivism and in new turns of poetry and art, but it found no opportunity of seizing on the total life of the nation and throwing it into another mould. The work was interrupted before it had well begun; and India was left with only the remnants of the culture of the material age to piece out her existence. Yet even the little that was done afterwards proved to be much; for it saved her from gradually petrifying and perishing as almost all the old civilisations of Assyria, Egypt, Greece, Rome, petrified and perished, as the material civilisation of Europe, unless spiritualised, must before long petrify and perish That there is still an unexhausted vitality in her, that she yet nourishes the seeds of rebirth and renewal, we owe to Shankara and his successors and the great minds and souls that came after them Will she yet arise, new combine her past and continue the great dream where she left it off, shaking off, on the one hand, the soils and filth that have grown on her in her period of downfall and futile struggle, and reasserting, on the other, her peculiar individuality and national type against the callow civilisation of the West with its dogmatic and intolerant knowledge, its still more dogmatic and intolerant ignorance, its violence and its ungoverned Titanism? In doing so lies her one chance of salvation.

Origin And Antiquity Of Punch-Marked Coins In India.

Shushila Pant

Introduction :

Currency, both coins and paper (notes etc), has been a medium of trade and commercial transactions as well as a sign of economic prosperity and a barometer of the stage of economic development of a country All available evidences literary, archaeological, epigraphical and sociological—go to prove that in the early phase of India which may be called the pastoral and tribal stage. barter was the common system of exchange As the human society was not complex, human needs were limited. The economic stage was in its most rudimentary form. Even the marxists do not dispute this fact. The modern Indian writers on the Economic History of India[1] as well as the Indologists, Anthropologists, Sociologists[2] and Numismatists are one on this point that in the early phase of Indian civilisation economy was self-sufficient and was confined to a very limited, small local framework of society The social structure was such that the needs were extremely limited and were easily fulfilled on the basis of mutual exchange of surplus products among the different sections, class, caste and clans of the social milieu. Profit-sense had not yet entered into the social and economic aspect of man's life

With the gradual development of human civilisation, life became a little more complex giving rise to a number of human wants. The limited territorial boundaries of the pastoral stage began to expand. In this process of expansion wars, social and racial affinities, cultural tradition, political aspirations played significant role The changes in the socio-political milieu brought, to some extent, certain necessary changes in the economic structure as well as in the economic system[3]. The transformation had taken place from the pastoral and tribal economy to the village economy. This process of change had been in the offing from the Bramhanic period and came to its fruition some where in circa 800 B C. At this stage currency -coins- were accepted as the medium of exchange as the economic needs of the society could not be met by the barter system.

In the centuries that followed much water had flown in the Narbada, Jainism and Buddhism began to dominate the socio-political and

1. B B , Puspa Noogi and Dr Lallan Jee Gopal.
2. Srinivasan, Desai and Kapadia etc
3. Marx would frown at it as for him it is the economic factor that determines the socio-political structure and not vice-versa.

PHOTO & COURTESY SHYAM AGRAWAL
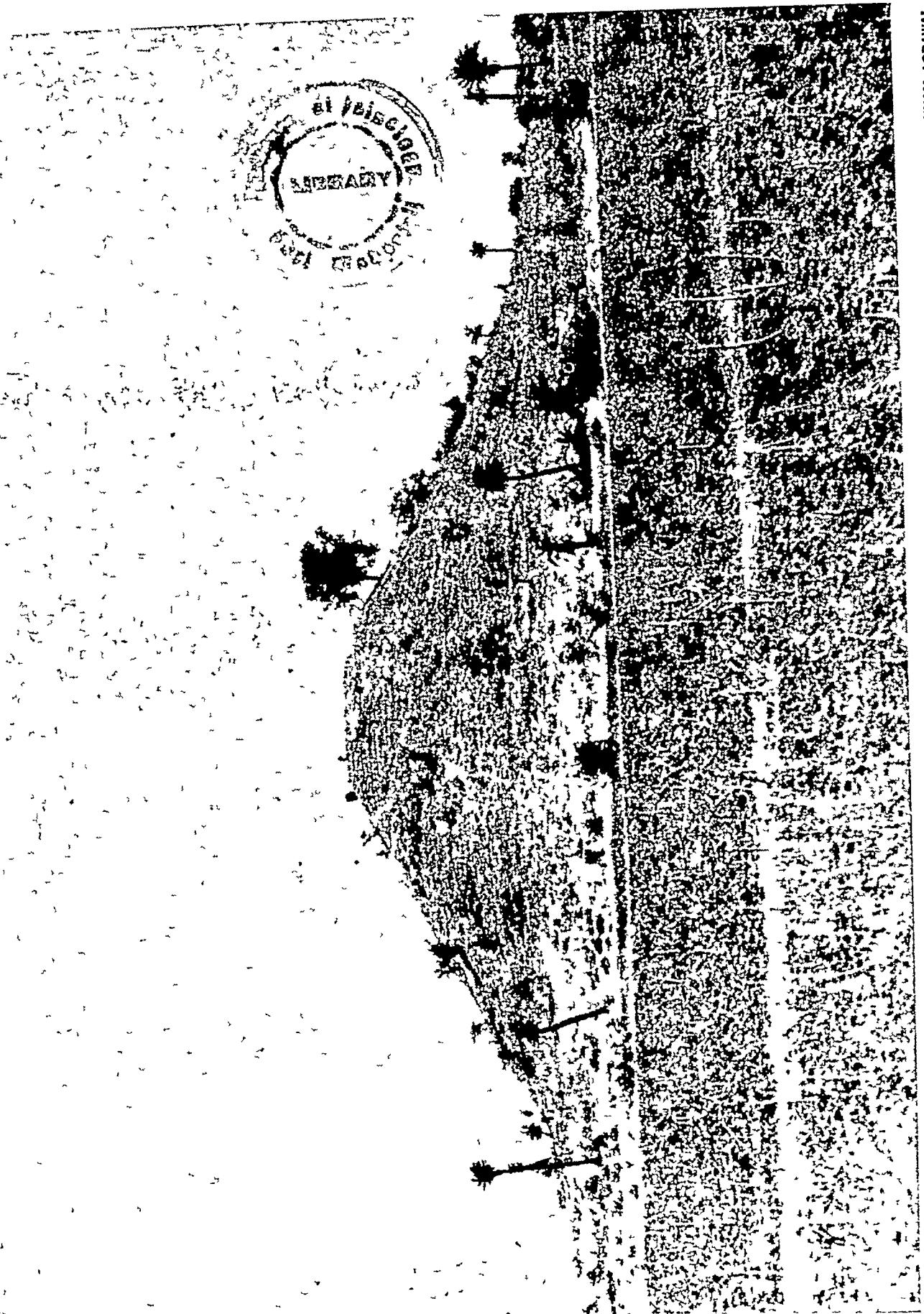
वेश्या टेकरी (अशोक कालीन स्तूप : ३री सदी ई० पू०)
VESHYA TEKRI (Stupa of Ashokan Period 3rd Century B C)

religo-cultural life of the country. The political transformation from tribal to village and from village to city and from city to a territorial stage had by now been completed. The political stability and respite from other threats to human property led to the development of trade and commerce Profit-motive became an important incentive in business. Not only political and military needs required a change in the economic structure and system, but because of an increase in the inter-states and intra-states trade and commerce and because growing economic markets, some common medium of exchange was direly needed Thus, forced by the economic sociological (used in wide sense of the term) there emerged in India, as in the other ancient countries of the world as well, the system of currency and coinage.

Origin and Antiquity . Literary evidences : Continued :

The question of the origin and antiquity of coins in India has always been the crux as well as the puzzle for the scholars However on the basis of literary, historical, and archaeological evidences, some efforts have been made to trace the antiquity and origin of the coins in India The earliest reference to coins, though indirect, is found in the Satpatha Brahman where the word 'Satman' (100 ratti) has been mentioned. As of the same weight some coins have been found at Taxila, scholars like, Vasudeva Upadhya,[1] infer that the reference found in the Satpatha Brahman, also denoted coins. But this seems to be a far-fetched derivation though its possibility cannot be completely ruled out At least there is no archaeological evidence in its support It is also probable that these weights might have been used in barter But there are some words occuring in the Sanskrit[2] and Buddhist[3] literatures which suggest the existence and use of coins as common medium of exchange during these times. But again these references are to be accepted with a grain of salt

In the Panini's Asthadhyayi there are the mentioning of the following varities of coins These coins might have been stamped and as such could be considsred as the earliest examples of the Punch-Marked coins According to him these coins were known as: (a) Karshapana (v. 1, 29) , (b) Nishka (v 1, 20, 30) , (c) Pana (v. 1, 34) ; (d) Pada, Masha (v. 4, 1) ; and (e) Sana (a small copper coin)[4]. Thus, Panini also suggests that these coins were both of silver and copper. The silver coins were probably of higher denomination and the copper ones might have been its multiples. This has been confirmed by the commentary of Kashika Patanjali, Katyan and Kautilya They all allude to the existence of coins during there times. Patanjali referes to the system of wage payment in terms of Padika द्वि पादिक, त्रिपादिक etc Katyayan mentions. 'द्वि शतमान', 'अर्द्ध शतमान' 'Satman' was the weight but it also refers to silver coins in circulation In later Samhitas and the Brahmanas this has been used for coins Katyayan has also used the word 'Prati' as synonym to Karshapana Kautilya has also mentioned the word 'Pana' probably it is the abbriviation of 'Karshapana' thereby meaning the silver coin He too has said about 'Sat Sahastra', 'Punch Sahastra' etc. and their multiples In the Arthasastra there is the reference of payment of penalty for wrong deeds It is said at one place द्वि शतिकाम दण्डित=200 Karshapana.

In the Buddhist works, especially in the Jatakas there are references regarding hundred

---

1 Bhartiya Sikke, Vasudeva Upadhyaya pp 49-50
2 Panini's Asthadhayayi, Patanjali's Bhashya, Katyana and Arthasashtra of Kantilya
3. Vissuddhimagga, Mahasupin.
4 Hindu Civilisation, Part 1, Radha Kumud Mookerji, p 148

thousand, fifty thousand coin. In the Mahasupin Jataka the word 'Pada' has been us eddenoting 'Karshapana'. In other texts 'Dharan' (धरण) and 'Purana' (पुराण) have also occured. The archeological findings also confirm that during the Buddhist period coins were in circulation as the stage of economic development was quite high. There was prosperity, trade and commerce in full swing The archaeological findings in Bihar also go to prove that coins having marks were in circulation even before the advent of Buddism as standard medium of exchange in trade and commerce and were known by these various names

From these literatures it is also clear that the earliest coins were of silver as well as of copper. The archaeological findings at Taxila, Bihar, Punjab, Andhra Pradesh, Eran, Saugor, Mathura also support this contention. Probably in the beginning of the history of coins copper was only used At least it is the view of a few writers. Vasudeva Upadhyaya is of the opinion that Karshapana in the beginning referred to copper coins and only in the later period it was used both for the copper as well as for the silver[1] ons But Dr. V S. Agrawala is of the view that Karshapana was commonly referred to silver coins. But in all probability it seems that Karshapana denoted silver coins. However one fact seems clear from these literary and textual evidences that coins were in vogue as medium of exchange during these various periods But a very pertinent question can be raised about the exactness of the dates of these works and conseduently of the antiquity of the coins ascribed on this basis as well. True it is that the modern indologists, numismatists and historians, probably in the absence of any appropriate name-call these early coins as the Punch-Marked coins (hence forth only referred to as P.M C) but for them also these references could not become final proofs for their antiquity, and origin. To me some of the references adduced in support of the existence of such coins from the Asthadhayayi of Panini and the Jatakas are questionable. A school of numismatists and historians believes that the date of these coins coincide with the date of the Panini which according to P.V. Kane could be assigned to circa 600 to 500 B C. But as scholars are not unanimous on the exact date of Panini and in the absence of any scientific evidence in the support of this period, it is not very convincing to accept that the P M C originated during the time of Panini only. Moreover, if Panini has mentioned the various denominations of coins, it does not mean that these coins belonged only to his period. *It is also likely that these coins* were already in circulation at the time of Panini and as such they were earlier to 600 B C It is probably this which weighed in the minds of a few writers so suggest that the P.M C. were in circulation since circa 800 B C[2] If there is some truth *in this line of argument*, and, I think there is, the Jatakas could also not be taken as final proof in fixing the antiquity of the P M C The Jatakas are supposed to have been written some time during circa 200 to 200 B C though they record the early history as well. But on the references found in the Jatakas it seems very difficult to assign any definite chronology to the P M C. However, as these criticisms are confined *to the* question of chronology of the P M C they do not prejudice the fact that the P M C were in circulation right from circa 600 B C.

These are scholars & numismatists who have tried to assign some chronology to the P.M C. on the basis of archaeological findings at Bihar mound and Sircup in Taxila, and in Bihar. As these coins do not mention any date or year nor do they mention the names of any king or per-

---

1. Vasudeva Upadhya, op. oit., p. 48.
2. Ibid ; Professor Sankalia is also of this view.

son or institution, the numismatists have tried to ascribe some chronology to the P M.C. on the basis of symbols or as P.L. Gupta calls, 'designs' But ascribing chronology to the P M C has been the most vexed problem for the numismatists, and this seems obvious because of the divergent views that have been expressed by the scholars on this subject. They have failed to arrive at any consensus of opinion in ascribing a period to the origin of the P M C in India. Let us examine some of the views on this score.

P L Gupta is of the opinion that the designs or symbols "were used with some definite system. Each of the symbols is found confined to the coins of a particular area or on these of a particular variety or type Thus they enable one to isolate the coins of one area from those of another, one of State from those of another, and of one period from those of another"[1] P.L. Gupta on the basis of some findings at various places in India is of the view that such coins existed in the pre-Maurayan period and even earlier to this period. Vasudeva Upadhya[2] is also of this view that on the basis of the symbols some chronology could be assigned to the P M C According to him the five symbols on the obverse side of the coins could be grouped into three sets :

(1) वीजमुद्रा , षड्चक्र , Dog on the Nandi Hill, and two peculiar ones ,

(2) वीजमुद्रा , षडचक्र , Meru Hill, and two unknows signs ,

(3) वीजमुद्रा , षडचक्र ; an animal, and two unidentified symbols

Thus it is clear that a few symbols are common to all the three sets, while others are subject to change. These variables, therefore, are suggestive of possible origin of the coins The Meru has been identified with the standard of theMauryas and as such coins having this symbol could be dated back to the Mauryan period[3]. Similarly, Nandi symbol has been identified with the Nanda dynasty and therefore all such coins might belong to that period[4]. But as there is no concrete evidence nor is there any scientific way of interpreting the symbols, these dates seem to be mere conjectures Durga Prasad has also tried to interpret these symbols and on there basis he has tried to assign some dates to these coins

But the greatest controversy that has been evoked with regard to the fixation of chronology to the P M C. relates to the archaeological findings of J Marshall at the Bhir Mound and Sircup in Taxila in the first quarter of the 2oth century. In 1912 and 1924 he excavated two hoards of P.M.C In the first findings of 1912 he collected 167 silver P M C along with a coin of Diodatus 11, and in his second collections there were 1171 silver P.M C along with two Gold coins, one of Alexander the Great and the other of Philip Arideas There was also one worn Persian Sigloi Marshall on the basis of the association of the M.P C with the foreign coins inferred that the P M C of the first hoard were deposited by the end of the 3rd century B C. while those of the second hoard were buried round about circa 300 B C. or possibly even later E.H C Walsh and P. L. Gupta followed Marshall's interpretation and regarded the coins of the first hoard belonging to the pre-Mauryan period while of the second hoard to the Mauryan era These scholars also point out to the fact that the P.M.C. of these two

1 L Coins, P L Gupta, p 9
2 Op Cit pp 59-62
3 K.P Jaiswala has also identified the coins found in Bihar to the Mauryan and Nanda dynasty.

hoards belong to two distinct fabric The coins of 1912 hoard are rectangular with corner shopped off at times The coins of the next hoard are different and homogenous among themselves P. L Gupta seems to have relied on the interpretation given by Durga Prasad that the coins of the later period are broad, thin and irregularly shaped. According to him the symbols three arched hill surmounted by crescent–is the mark of the Mauryas and suggested that those coins on which this mark is absent they should be dated as pre-Mauryan.

But their views have been challenged by A. H Dani and A K Narain and Allan. Some of the scholars even did not accept the verasity of his excavarion of 1924 Dani points out that on the basis of the archaeological findings at the Bhir Mound and Sircup in Taxila, the culture-complex of it can be divided into two phases After close examination of the excavation and of the excavated material he found that the first phase (A) consisting of strata IV and III is conspicuous by the absence of so–called 'Hellenistic' objects while in phase (B) they are unmistakably present in strata 11 and 1 and further noticed a continuity between the upper strata of Bhir and the lower ones of the Sircup. Due to the presence of a few 'Hellenistic' materials Dani believes that Phase (B) must be dated from the period when the Indo–Bactrians began to exert their influence on Taxila, possibly sometime towards the end of the Mauryan rule It is in this phase that local Taxilan coins began to appear in large number. Phase (A) must be Mauryan and pre-Mauryan S. C Ray does not agree with this interpretation of Dani. He does not accept that the strata 11 & 1 of the Bhir Mound belonged to the post-Mauryan period But in doing so he does not take into account all the 'Hellenistic' materials He selects only a few and there by commits the fallacy of mal-observation More over, in refuting Dani's argument he does not give any positive evidence in his support to show that Dani's Phase (B) is of an early date. Dani is right in saying that Marshall was misled in his conclusion because of the presence of the coins of Alexander and Philp Aridaeus

Allan agrees with A. K. Narain's line of arguments According to Narain hoards are generally buried in a pit. As such they should be dated on the basis of their sealing layer Even if the hoard at Taxila was found near the top of the 111 strata, its sealing layer must be somewhere in the lower levels of phase (B) of Dani Allan is right to remark that" the hoard was deliberately buried so that its date of concealment is later than the stratum in which it was found " Narain and Allan both believe that the hoards were buried at the time of Greeks' invasion on India Dani on the other hand, assigns the date to both these hoards somewhere in the post-Mauryan time. Thus, these varied suggestion are more confusing than clarifying, and no solution of the problem of ascribing a date to the origin of the P.M C seems to be in near sight· Let us hope that this gathering of the scholars will throw some concrete light on it.

Minting.

The term Punch-Marked Coins is itself suggestive. It refers to those coins on which marks have been punched and they are to be considered as the earliest known coins in the world As seen above that it is difficult to assign any date to these coins, the question of minting and marking of the coins is eqally a taxing matter for the numismatists Here too a number of views, sometimes eontradictory, sometimes overlapping, have been expressed by the scholars But as will be noticed subsequently that most of

1. A Chosh and wheeler.

the views are either purely conjectural or partly hypothetical None could be called authentic and scientific It is better to relate some of the views before venturing to offer any suggestion.

Smith is of the opinion that the P.M C were issued by the guilds and Silver-smith with the royal permission As far as the punching was concerned it was done by the different money lenders through whose hands coins passed But this was true only of the marks found on the reverse side

D C Sarkar while supporting Smith, further suggests that the P M C were primarily issued by the State But they were also issued by the guilds, silversmiths Both those types of coins were in circulation side by side This is evident from the references found in the Vissuddhimagga and in Buddhagosha

J.N Banerjee is of the opinion that there is little doubt that the marks were made by the central authority as an insignia of genuineness of the material and the correctness of the weight.

S K. Chakravorty also thinks that most of the P.M C were issued by the State But at the same time they were issued by a few private individuals and guilds

A few others try to follow a middle path when they suggested that the P M C in the beginning were issued by the guilds, bankers or private individuals Some might have been issued by the local chieftans also But later on when the territorial expansion had taken place, rulers needed money for various reasons-purchase of arms, payment of salary, maintenance of army, administrative personnel, constructional purposes and this led the kings to take over the responsibility of minting and punching of the coins This is evident from the account given by Kautilya and also from the archaeological findings in Bihar

From these varied views one can only draw a tentative conclusion that in ancient times P. M C. were issued both by the private as well as by the State agencies. In the beginning this might have been the work of the private agencies but later on they shared this privilege with the state. At a further late stage it was taken over completely by the State with only a few exceptions But again we are moving in the realm of conjecture I have no means to prove my contention

The P M C were of different shape, size and denominations Taking into cosideration the low stage of development in the art and technique of moulding, casting and minting in circa 800 to 600 B C In India one would not be suprprised to find the crudeness and primitiveness in shape, size and symbols of the P M C The archaeological findings from the different parts of the country show that these coins were square, oblong elliptical, round, flat, broad, thick and thin Coins of different places were different in execution, fabric, weight and qualitv of material. P. L. Gupta is of the opinion that the coins of Surashtra were thin, of Gandhara concave and long, coins of Vanga were thin and rectangular, coins of Vasta were broad roundish in shape, coins of Magadha oval, flat and thin

In the beginning most probably as these coins were made out of silver and copper bars cut into small pieces, they acquired oblong or logish shape and were crude Later on these coins were made out of the flattened bars Thus flat but thick coins came into existence They too were ugly in appearance and had peculiar shapes. Finally, with the development of technique in minting followed by a mastery in maleable art and greater refinenəss in aesthetic sense of the middle class and rich people, coins were neatly carved out of copper and silver sheets Here

they now assumed some shape, But as these coins were to be of a fixed weight i e.32 ratti-generally, the 'Rupadarshka' (examiner of coins) used to clip a portion from the corner of each coin which was over-weight. Thus what was aesthetically pleasing and symmetrical in the beginning was nopped aud chopped and disfigured before coming into circulation. As a result these coins at no time of their life could acquire fineness, beauty and pleasing outlook At a further late period other methods of coinage were also applied From Mathura and Kondapura (Hydrabad Deccan) a few terracotta moulds have been found in which marks were also engraved. These were also the sites from where Krasha panas have been found This coincidence is not accidental as the coins found from these places could have been moulded

Punch-Marks. Methods.

After the coins were shaped in the beginning on the obverse side a few marks were punched. These marks on the coins found at the different parts of the country are varied and they also differ in execution and contents Possibly these marks were punched inorder to show. (a) genuineness of the material, (b) exactness of the weight (c) standard medium of exchange or legal tender, (d) and to distinguish between the genuine and the counterfiet (जाली सिक्का) These marks were punched generally in the following three ways —

1. by hammering the marks on the flat surface;
2. by engraving the marks inside the mould and thus coining and marking both were done simultaneously,
3. by putting the impression on the heated material of the coin with the help of a die (साँचा)

Archaeological findings from Eran, district Sagourm Mathura confirm the application of this method in marking the coins However, these three means of marking the coins were unrefined and crude This becomes clear from the dim and confused impressions of the symbols found on the P M C

The P M C generally contained marks only on the obverse side Only in a few cases, marks have been found on both the sides (Magadha coins). P L Gupta is of the opinion that the early Punch-Marked coins were stamped only on the obverse side, the reverse being left blank [1] Early big coins have either two or one symbols engraved [2] But on others there were three or four or five But maximum marks was five The execution of some of these marks show some degree of sophistication and clarity They can be easily identified despite the fact that in some cases overlapping is noticeable. These svmbols originally were put on the front side but gradually marks appeared on the other side as well This might have happened because of the counterfeiting of coins Kautilya has mentioned a special officer for inspecting the corectness and genuineness of the coins, known as Rupadarshaka and this system of periodical inspection had led to the marking on the other side as signs of their being duely inspected and checked by the royal officer. This gets further credence from the fact that on some of the coins of the late period as many as 14 marks[3] on the reverse side have been noticed It is generally accepted by the scholars[4] that' coins which were

1. Coins op oit, p9.
2. Stubb, Whitehead and Cunningham have mentioned such coins
3. P. L. Gupta has mentioned only 12 marks
4. P L Gupta, A K Narain, Vasudeva Upadhya, Durga Prasad etc.

in larger circulation got more stamps than those which were in shorter circulation, and those which have no marks (on reverse) perhaps, were not in circulation at all or were in nominal circulation" [1]

These symbols have been again a subject of controversy among the scholars both of the west and of the East Roughly these symbols could be grouped under the following heads —

1. Human figures these are least noted, (2) Armaments Stupa (K P Jaiswala's findings at Ghoraghat (Bhagalpur), Chaitya, Bow and Arrow, (3) Animals (Lion, elephant, cat, dog, fish, bull, (4) Trees, Hills, (5) Signs and symboles associated with Shiva and the school of Tantra, (6) Strange signs

Durga Prasad is of the view that most of these symbols belong to the Tantric school and some of them have been mentinoned in the 'कालिविलास' a book on Tantra But it seems strange, that similar designs have been also noticed on some of the seals found at Harappa and Mohenjodaro One wonders what corelation it could have with the P M C symbols! Allan is definite that these symbols are borrowed from the animal and vegital worlds They did not bear any religious tinge But this view cannot be accepted as some of the symbols like Nandi, Sun, fish, Peacock, dog, lion have, either been regarded as auspicious signs from the beginning or have been related to some gods However, in view of the diversity of ideas it is safe to suggest that these symbols were related to and marked up:—

1. officers or institutions issuing the coins,
2. some belonging to religion,
3. Some coming from the Tantric school and,
4. some peculiar ones whose identity can not be established

Place of findings

The P M C have been found in large number from all over the country Nevertheless the following are the important sites of their findings. Uttara Punchala, Dakshina Panchala, Vatsa Kosala, Kashi, Magadha, Kalinga, Andhra, Surashtra and Gandhara From these places silver coins of different denominations have been excavated. Copper Punch-Marked coins were rarely found Such coins have been found in the Magadha, Ujjain-Vidisa and Mewar regions

It is generally accepted that the issue of Silver Punch-Marked coins was stopped by the end of the 2nd century B C although its circulation continued till the rise of the Gupta Empire Thus, if it is accepted that the P M C. came into circulation sometime in circa 800 B C and came to its natural end in 3rd century A D it has a long history of 11 centuries.

1 Coins op oit, p 9

Sanskrit and Prakrit Literature of Bhoja-A Review

By—Shri Anant Waman Wakankar, Dhar

So far as Sanskrit is concerned, the fifth, sixth and seventh centuries are the age of its glory The Guptas defeated the Shaka rulers of Ujjain, which helped the revival of Aryan culture. In the fifth, the plant developed into a flowering and fruitbearing tree The sixth was indeed the age of glory in the mediaeval history of India During this period, the victorious ruler of the name Vikramaditya started his career of conquest, wiping out the last vestige of Yavanas, shaka and Huna invaders, His contribution was inspirational in the sense that it inspired new thought in the social order of the times stemming the tide of atheistic tendencies of Budhism and the like. The universal conduct of social life revived and was known as the Sanatan Dharma. As a result, it gave impetus to the creation of new works both in art and literature

Prakrit that had held its sway long back, now assumed a new form known as the Maharashtri Prakrit Late Rameshchandra Dutta holds this view In support of his argument he says that because of its rise, the question of having a prakrit grammer, became the prime necessity for the scholars to go ahead So Var-ruchi had already stepped in to frame his Prakrit Grammer Poets far and near later felt inspired to write poetry, drama, short story and legends

Art and Architecture revived to assume new forms as a result of which there were beautiful works of art and craft in temples, palaces and Universities, which spread over the length and breadth of India

This all round progress persisted in the seventh century during the reign of Harshavardhan of Kanauj The best of poets, flourished during the seventh century are loud in praise of their predecessors Kalidas now being proved to have flourished at the court of Chandragupta the second speaks highly of Bhasa, Saumilla, Kaviputra and Shudrak, the author of Mrichhakatikum Bhasa's influence on Kalidas and Shudrak is obviusly clear, whereas Bhartrihari's on Subandhu and the latter's on Bana is as clear as daylight Harsh's Ratnavali is definitely an adaptation of Malavikagnimitram and Banas Kadambary is in the same sense a revised edition of Subandhu's work

So far as Prakrit is concerned, we have t g back to the rise of the Andhrabhrityas or the Satwahanas about 27 B C who in fact were the promoters of Prakrit of which the Saptashati of Hala is an example of singular achievement in Prakrit literature to start with

Under the guptas, the age saw the speculative thought among others of Vasubandhu and Nayanamar, the perfect lyric and drama of Kalidas, the astronomical discoveries of Varahamihira, the Iron piller of Allahabad, the beginings of

PHOTO : SHYAM AGRAWAL

चतुष्टय प्रतिमाएं
QUADRUPAL SCULPTURE

भानस्थ-शिव (ग्यारवी सदी का शिल्प)
DHYANASTHA-SHIVA (11th. Century A D)

structural temples, the beauty of an early Ajanta frescoes, the rise of Vaishnavism and Shaivism the completion of Mahabharat and the compositions of the Vayu and Matsya Puranas Along with this it must definitely be said that the Kurmapuran is definetely of 1000 A D

Maharashtri Prakrit —

The Genesis of the Maharashtriya Prakrit may baffle scholars to locate its province, nay its origin and development, but its regional aspect is confined only to the Central India and the Deccan too. of course to begin with we have got to face the claims of the Paishachi, Shaurseni, Pali, Ardha-magadhi and lastly of the Apabhrinsha and Deshi against the location of each

The Dhar inscriptions are definitely in Maharashtriya Prakrit with considerable admixture of Deshi for which the scholars of the Paramar period had to sit tight over the linguistic achievements of Jain and other scholars.

The text in Maharashti Prakrit is named Avanikoormashatam because it closely follows the contents of the Koormapuran, which though in praise of the Koorma incarnation of Vishnu, should have been Vaishnava in character. But curiously enough it is Shaiva The original Koormapurana is believed to be of 1000.A D. as the scholars assign its date of compositon.

Just following its character, it begins with salutation to Shiva The choice seems to have been made because the Paramars were Shaiva and their tutelary deity was Kalika of Dhar. It has in great devotion of Vishnu and Shiva, not failed to remind the readers to recall the memories of Bhoja's illustrious ancestor, Krishnaraja (Kanha) who was also named as Upendra in some copper plates In fact in Koormapurana it is Vishnu who is hailed as the saviour, but he has Indra as other name Vishnu, therefore it follows Krishna as his brother i e. in a way Upendra. (The Geet Govindam affirms as उपगत इन्द्र अनुजत्वाम्) It is in this sense that Kanha (Krishna) is cited off and on in all the texts of Gathashatam i. e B Text of Avanikoormashatam, Kodanda-shatam, Khadgashatam and the Adnyatshatam All these are described to be compositions of Bhoja, though some other poets of Maharashtriya Prakrit fame of his court must have their hand in the composition of the series

Bhojshala Inscriptions: Their contents

As already recorded by late K K Lele in his printed reports 1902–1929 as Superintendent of Archaeology, Dhar State, a majority of the stone slab inscriptions that have been recovered from the debris from the site of old Bhojshala, present a very sad picture of the literary treasure lost For Bhoja alone as a scholar, poet, dramatist astronomer and warrior could easily outshine Harsha, the literary celebrity of the mediaeval history

The few slabs that give more of the picture of his achievements in the different fields of literature are partly his own propositions to initiate, though other poet scholars of his court and others that followed his parmar successors were simply astounded at the magnitude and rare historic achievements of the illustrious literery celebrity Bhoja.

The slabs though incomplete are —

1. Avanikurmashatam—
   Text A & B by Bhoja himself. A has 1-109 verses, B has 1-109 verses

2 Kodand (Incomplete):
   Slab No. 11 has 31 to 266 verses.
   Slab No 5 has 273 to 513 verses.
   Slab No 3 has 517 to 576 verses.

3 Khadgashatam in two parts, both incomplete

Slab No 1 has 7 to 106 Dwitiya Khadgashatam

4. Adnyat so named because its heading is not found nor the end 100 of the 3rd shatam No. 7 begins with Om Nama Sivaya 1-565 verses

5 Raulwel in Prakrit is almost complete It has been critically edited by Dr Mata prasad, M A D Litt; of Rajasthan University, Jaipur. The slab has 47 lines.

The clue to Bhoja's greatness and scholorship –

The inscription, mutilated and obliterated in parts and disfigured, as they were collected by late K. K. Lele in 1902 began telling their stories on the life of Bhoja and his Parmar successors. They were arranged and pieced together After decipherment a good deal of historical material was at hand Some big slabs were found intact though scratched and broken at places The scholars could then at once read the Maharashtriyan Prakrit Text and adjust the material for critical study

Those almost complete are —

1. The Avani Koorma shatam having two texts later taken note of as A and B (Epi Indica)

2. The Parijat Majnari by the poet Madna of which only two Acts are available

3 The Raurwel though not quite historical, is preserved in the Royal Asiatic Society Museum, Bombay Late K K. Lele sent for its estampage but it was sent in an obliterated form Twice he moved the Museum authorities for a good estampage but it was not supplied

It is only recently that Dr Mataprasad of Jaipur has brought out his critical edition in the year 1962 The Prachya Vidya Mandir of Bombay has had published its text ahead but not mueh ground was covered by the publishers for critical examination

4 The Kodand-kavya (shatam) by Bhoja, though mutilated and broken to pieces, when pieced together gives a tolerably good poetic account of the life of Bhoja The inscription is great inview of the saveral works at hand today, printed and published by scholars far and near

5 The Khadga-shatam is in two parts, the first and the second too are incomplete, yet a few verses therein repeat and corroborate the truth of Bhojas victories far and near and what by the dint of his shining sword he could both defeat kings and establish his role of a great and kind ruler of his dominions

6 The unknown (now named as Adnyat) again corroborates his scholarship and patronage extended to scholars of different fields of literature

5 The Khadga–shatam is in two parts, the first and the second too are incomplete, yet a few verses therein repeat and corroborate the truth of Bhojas victories far and near and what by the dint of his shining sword he could do to defeat kings and establish his role of a great and kind ruler of his dominions

6. The unknown (now named as Adnyat) again corroborates his scholarship and patronage extended to scholars of different fields of literature

The Textual Data

The Avanikoormashtam in Maharashtri Prakrit is said to owe its theme to the Tortoise incarnation of Vishnu as brought out by the Koormapurana (Probably a composition of or about 1000 A D)

Now the point is why the 'shatam' for each of Avanikoormashatam Kodand (shatam), Khadgashatam and Adnyat Shatam is so named The Prakrit poets though dedicating their poems to Bhoja any at the end of each saying that it was the work of Bhoja himself, are conscious of the fact that their master Bhoja was indeed a literary giant Bhoja for his erudition and scholarship was invited to preside over the Wadsābha

It will be interesting to note that the first Avanikoormashatam substantiaes from the benedictory stanza to the concluding stanza, what Bhoja was as a worshipper of Shiva [4] and simultaneously had his tutelary deity Kalika of Dhara which had blessed him to flourish and shine both in peace and war They are achievement as a scholar of repute in different fields of literature appears to be genuine through authorship of each, of course could go to one who felt inspired to write out as one of authority on the subject. It will not be out of place to remind present day scholars what will Durrant wrote about the apparent scholarship of Aristotle The ring of young scholars round this great Greek scholar would naturally express their deep debt of gratitude to this philosopher.

Thus we come to the point whether Bhoja could afford to have leisure to write out so many works himself The answer is simple enough that Bhoja was indeed an all round scholar with a rare talent to think independently and convey his thoughts to the scholars of different subjects who vied with one another to seek his patronage

Avanikoormashatam by itself has been divided into two texts, A and B to record the difference in the attitude of the poets The first appears to be Bhojas own idea to tender his devotion to Shiva and Vishnu simultaneously as the latter in fact had brought relief to the gods in their final decisive struggle when the massive churning rod of the Mandarachal mountain along with the earth was going down the sea for which only Visnu could be evoked to incarnate and offer help as a saviour Yes, Vishnu favoured the gods by holding up the churning rod by assuming the form of a tortoise and held the rod on its back and the entire earth thereat Thus it was brought out of the sea where in had been drowned the entire wealth of the gods-nay the surface creation At[5] the end, the composer promises the compositions as songs of several Gathes that would describe, relate or celebrate the part of Bhoja as the ruler of earth, nay more of the Tortoise incarnation

The text B runs to give details of the part played by Bhoja himself to elevate the general order of things as Nature would primarily initiate Bhoja for his part, who not only had ruled the earth in extent as the different mountain chains indicated its surface, but also as a saviour, ruler and controller that the incarnation could not quite afford to do

The differentiation of high and low were equated by supplying the needed things that had hitherto created imbalance The most important point the composer has scored is that only for allegery end comparison The Koormapuran theme was chosen but that the contents were more of Shaivism than those of Vaishnavism Vishnu any way had to be invoked along with Bhojas Shiva as his god, who was adored by his Parmar family

The tie of Krishna (Vishnu) as the brother of Indra has been intelligently resolved by invo-

king him as Kanha and ultimately to indicate Bhojas ancestor Krishna and Upendra to be the one and the same, which have so far had baffled the researchers and epigraphists erelong

And yet the composers of the Gatha series have not failed to bring out the Kalika of Dhar to be the tutelary deity of the Parmar dynasty Thus Om Namashivaya, the invocation and the Kalika of Dhar appearing and reappearing in the stone inscriptions and copper plates. The Avanikoormashatam is the first important Gatha composed by Bhoja in part and the rest of these follows the long series as pointed out in the Kodandshatam and Adnyat shatam

Now it remains to be said whether each had its theme for narration that the court poet of fame might choose

1. Some scholars hold the first वररूचि to be the contemporary of Panini (500 B C) The second of course of the far later period.

2. राउर वेल – Edited and Published by Dr Mataprasad, Jaipur

3 प्राचीन लेखमाला भा०२ पृ० २२३ (Epi Indica 2/237–240)
दुभकुंड ग्रामस्थजिनमन्दिर शासनपत्रम् आस्थानाधिपतौ

4. Parmar Inscription p 8, 75, 79, भोजदेवकी साहित्य सेवा पृ०६, ताम्रपत्र वि० स० १२१४

5. एआइँ सवाइँ तए गाहाण नेअ रइ आई । A– ॥१०६॥

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्

—शाकुन्तलम्

सुन्दर शरीर पर सब कुछ अच्छा लगता है ।

कामार्त्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु

काम से आर्त्त पुरुष, जीव एव जड पदार्थ मे भेद नहीं करता ।
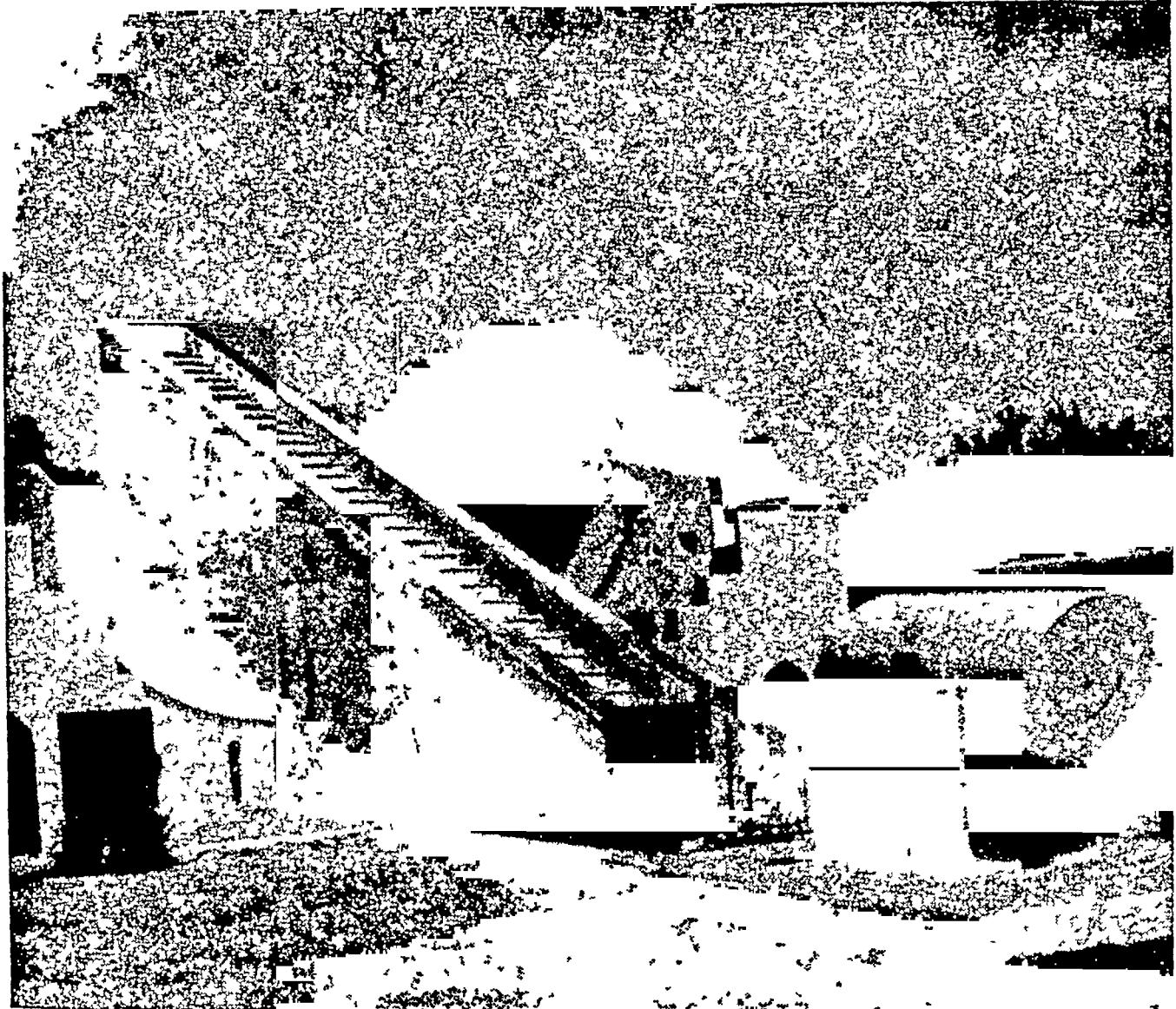
सम्राट-यत्र व नाडीवलय यत्र (वेधशाला, उज्जयिनी)
SAMRAT-YANTRA & NADIVALAYA YANTRA (Observatory, Ujjain)

PHOTO & COURTESY SHYAM AGRAWAL

वेध शाला, उज्जयिनी

सवत् १७७६ मे जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह ने, जो दिल्ली सम्राट मुहम्मदशाह के शासनकाल मे मालवा के राज्यपाल थे, अपनी राजधानी उज्जयिनी मे इस वेधशाला का निर्माण कराया था। वेधशाला मे चार यत्र थे। सम्राट्यत्र, नाडीवलय यत्र, दिगशयत्र तथा भित्तियत्र उन्ही के समय के हैं। पाँचवां शकुयत्र बाद मे जोडा गया।

जयसिह, कुशल शासक व राजनीतिज्ञ होने के साथ ही, अपनी विद्वता के लिये प्रसिद्ध है। उन्होने विभिन्न भाषाओ के ज्योतिष तथा गणित सबधी ग्रन्थो का अध्ययन किया और स्वय ने भी कुछ ग्रन्थ लिखे। दिल्ली सम्राट की आज्ञा से उन्होने भारत मे दिल्ली, मथुरा, काशी, जयपुर व उज्जयिनी मे वेधशालाओ का निर्माण करवाया। श्री जयसिंह स्वय आठ वर्षों तक उज्जयिनी की वेधशाला से सीधे सबधित रहे और प्रमुख उपकरणो का सशोधन करते रहे।

लगभग दो शताब्दी तक उपेक्षित रहने के बाद, सवत् १९८० मे इसका जीर्णोद्धार कराया गया। तब से यह वेधशाला शासकीय रख-रखाव मे है।

OBSERVATORY, UJJAIN

In Samvat 1776 Maharaj Sawai Jaisingh, Governor of Malwa under the Delhi emperor Mohammed Shah, erected the Observatory at Ujjain, his capital The four yantras the Samrat Yantra, the Nadivalaya Yantra, the Digamsha yantra, and the Bhitti Yantra are the original works by him The fifth-The Shanku Yantra-was added later on

Jaisingh, in addition to his being an able adminstrator and politician, was known for his Scholarship. He had daep study of Astrology and Mathametical works in various languages and is also credited with authorship of some works in this field By order of the Delhiemperor, he constructed observatories at Delhi Mathura, Kashi, Jaipur and Ujjaini Jaisingh was himself directly conncted for eight years with working of this observatoy and was responsible for improvement of the main instruments

After ramaining neglectd for about two centuries, in Samvat 1980 the observatory was renovated Since then it is maintened Government

Historicity of King Vikramaditya

— Shri B N LUNIYA

There has been strong assumption that King Vikramaditya is a myth. There are no positve data, epigraphical and numismatic, throwing light on his existence. This assumption has been challenged and there are sufficient ground to prove that Vikramaditya is an historical person He is one of the most celebrated and popular figures of India's past In fact few persons are so universally remembered and admired as Vikramaditya His defence of the freedom of Avanti pradesh aganist foreigner, his military, political and cultural achievements, his ideal administration and deep sense of justice and his liberal patronage to literature and art have made him immortal and enshrined his name in the popular memory The historicity of Vikramaditya in the first century B C is based on the following evidences —

Popular stories and legends about Vikramaditya –

Vikramaditya being one of the most renowned kings of India has inspired many popular stories and legends and had provided themes for them These stories deal with different aspects and achievmements of his life Vikramaditya as an ideal king, his deep proverbial justice, his unsparing service of the people, his conception of public welfare, his taking risks for relieving the miseries and afflictions of others, his adventure and romances and numerous scenes from his life and works are the rich stores from which the popular mind derives its inspiration and materials for stories and legends When these popular stories and legends about Vikramaditya are collected, classified and are shorn of fabulous assertions, they reveal the following facts[3]

(1) The father of Vikramaditya was Gandharvasena and he was a king of Ujjayini

(2) Vikramaditya was also a king of Ujjaylni He ruled there for a long time and canquered widly

(3) The mlechchas (foreigers)invaded the country and Vikramaditya defeated them and founded his era to commemorate his victories,

(4) Vikramaditya was an ideal king devoted to the public welfare

(5) The life of Vikramaditya was full of adventures and romances

(6) Vikramaditya was well-versed in Sastras and was a great liberal patron of letters and Arts Poets like Kalidas adorned his court.

(7) Vikramaditya had a son (?) namely Saravahana (Salivahan) who was prophesied by astrologers to surpass his father *in* power. intelligence and fame

A close scrutiny of the above facts provide the following three significant land marks in Vikram's history—

(a) Ujjain had been the ancestral capital of Vikramaditya

(b) There was a fromidable foreign invasion during his reign. He repelled it and founded his own era

(c) Vikramaditya was a senior cotemporary of Salivahana or Satavahana, who was an Andhra king of the Deccen.

The Vikram Era —

The Vikram Samvat is the most direct, persistent and living evidence of Vikramaditya Many other eras were founded and they were current–for examples Srshtyabda (creation era), Saptarshi (Era of the seven astral sages), Kali Samvat, Yudishthira Samvat, Buddha Era, Mahavir Era, Mauryan Era, Saka Era, Kanishka Era, Gupta Era, Chedi Era, etc But of all these eras, the Vikram Era had proved greatest vitality of survival and it is the most widely current era in India Though the Christian Era is introduced in India, the Vikram Era is mostly used in the religious and social functions and ceremonies of the Hindus The Vikram Era is universally associated with Vikramaditya in Hindu almanas and horoscopes [1] This fact proves that the Vikram Samvat which had outlived such a long time and had permeated the entire Hindu religion Social and cultural life could not have been started in a void or from a fiction

There are two objection raised aganist this evidence First, the name of Vikramaditya is not associated with the Vikram Era from its foundation time and during the early centuries Second, the astronomers in the early Christian eras used in their works Saka era instead of the Vikram era Many ancient inscriptions, discovered in Malwa and Rajasthan, reveal that earliest name of the Vikram era was Kruta, for example —

(1) The Nadasa sacrificial pillar inscription in the earst–while Udaipur state is dated in the Kruta era 282 [2]

(2) The Badwa sacrifical pillar inscriptions in the earst–while Kota state are dated in the Kruta era 295 [3]

(3) The Barnala Sacrificial inscription in the Jaipur state are dated in the Kruta era 284 and 335 [4]

(4) The Vijaygarh inscriptions in the Bharathpur state of Rajasthan are dated in the Kruta era 428 [5]

(5) The Mandsour inscription in Malwa is dated in the Kruta Era 461. [6]

(6) The Gangadhara inscription in Rajasthan is dated in Kruta era 480 [7]

(7) The Nagari inscription near Chittor is dated in the Kruta era 481 [8]

---

1. श्री मन्नृपति वीर विक्रमादित्य सवसत्सरे
2 कृतयोर्दयोर्वर्षशतयोद्व यशीतयो चैत्रपूर्ण मास्याम् Epigraphia Indica Vol XXVI P 118–25
3 कृते हि (कृते : २००+९५+५फाल्गुण शुल्क ५) Epigraphia Indica Vol, XXIII PP 43 ff
4 कृते हि ३००+३०+५ जरा (ज्येष्ठ), शुद्धस्य पचदशी
5. कृतेषु चतुर्षं, वर्ष शतेष्वष्टा विशेषु ४००+२० + ८ फाल्गुण - वहुलस्य पचदश्या मे तस्या पूर्वायाम
6 श्री मालव गणम्नाते प्रशस्ति कृत सज्ञिते
7 यातेषु चतुर्षु शतेषु... ---
8. कृतेपु चतुर्पु वर्प शतेपु-- ------- ।

Then from the fifth century to the tenth century the Kruta Era had been called the era of Malava republic or the Malava people, as revealed by the following examples—

(1) In the Mandsour inscription of 461 the era is called both Kruta and Malava [9]

(2) Kumragupta inscription of Mandsour is dated in the era of Malava republic [10]

(3) The Yasodharman inscription of Mandsour is dated in the Malava republic era 589 [11]

(4) The Kanaswa inscription of Sivagana in Kota in Rajasthan is dated in the Malava era 795 [12]

(5) The Gyaraspur inscription in the earst-while Gwalior state in Madhya Pradesh is dated in the Malava Kala (era) 936 [13]

It is to be noted that from the ninth century onward the Malava era was associated with the name of King Vikramaditya The following examples will reveal it —

(1) The Ahara inscription of Allata in the Udaipur state Rajasthan is dated in the Vikram Kala (era) 810 [14]

(2) The Dhaulpur inscription of Chanda-Mahasena is dated in the Vikram era 973 [15]

(3) The Bijapur inscription of Rastrakuta Vidagdharaja is dated in the Vikram era 973 [16]

(4) A Bodhagaya inscription is dated in the Vikrama samvatsara 1005 [17]

(5) The Ekalingaji inscription of Naravahan near Udaipur is dated in the Vikram era 1028 [18]

(6) The Vasantagadh inseiption of Purnapala in the earst-while Sirohi state Rajasthan is dated in Vikram era 1099 [19]

Scholars have proved that the Kruta era, the Malava era and the Vikram era are co-eval and identical all the three eras commence from 57 B C 20 This establishes the fact that the era founded by King Vikramaditya had been in vogue during the past twenty centuries In the early centuries it was called Kruta and Malava era, and the name Vikram was omitted This omission is explained below

This era was started in 57 B C. to commemorate the resounding victory of the Malava republic against the Sakas. Their expulsion freed the country from foreign yoke and comm-

---

9. श्री मालव गणम्नाते प्रशस्ते कृत सञ्ज्ञिते (Fleet Gupta Inscriptions No 33)
10. मालवाना गणस्यिरथा याते शत चतुष्टये (Fleet Gupta Inscriptions No 34)
11 मालव गणस्थि तिवशात्काल ज्ञानाय लिखितेपु
12. सवत्सरशतैर्याते.... ....मालवेशानाम् Indian Antiquary Vol, XIX P. 59
13 मालव कालाच्घरदा....... .... । Archeological Survey Report Vol X Plate II
14 दशदि ग्विक्रम काले वैशाखे शुद्धसप्तमी ग्दिवसे
15 वसुव वाष्टौ वर्णागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य Epigraphia Indica Vol XIX XXII Appendix
16 विक्रम काले गते... ... . ।
17 विक्रम सवत्सर १००५
18 विक्रमादित्यभूभृत अष्टा विंशति सयुक्ते शते दशगुण सति
19 नवनवतिरिहासिद विक्रमादित्य काले ।

enced an era of peace and prosperity in Malava. Figuratively it was called Kratayuga (Golden Age). Krata denotes a virtuous and happy age.

Though King Vikramaditya was instrumental in the foundation of this era, he did not and could not claim the sole credit for it. He was not an absolute monarch but leader of republic (gana-mukhya) As single individual he could not claim the success in war against the foreigners due to fear of dissensions. It was shared by the whole of the republic and hence the era was named after the Malava-gana of which Vikramaditya was the leader.[21] When the Sakas again occupied Avanti in the first and second centuries, disintegrating the power of the Malava republic, the happy and prosperous age (Kruta) of the Malava-gana disappeared. Hence the name Kruta was dropped and Malava was used, because it was to commemorate their victory over the foreigners Consequently the era of Malava-gana or the Malava people continued in vogue. During the age of the Gupta Emperors, Malava and Rajasthan formed a good part of their empire The people in Malwa continued to use the Malava era inspite of the Gupta supremacy over them Even the Gupta emperor Kumar Gupta recognised Malava era The era of the Malavas overlived Gupta imperilism

By the ninth century absolute monarchy was firmly established and the conceptions of republican state disapperard Consequently the glories of Malava-gana were merged into those of Vikramaditya His luminous personality signified the achievements of Malava republic His memory was still enshrined in the popular mind and hence the era was called after him—Vikram Samvat

Literary traditions about Vikramaditya:—

Memories and history of King Vikramaditya are preserved in the literary traditions of the Hindus

1. **Gatha saptasati**—

The earliest literary tradition so far[22] known is found in the Gatha-saptasati, a Prakrata anthology of verses, compiled by Hala Satavahana, the Andhra king of Pratishthana in the Deccen Hala Satavahan ruled in the closing years of the first century A D This proves that in the later half of the first century a tradition was current that there had flourished King Vikramaditya, famous for his conquests and liberalities.

2 **The Brihatkatha**—

Another early literary work which throws light on the existence of Vikramaditya is the Brihatkatha, written by Gunadhya in Paisachi Prakrit Gunadhya was a contemporary of Hal Satavahan and adorned his court Brihatkatha dealt with the life of Vikramaditya

3 **The Brihatkatha-Manjari** —

This work was composed by Kshemendra in the eleventh century and he based it on Gunadhya's Brihatkatha. The Brihatkatha Manjari contains the story of Vikramaditya of Ujjayini According to it Vikramaditya

---

20. Nagari Pracharini Patrika, Vikramaditya, Samvat 2000, Sayhadri Oct. 1943 (A S Altekar)

21 Dr. R B Pande The Age of Vikramaditya P. 5

22 मवाहणा सुहर मतोसियेण देन्तेण तुहकरे लक्खम् ।
चललेण विक्कमाइत चरित्र अणु मिक्खिअ तिस्सा ॥ Gathasaptasati Ver. 64

had defeated the foreign Invaders and expelled them from the country It refers to Malyavantgana, which indicates Malava republic

4 **The Katha Saritsagara—**

This work was composed by Somadeva Bhatta in the eleventh century He based it on Brihatkatha of Gunadhya and mentioned so in the introduction of his book Vikramaditya's story is told in Kathasaritsagara in a poetic style in many sections of the book [23] It reveals that on the eva of Vikramaditya's birth the country was invaded by foreign barbarians When Vikramaditya became king, he freed the country from barabarians, made wide conquests and established his paramountacy He was famous for his prowess and noble qualities and was a great erudite and patron of art and letters Somdeva in his book Kathasaritsagara mentions separatley the glorious accounts of Vikramaditya of Ujjayini and the story of Vikramaditya of Pataliputra There was no confusion in his mind regarding the independent existence of two Vikramaditya, one of Ujjayini and the other of Pataliputra This fact shatters the theory that attempts to identify Chandragupta 11 Vikramaditya with Vikramaditya of Ujjayini.

5 **Simhasana-dvatrimsaka, Vetalapancha vimsati and Suka-saptasati —**

A few other literary works like Simhasana-dvatrimasaka, Vetalapanchdvimasati and Suka-Saptasati which deal exhaustively with the adventures and romances of King Vikramaditya. These are popular works and the accounts of Vikramaditya in these works have become legendary, but all of them unanimously assert the existence of Vikramaditya of Ujjayini and his great and glorious achievemnts

Evidence of the Puranas about Vikramaditya—

One of the salient features of the Puranas is Vamsanucharita (Royal dynastic history) and as such Puranas throw light on the history of Vikramaditya While giving an account of the Ahdhras, the Puranas [24] state that "taking their own offshoots there will be six contemporary dynasties of the Andhras" [25], which will be listed as follows—

(1) The Andhra—Bhrtyas

(2) The ten Abhiras

(3) The seven (ten) Gardabhilas (Gardabhins)

(4) The ten Sakas

(5) The eight Yavanas

(6) The fourteen Tukharas (Turushka), thirteen Murundas (Gurundas), and eighteen (eleven) Maunas [26]

According to Jain tradition Vikramaditya belonged to the family of Gardabhilas When the Puranas refer to the Gardabhila dynasty, they are not oblivious of the existence of Vikramaditya Then, Bhavishya Purana [27] mentions the story of Vikramaditya twice It clearly states that Vikramaditya was born to destroy the

[23]—Sections VI, I, VII, 4, XII.

[24]—Vayu Purana XXXVII, 352–358, The Brahmanda Purana XXIV, 171–178

[25]—अ घ्राणा मस्थित. पच तेपा वश्याश्च ये पुन — Brahmand Purana

[26]—Bhagwat Skanda XII, Adhyay 1st verse 29.

[27]—भुक्त्वा भृतृं हरिस्तत्र योगा रूढो वन गत । विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकाटकाम् II 23

Sakas and to establish the Aryan religion He ruled for a long time, made world conquests and performed Asvamedha sacrifice. In the Kumarika-Khanda of the Skand-Purana it is stated that Vikramaditya flourished three thousand years after the beginning of the Kali age. This indicates that the tradition of Vikramaditya was known to the editors of the Puranas

Evidence of the Jain Literary Traditions—

Vikramaditya figures in the historical and biographical literature of the Jains, as the Jains were closely associated with Avanti and its neighbouring areas for a very long time. The following Jain works throw light on Vikramaditya—

1. Evidence of the Pattavalis[28]—

The Pattavalis are historical works in Prakrata, recording the succession of important persons. e g saints, rulers, etc., since the Nirvana of Mahavira upto the middle ages They reveal the chronological position of Vikramaditya in a series of important dynasties and rulers It gives an account the reign of Vikramaditya and history of Avanti

2. Evidence of the Jain Harivamsa—

This work was composed in 783-84 A. D and narrates the history of Avanti[29] The Jain Harivamsa, in its chronological list, does not refer to Vikramaditya by name, but it mentions the Rasabha (Garadabhila) family or tribe to which Vikramaditya belonged

3. Evidence of the Prabhavaka-charita—

This Jain work was written by Prabhachandra Suri in the fourteenth century of the Vikram era. It contains the biographies of eminent Swetambar Jain saints, scholars, their patrons and kings, who flourished during the period of the first century to the fourteenth century of the Vikram era Some of the important rulers described in this work are Vikramaditya, Harshavardhan, Bhojadeva, Sidharaja, Kumarpala, etc This work contains the biography of one of the most famous Jain saints, Kalakasuri The saka invasion of India, the reconquest of Ujjayani by Vikramaditya and the foundation of his era are described in this work[30]. From the biography of Jain saint Kalakacharya given in the Parabhavak charita, the following conclusions are drawn-

(1) On the eve of the first saka invasion of India Jainism was expending towards Avanti.

(2) There were differences between the Saivarulers of Ujjayini and the Jain missionaries, which developed into an open conflict.

(3) The insulted and injured Jain saint sought the help from the Sakas who were marching against the ruler of Avanti

(4) The Sakas in their invasion had conquered Ujjayani

(5) The son and successor of the then Shivarulers. Vikramaditya, had driven the Sakas freed the country from the foreign Yoke and founded his new era.

The KalakacharyaKatha in the Prabhavakacharite confirms the chronology of the Pattava-

28—Shri Pattavli-samuchchaya, Part I. PP 17, 46, 150, 166, 199, 200 edited by Muni Darsanavijaya

29—LX 487-490

30 R B Pande · Vikramaditya of Ujjayani Page 28

lis and the Jain Harivamsa, besides providing other historical material.

Famous historians like Rapson,[31] Franklin Egerton[32] and well-known archaeologist Sten Konow[33] regard the episode of Kalakacharya historical

In addition to Prahhavaka-charita, there are many other Jain works of biographical nature which give an account of the life and achievements of King Vikramaditya Some of them are as follows—

(1) The Prabandha-Kosa of Rajasekhare Suri.

(2) The Prabandha-Chintamani of Merutunga Suri.

(3) The Puratana-Prabandha Samgraha

(4) The Vikram-Charita of Indra Suri

(5) The Vikram-panch-danda-prabandha of Purnachandra Suri

(6) The Vikram charitra of Devamurti

(7) The Simha-sana-dvatrimsika of Kshemamkara

Archaelogical evidence—

Archaeological researches also throw some light on the existence of Vikramaditya The archaeological evidences corroborate the literary traditions of Vikramaditya

1. Epigraphical evidence—

At Mandsour in Malwa, two epigraphas dated 493[34] and 589[35] Malava era refer to and era current in the Malava republic The significant phrase Malava-ganasthitia (मालवगणस्थित्या) in these epigraphas means "According to the era current in the Malava republic" Fleet accepted the view that the Malava era used in the afore-said inscriptions was co-eval with the Vikrama era and was also identical with it Both the eras are identical Some recent discoveries have explained that the Malava era was called the Krita era in its early centuries (The Nandsa sacrificial pillar inscriptions) According to Dr A S Altekar the Krata era, the Malava and the Vikrama eras are identical According to astronomical and literary traditions Vikramaditya founded an era in 57 B C Dr R.B Pande associates Vikramaditya with the Malava republic According to Jain traditions he belonged to the Gardabhila family. Dr R B. Pande opines that the Gardabhillas were one of the sections of the Malavas. The Malvas were divided into sections and groups is proved by the Nandsa inscriptions, according to which the Malava section which was responsible for the sacrifices was called Sogi Thus, the Gardabhillas, Sogi, etc, were the various groups among the Malavas. Therefore, Gardabhilla, the family name of Vikramaditya, is no bar against his identification

31. Cambridge History of India Vol 1 Page 532-33
32 Vikram's Adventure, H O S Introduction Page LXIV, and LXVI
33 Sten Know · corpus Inscriptionum Indicarum Vol II Part I Historical Introduction P XXVII
34. मालवानां गणस्थित्या यति शुत चतुष्टये ।
निनवधिकेऽह्नन्दाना ऋतौ सेव्यवनस्तमे । (Fleet gupta Inscriptions No. 18)
35. मालव गण स्थिति वशात काल ज्ञानाय लिखितेषु । I
36 Dr. A. S Altekar . Epigraphia Indica Vol. XXVI

with a Malva-gana-mukhya (a leader of the Malava republic)

A literary work called Vicharasreni by Merutungacharya has associated Vikramaditya with the Malava republic While describing the political history of Visala or Ujjayini, it informs us that, "After the lapse of 470 years from the Nirvana of Mahavira (in 527 B C) having uprooted the family of the Sakas there will be a Malva raja, namely Vikramaditya"[37] Here the word "Malava" is used in the sense of the Malava republic and not in the sense of a locality like Visala or Ujjayini.

2 **Numismatic evidence—**

Numismatics, not only throws light on the existence of the Malava republic in the neighbourhood of Avanti-Akara, but it also helps in fixing the chronology of the first Malava-Saka war. Carlleyle had discovered himself and secured from others a large number of very old small coins at Nagar town in Umiyar Jagir in Rajasthan The earliest of these coins bore legends in ancient Brahmi characters, reading "Malavanam Jayah", "Malava-ganasya jayah" and "Jayah Malavanam" The clear meaning of these legends is "The victory of the Malavas or the victory of the Malava republic". Sir Alexander Cunnigham has supported this view[38] The legends on the coins evidently point out that the first issue of the coins was promulgated to commemorate the significant victory of the Malava over their powerful, and dangerous enemies and its memory in the form of coins was perpetuated for many centuries to come Taking into consideration the localities where the coins and inscriptions are found it becoms a certainity that the same event of victory was celebrated by the foundation of an era and by promulgating the victory type of coins[39]

Epigraphical and numismatic evidences about the Malava people are confirmed by other sources Mahabharat gives references to Malavas They are referred with the Trigratas, Sivis, Ambasthas, and Madras[40] The famous Sanskrit grammarian Panini also refers to the Malava people (Malava-Kshudrakas) The Malavas together with the Kshudrakas are also mentioned in the accounts of the Greek writers who wrote on the Indian campaign of Alexander the great The Malavas migrated from the Punjab to Malava through Rajasthan. Their migratory route was through the south-eastern Punjab and north-eastern Rajasthan to Madhya Bharat (Central India)

Saka Invasion of India & their Migration—

In the eighth century B C. in Central Asia, the Sakas were on move and in course of their stormy movement they swept away the Greek power in Bactria and moved on south-ward towards India The Saka invasion of India in the first century B C., their entry into India through the Bolan pass and their further advance through Sindh has been accepted by historians The Saka power in Sindha was so strong and their influence was so marked there that the

37 काल तरेण केणवि उप्पाडिता सगाणत वस ।
हो ही मालवराया नामेण विक्कमाइणो ॥ Quoted in the Pattavali samuchchaya Part I, Appedix E P 198

38 Archaeological Survey of India Rcport Vol VI PP 160-182, 183

39 Dr R B Pandey Vikramaditya of Ujjain. Page 41

40 Mahabharat, Dronaprva Page 10-17, Sabharva 32-37

province of Sindh came to be known as Sakadvipa or the land of the Sakas [41]

Jain literature also gives the same account of the migratory movements of the Sakas and their invasion of India as narrated above According to the Prabhavata-charita, the Jain saint Kalkacharya, insulted-by Gardabhilla of Avanti went to the banks of the Sindhu river, which were ruled over by ninety six Saka chiefs To reap a revenge on Gardabhilla Kalkacharya advised them to invade Avanti and establish themselves there.

Under this advice the Sakas crossed the Indus river and invaded India in 72 B C An indentical account is also given in the Nisithasutra It is also mentioned in the Jain traditions that the first Saka invaders of India were driven out by Vikramaditya, a son of Gardabhilla.

Conclusion—

Epigraphical and numismatic evidences, coordinated with the literary traditions of the Hindus and Jains, enable us to draw the following conclusion about the existence of Vikramaditya.

(1) Vikramaditya belonged to the Gardabhilla branch of the Malava people who migrated from the Punjab to Avanti

(2) He was head of the Malava republic (Malava-gana-Mukhya) and ruled at Ujjayini in the first century B C

(3) The Sakas invaded India and they attacked Avanti But Vikramaditya had defeated and driven them, in 57 B.C and recovered Ujjaiyni from them

(4) To celebrate this significant victory an era was founded by Vikramaditya During its early centuries it was called Kruta and Malava Samvat and later on it came to be known as Vikram Samvat

(5) "Victory" type of coins were also issued to commemorate the Malava success against the Sakas.

(6) Vikramaditya was an ideal, charitable and popular ruler in the first century B C He was famous for his liberal patronage of art and literature.

41 Journal of the Royal Asiatic Socity, 1913, Page 635

तमस्तपति धर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति

सूर्य के प्रकाशवान रहते अन्धकार कैसे फैल सकता है ।

हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यप

हंस दूध दूध निकाल लेता है और उसमें मिले हुए पानी को छोड़ देता है ।

Ancient Ujjain

Dr. A L Basham

This little article, written at very short notice is but an inadequate recognition of the importance of the city of Ujjain in the early history of India and of the kindness and hospitality which I have received there.

Now a comparatively small town, Ujjain was once the cultural capital of India and its inhabitants even today seem to have a taste for art, literature, music and learning second to those of no other Indian city of comparable size. When Ujjain first appeared on the scene of history, at the time of the Buddha, it is the capital of the king of Avanti, Chandapajjota or Pradyota. The city was probably something of an outpost of Aryan culture, for there is no very good evidence that Brahmanical ideas had penetrated far beyond the Narmada river at this time

Ujjaln was no doubt a centre from which the more advanced culture of the northerners was transmitted to the Deccan, via the riverine port of Mahismati, which was on the frontier of the kingdom of Avanti

It is characterictic of Ujjain that legends and stories should arise in its neighbourhood, and the tales of the love of Chandapajjota's daughter Vasababatta for Udayana, King of Vatsa (the area around the city of Kosambi), are recorded in several ancient sources and according to Kalidasa were very popular among the peasantry of Avanti in his own day, though now they seem only to be remembered by the learned.

Chandapajjota is said to have been a stern warlike monarch, who was feared even by the king of distant Magadha (S. Bihar), but under his successors his kingdom grew weaker, and in the 4th century B C. it was annexed by Magadha

Sometime before the annexation of Ujjain we have record, admittedly very uncertain historically, of one of the few examples in ancient India of popular revolt against an oppressive king This shadowy event is reflected in Sudraka's drama *Mracchakatika*, the plot of which hinges on the overthrow of the wicked tyrant Palaka by the righteous Aryaka, with the support of many of the towns people of Ujjain One cannot say how far this story represents historical fact, but at last it shows that in ancient days the citizens of Ujjain had an India-wide reputation for resisting oppression

Under the Mauryas Ujjain became the capital of the western province of the Empire, and it is recorded in the Ceylonese Buddhist tradition as being governed in the reign of Bindusara by the prince Asoka. It was here that Asoka's son

Mahindra, the apostle of Ceylon, was born the child of an unofficial marriage with a local merchant's daughter Probably it was from this time that the region first strongly felt the influence of Buddhism, thanks to Asoka's patronage, but it was in the eastern part of the province, in the great monastery of Vidisagiri, now known as Sanchi, that Buddhism took its deepest root From this monastery Mahindra went out to convert Ceylon, and there is a very credible theory that it was here that the Pali canon in approximately the from in which it was taken to Ceylon, was first condified

With the decline and fall of the Mauryas the history of Ujjain becomes very obscure But there is no doubt that it continued to flourish, for its rulers issued coins bearing the name of the city, which have survived in considerable quantity from over 2000 years ago The geographers af the classical world of the west got accurate information about the city, which, according to the *Periplus of the Erythraean Sea*, was a great trading centre, an entrepot where goods were brought from all over northern India to be taken by caravan to the port of Barygaza (Bharukaccha, Broach) for shipment to the west It was known to the Greeks as Ozene

By the 2nd century A D , Ujjain was once more the capital of a great kingdom, but of a kingdom ruled by foreign kings The line of Sakas known as 'Western Satraps' controlled Gujarat, Malwa, and a varying amount of Rajasthan for at least 250 years from the first known ruler Castana, who is reported by the Greek geographer Ptolemy as ruling from Ujjain. These Sakas, though of foreign origin, appear to have soon become thoroughly Indianized, and probably their subjects did not resent the fact that they had come from afar, an offshoot of the many nomadic hordes which, throughout the first five hundred years of the Christian Era, from time to time burst forth from their ancestral steppes to found new kingdoms in more fertile and civilzied lands

These Sakas were great patrons of Sanskrit literature, for in the Girnar inscription of the great Satrap Rudradaman we have the earliest known epigrapo of any length in correct classical Sanskrit The text of this document depicts Rudradaman as lord of a great empire, caring for the welfare of his subjects and loved by them, and, though we must allow for conventional panegyric and water down its statements to some extent, it is hardly likely that there is no basis of truth in its words Rudradaman wished posterity to remember him as a ruler who cared for his subjects, and was willing to reject the advice of his ministers and draw on his own private fortune for the sake of their welfare

The most obvious bequest of these rulers to modern India is the Saka era, which has been adopted by the Indian government as the national system of recording the years, alongside the Christian Era current internationally Whether or not this era is based on the reign of the Kusana emperor Kaniska, there is no doubt that it was on account of the Sakas, who used it regularly throughout the period of their rule, that it became widely known, so that it ultimately spread over much of India and South East Asia

We have little knowledge of the later history of the Sakas of Ujjain, but it is certain that they were difficult to conquer, for they remained independent during the reign of the great Gupta emperor Samudra Gupta (c A D 335–376), who would no doubt have conquered them had he been strong enough It was left to his son Chandra Gupta II (c 376–414) to extend the power of the Guptas to the western sea by conquering Ujjain and driving his armies through to Gujarat and Saurashtra

Tradition has it that the second important era by which Indians reckon time, now known as the Vikrama Era, based on the year 58 B C, was established to commemorate the conquest of Ujjain by a mighty emperor Vikramditya, who expelled the Sakas from the city and made it his capital We know that Chandra Gupta II had the title Vikramaditya and that he conquered Ujjain from the Sakas The only difficulty in harmonizing the tradition with our historical knowledge is that the tradition makes the events take place about 450 years earlier than the evidence of history indicates But tradition is well known to be unreliable in matters of chronology, and there can be little doubt that the legends of Vikramaditya have arisen from the exploits of Chandra Gupta II

With Vikramaditya legend associates the 'Nine Jewels', most famous among whom was Kalidasa, India's greatest dramatist and poet The internal evidence of his writings strongly suggests that Kalidasa wrote about this time, and there is no good reason to disbelieve the tradition that he was the court poet of Chandra Gupta II Vikramaditya From various verses of Kalidasa, and especilaly from the *Meghaduta*, we can be sure that the poet was very familiar with the region of Malwa and the city of Ujjain, and that he deeply loved them both Perhaps he was born in Ujjain, or at least he lived many years there, for he seems to know it and the surrounding region very intimately, and his love for the city is evident in the wonderful verses of the *Meghaduta* where in he describes its splendid and beautiful women No doubt the Gupta occupation did no serious damage to the city or its inhabitants, and it soon became even more prosperous and lively, as one of the capitals of the Gupta Empire

The 'Nine Jewels' included not only poets but also learned men such as the astronomer Varahamihira and the lexicographer Amarasimha The special association of Ujjain with astronomy is clear from the fact that this city was to ancient India what Greenwich later became to the world generally – the point from which astronomers calculated longitude

Thoughout the middle ages the fame of Ujjain spread with the stories of Vikramaditya, which were told all over India, as indeed they still are At *Melas* throughout the country one may buy badly printed paper–back booklets, read chiefly by half–literates and children These do far more to preserve the essential culture of India than do the popular novels with glossy well-designed covers which may be bought on railway station bookstalls. Among them, in all the languages of India, appear the tales of 'Raja Bikram' of Ujjain Thus the city and the greatest of its rulers have penetrated the folk-memory, and for many generations to come Indian mothers will tell their children these stories, and the name of the city will never be forgotten

By Gupta times Ujjain had become a great centre of Hindu pilgrimage, for even in Kalidasa's day its temple of Mahakala was famous, and was made more famous by the poet's praise of it in the *Meghaduta*, the text of which seems to have circulated very rapidly, so that within a few decades it was widely known among the educated public When Hsuan Tsang visited Ujjain in the 7th century he remarked on the decline of Buddhism in and around the city, whose once flourishing monasteries were mostly deserted and in ruins Its king, a subordinate of Harsavardhana, was of brahman origin, and he did not respect the doctrines of the Buddha, but was a believing Hindu, well versed in the scriptures of his faith.

Ujjain was probably for a time the capital of the Gujara-Pratihara kings, before they established their headquarters at Kanauj early in the 9 th century But from this time onwards the

rulers of Malwa preferred for various reasons to establish their capitals further to the south the Paramaras at Dhara and the Muslim sultans at Mandu. Since then Ujjain has retained its importance chiefly as a religious centre, to which pilgrims come from far and wide to visit one of the most holy Saivite shrines of India.

It is probable that this ancient city will never again become the capital of an important kig-dom, or even of a state of the Indian republic. But it is already a significant centre for the spread of culture and learning, thanks to its young but vigorous University and to the high intellectual standards of many of its inhabitants Once its name was known from Rome to China May its fame spread once more far beyond the bounds of India, until it is known everywhere as one of the greatest centres of learning in the whole world !

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवः परिगतशक्तिरात्मभूः

भावार्थ –

राजा सदा अपनी प्रजा की भलाई मे लगे रहे, बडे-बडे विद्वान कवियो की वाणी का सब कही आदर हो और अपने से उत्पन्न होने वाले तथा चारों ओर अपनी शक्ति फैलाने वाले महादेव जी ऐसी कृपा करें कि मुझे अब फिर जन्म न लेना पडे ।

–अभिज्ञान शाकुन्तलम्

Ujjayini In Foreign Literature

Dr B S UPADHYAYA

Ujjayini, 'the Victorious' Known in the Sanskrit classics variously as Avanti, Visala, Padmavati, Bhogavati and Hiranyavati, (as 'Ujjani' in the Pali literature and' Ujjaini' in the epigraphical records) was the most out standing entrepot in the ancient world It was called 'Ozene' by the classical writers of the West, Wu-she-yen-na (Ujayana) by the Chinese pilgrims of the Far East and 'Uzain' by the early Arab geographers of the Middle East.

The following is a brief survey of this remarkable town gleaned from the records of foreign visitors It is bound to be inexhaustive as matter relating to this 'eternal city'of the East lies scat tered over the writings of the Greeks, Romans, Egyptians, Chinese Arabs and other travellers down to Ibn Batua and Marcopolo The present attempt is therefore confined to the classical, Chinese and Arabic ecords.

All trade routes from the West and the East Converged on Ujjayini (Ujjain) and the caravans starting from Aleppo and Antioch, and rambling round the Caspian and across the wastes and along the riperian basins unbuckled at Ujjain These caravan routes, have been described by both Pliny and Strabo[1] Caravans, got up in the towns on the mediterranean, either crossed the Aegian over to Asia Minor or winding their way via Thessaly touched on the ports of the Black Sea. From there they reached the'Kur and Phasis and the coast of the Caspian where the caravans and convoys from the Syrian towns Joined them On they moved to the Aral sea[2] and then on and on to Balkh (Vahlika, Bakhtri, Bactria) where all the principal highways from Central Asia and China met and parted From Balkh they moved up the Oxus and across to the Hindukush and beyond the streams of the Punjab and the Madhyadesaha to Kausambi, Vidisa and finally to Ujjayini

This land route from Ujjayini passing through the Khyber reached Herat and the caravans treking along the northen border of the Karmanain desert and the Caspian gates to Antioch travelled by way of Ctesiphon and Hecatompylos Two other routes find mention in the ancient records of the west[3] via Kandahar joining the route to the west at Herat the other passing through the great ancient capitals of Fars, Persepolis and Susa Ujjain was ever the final target of the caravans Quite a few families working as guides to caravans had settled around Ujjayini and they operated

1 (MeCrindle's Ancient India, pp 96, 99, 100, 110)
2 (w w Tarn, Hellenistic civilization pp 210&211)
3 (McCrandle pp 204–205)

along the routes to the north and the west in Malwa Thera Isatta (Risidatta), as disclosed in the Gathas, is known from their early record to have been born at the village of Velugama (Venugrama) in Avanti in the family of a guide to caravans of which there were many in the kingdom.

Besides this overland route a sea-borne one brought great masses of merchandise in a multitudes of vessels sailing on the high seas and docking in the busy harbours of Bharukachha (Bhrigukaccha, Broach) and Surparaka (Sopara) on the western coast of India from where they were conveyed by land to Ujjayini's emporia. From the famous ports of Tyre and Sidon and from Egypt goods were carried by land to the head of the Red Sea, near suez and from there sea going vessels transferred them sailing close to the coast and making a long voyage along the shores of Persia, Baluchistan and India. The goods always changing hands as one set of vessels emptied its marketable contents into those of an other

One of the earliest references to Ujjayini was made by an anonymous Greek navigator of the first century of the Christian era This merchant seems to have made frequent visits to the western coast of India and has left a book of flourishing trade entitled the *Periplus of the Erythraen Sea* (edited and translated into English by Schoff) The author, who preferred to remain un-named, was an Egyptian Greek, who took extensive notes of the harbours he touched and voyaged through but who also left a detailed inventory of the goods of merchandise, he moved to and fro in course of his carrying trade The first harbour communicating with Ujjayini was Barygaza, a Greek corruption of ancient Bhrigukaccha, modern Bhroach at the mouth of the Narmada Merchandise from Ujjayini and other distant places as far as Kashmir and the Hindukush were brought here via Ujjayini for export to the western world From the remarkable document, the *Perpuls*, we learn that from Ozene was brought down to Barygaza every commodity for local consumption He says ' In the same region eastward is a city called Ozene," formerly the capital where the king resided From it there is brought down to Barygaza every commodity for the supply of the country and for export to our own markets— onyx - stones, porcelain, fine muslins, mallow- coloured muslins, and no small quantity of ordinary cottons At the same time there is brought down to it from the upper country by way of Proclais, far transmission to the coast Kattybourine, Patropapigic and Cablitic spikenard and another kind which reaches it by way of the adjacent province of Scythia; also costus and bdellium (*Periplus 48*)

"The imports of Barygaza are · wine principally Italian Laodician wine and Arabian, brass or copper and tin and lead, coral and Gold stone or yellow stone, cloth, plain and mixed, of all sorts; variegated sashes half a yard wide storax, sweet clover, meliot, white glass gum sandarach (Stibium) Tincture for eyes, gold and silver specie, yielding a profit when exehanged for native money, perfumes or unquents, neither costly nor in great quantity In those times, moreover, there were imported, as presents to the king, costly silver vases, instruments of music, handsome young women for concubinage, superior wine apparel, plain but costly, and the choicest unguents The exports from this part of the country are—Spikenard, cosfus, bdellium, ivory, onyx-stones and procelain, box-thorn, Cottons, of all sorts, silk, mallow coloured cottons, silk thread, long pepper and other articles supplied from the neighbouring ports The proper season to set sail for Barygaza from Egypt is the month of July or Epiphi "[1]

1 *[Periplus, 49]*

An alternative version of 'instruments of music, handsome young women for concubinage in[1] 'singing boys, beautiful maidens for the harems' This needs elaboration The expression 'women for concubinage' or 'beautiful maidens for the harems' refers to the common custom of buying Greek women or slaves for services in the royal harems, Kautilya in his *Arthasastra* advises his king to be received by Greek women (Yavanis) on waking up in the morning for it was considered auspicious for the king to be greeted by them and to cast his looks at them as the first object on leaving the bed. Megasthenes too in his *Indika* refers to (Greek) women surrounding the king going ahunting and assisting him with weapons In the Sanskrit plays of Kalidasa and other classical playwrights Greek women are made particularly responsible for keeping the King's arms. The *Periplus* makes them a coveted object of purchase in India. The singing boys' were also objects of attraction and found a ready market In India of the first century A D Could it be that they served the same purpose in India as they did in classical Greece of Socrates and other philosophers of the age ? They probably were secured from the same regions from where the boys were recruited later in the 15th-16th centuries to assuage the carnal appetite of the Turkish Sultans As to the export of the precious stones to foreign lands it is interesting to note that Rudradaman in his inscription of A D. 150 speaks of the joint region of 'Akaravanti' of which Akara is a town not far from Ujjain and which is known to Ptolemy. Akara may well have represented a region where precious stones were mined. Perhaps the place abounded In quarries of stones like onyx.

The precious work places Ujjayini 'About 77° E. and 23° N°, from which the first meridian of longitude was counted in Indian astronomy

The next Greek visiter who makes a mention of Ujjayini (Ozene) is Calaudius Ptolemaeus, more popularly known through his short name of Ptolemy was an Egyptian Greek, who is better known as an astronomer and a geographer although he had made a mark also as a mathematician and a musician He wrote his treatise on *Geography* some time about the middle of the second century A. D but the contents of his compilation were based on the geographical material left by Marinos of Tyre about A D. 120.

Ptolemy mentions Ozene (Ujjayini) in the context of Baithana (Pratishthana) He speaks of Baithana as the capital of Siriptolemaios (Sri Pulumavi, son of Gautamiputra Satakarni) and Ozene as that of Tiastenes (Cashtana), the famous Saka ruler of Ujjayini But Ptolemy makes a mistake with regard to the location of this capital city of Cashtana He places it to the south of Narmada, and two degrees south of the bend of the river near siripalla But Ujjain lies to the north of the Narmada, and the river has no noticeable bend in this quarter The geographer seems to confound the river Narmada with Sipra on which the ancient town in reality stands.

Ujjayini even otherwise imbibed classical influences The Greek astronomy was cultivated and propagated here by the Saka rulers TheGreek stage, with its curtain, *Yavanika*, perhaps influenced the composition of the famous hilarious comedy of Sudraka, the *Toy-Cart* (Mrachakatika), which lays its scenes in the city of Ujjayini The *Caturbhani*, a collection of four one-act and one-actor plays, speaks of Greek courtesans (Javani ganikas) plying their trade in one of the quarters of the city The Pali prose commentary on *Dhammapade* (C A D 420)

1 (in *periplas*, 49,)

reminds one of the Trojan horse which in the Indian context is replaced by an elephant. Instead of a horse it is an elephant which conceals the soldiers of the inimical Canda Pradyota, king of Ujjayini, who captured Udayana, king of Kosambi The theme has been made the subject of the *Pratijnayaugandharayana* and of the story in the *Kathasaritsagara* of Somadeva The kidnapped king, like the Spartan queen in Troy, was held in Ujjayini

Among the Chinese writers, who have written about Ujayana (Ujjayini, Ujjain, original Wu-she-Yen-na), the most prominent is the pilgrim Huen Tsang (A. D 629-645). His *Travels In India* translated by Watters, is entitled *Hsi-Yu-shi* in the original Chinese.

The narrative in the *Records* relates that the pilgrim proceeded south-east from Guchala, and after a Journey of above 2800 li arrived at the Wu-she-yen-na country This country was above 6000 li, and its capital 30 li, in circuit, in its products and in the ways of the people it resembled Surath (Saurashtra), it had a rich and flourishing population. There were some tens of Buddhist monasteries, of which the majority were in ruins, and only three or four were in a state of preservation, the brethren, who were students of both 'Vehicles', were above 300 in number; there were some tens af Deva-temples, and the non-Buddhists lived pell-mell The king was of the Brahmin caste, he was well learned in the heterodox lore, but was not a Buddhist. Not far from the capital was a tope at the place where Asoka had made a Hell (that is,a jail like a hell).

From 'Ujayana' the pilgrim went to Chih-chi-to and from there to Mahesvarapura or Maheshvar, the ancient Mahishmati, the capital of the Haihayas and Kartaviryarjuna, Huen Tsang's Mohi-ssu-fa-lo-pu-lo In its products and the ways of the people it resembled 'Ujayana'

Among other foreigners who wrote about Ujjain the more discerning were the Arabs Early Arab geographers derived from India the notion of a world-centre, which they called *Arin*, a corrupt form of Ujjayini, famous for its astronomical observatory[1]

Ujjain continued to be the most important entrepot where converged the trade routes from different directions. Arab writers visited India indepaendently or in the train of Muslim conquerors and wrote their accounts which referred to Ujjayini. They generally called the city Uzain The most significant of the Arab writers, who have mentioned the city of Ujjain, are being cited below.

Among a score of them three stand out Of these the earliest was Ahmad Ibn Yahya Ibn Jabir Al Biladuri who died in A D 892-893 In the middle of the ninth century he was at the court of khalif Al Mutawakkal where he had been appointed instructor to one of the princes Al Beruni was at the court of Mahmood of Ghazni and visited India several times and wrote mostly late in the first quarter of the eleventh century. His account of India was completed on December 29,1031. He was a resident of Khiva, one of the ministers of the king of Khwarizm, and was transported as a prisoner to Ghazni when Mahmood conquered the city of his birth Abu Rehan Muhammad Ibn Ahmad Al Beruni (A. D. 973-1048) was a great scholar of Sanskrit, Mathematics and astronomy and his account of India built up the base on which Gardeji (1049-52) and Ukalla (1089-99) wrote. But most of what he wrote was absorbed by Rashiduddin in A D. 1310 in his *Jamiu-t Tawarikh*

It is evident from the writing of Arabs that soon after their occupation of Sindh in A D

1 (Hitti, P K , *History of the Arabs*, p 299).

712 they swept over the whole of Rajsthan and Gujarat, and advanced as far as Ujjayini. The Gurjara kingdom of Mandor near Jodhpur was overrun, but the Pratihara king Nagabhata of Avanti, with his capital at Ujjayini, hurled back the invaders Junaid, Governor of Sindh, writes Al Biladuri, himself conquered 'Bailman and Jurz and his lieutenants proceeded as far as Uzain, overrunning Marmad, Mandal, Dahnaz, Barwas and Malibah'. Malibah and Uzain stand for Malwa and its capital Ujjain Biladuri writes that Junaid, son of Abdu-r Rahman al Marri, of Sind, sent a force against Uzain and he also sent Habid, son of Marra, with an army against the country of Maliba. They made incursions against Uzain, and attacked Baharimad and burnt its suburbs There were generally two ways of reaching Malwa and its capital Ujjain, via Gujarat along the river Narmada and via Marwar and Mewar by the ancient route of Madhyamika, modern Nagari under the walls of Chitor Armies proceeding to Ujjain from Sindh usually took the latter route

While speaking of the location of Ujjain, Al Beruni finds fault with the reckonings of Brahmagupta and Aryabhatta He himself gives the latitude of Uzain in Malwa as 24, which, according to Brahmagupta, is 16¼ He further points out to and corrects the common error of the Muslim astronomers and geographers who place Ujjain on the western sea coast He asserts that this city was situated at a distance of a hundred 'Yojanas' from the sea. He adds that the Hindu prime meridian passed through in a straight line from Lanka (Ceylon) to Meru (the northern skirts of the Himalayas) and that other positions on it were Ujjain, the fortress of Rohitaka in Multan district, Kurukshetra in the plain of Taneshar (Thaneshwar) and Mathura on the Jamuna [1]

Al Beruni further refers to Ujjain in due geographical context by locating it in Malwa. "In going from Mathura to Uzain", he writes, "you pass through several neighbouring villages, at no greater distances from one another than five parasangs From Mathura, at a distance of thirty-five parasangs, you come to a large town called Dudhi, thence to Bashur, seven, thence to Mahabalastan, five This is the name of the idol of that place. Thence to Uzain, nine, the idol of which place is Mahakal. Thence to Dhar, six parasangs[2]

The city of Ujjayini, besides appearing in later Muslim and European writings, thus covers at least the range of a thousand years from the *Periplus* to Al Beruni

1 Cf Hindi translation of Sachau, PP. 222,228-22, also Nafis Ahmad's Alberuni's Geography of India, *Calcutta Geographical Review*, V, December 1943, P. 155)

2 Elliot and Dowson, *History of India as told by its own Historians*, pp 59 and 60)

पुण्य पुरातन अवन्तिका नगर को उसके प्राचीन गरिमामय पद पर आसीन कराने हेतु

नगर सुधार न्यास, उज्जैन

सतत् प्रयत्नशील है ।

महाकवि कालिदास के शब्दो मे उज्जैन

"हृतमिव दिवः कान्तिमत्खंडमेकम्"

निम्न लिखित योजनाऐं सफलतापूर्वक पूर्ण की गई है :—

[१] दशहरा मैदान भूमि विकास एवं आवास गृह योजना ।

[२] क्षीर सागर भूमि विकास एवं आवास गृह योजना ।

[३] पटनी बाजार मार्ग विकास एवं आवास गृह योजना ।

[४] तेलीवाड़ा फायर ब्रिगेड़ मार्ग विकास एवं आवास योजना ।

[५] इन्दौर गेट भूमि अधिग्रहण एवं विकास योजना ।

[६] बुधवारिया हाट आवास गृह योजना ।

[७] दशहरा मैदान अनुपूरक भूखण्ड विकास योजना ।

बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय, दशहरा मैदान के समीप करीब ५० विकसित भूखण्ड विक्रयार्थ उपलब्ध है ।

अध्यक्ष

उज्जैन सुधार न्यास, उज्जैन

With Compliments from :

THE BINOD MILLS CO, LTD.

(BINOD, DEEPCHAND & BIMAL MILLS)

Regd Office : AGAR ROAD, UJJAIN (M P.)

THE RIGHT KIND OF CLOTH

FASHION FABRICS

SPECIALITIES

Terycot Suitings & Shirttings,

POPLINS,

FURNISHINGS

TOWELS

ROLLER & SCREEN PRINTS.

JIYAJEERAO COTTON MILLS LTD.

BRILANAGAR (Gwalior)

WITH BEST COMPLIMENTS

FROM

The Gwalior Rayon Silk Mfg. (Wvg) Co. Ltd.

BRILANAGAR. NAGDA (W. Rly)

STAPLE FIBRE DIVISION, BIRLAGRAM
(Manufacturers of Viscose Staple Fibre)

PULP DIVISION, BIRLAKOOTAM
(Manufacturers of Dissolving Pulp)

WEAVING DIVISION, BIRLANAGAR
(Manufacturers of Man-made Fibre Fabrics)

ENGINEERING DIVISION, BIRLAGRAM
(Manufacturers of Rayon & Allied Chemical Plant Machinery)

म० प्र० की कल्याणकारी बहुमुखी प्रगति में संलग्न

पंचायत एवं समाज सेवा संचालनालय, म. प्र.

★ पंचायती राज की १२,८१५ ग्राम पंचायतें तथा ३६० जनपद पंचायतें कार्यरत है।

★ लोकतंत्र के मूलाधार नागरिकों को समाज शिक्षा के माध्यम से दायित्वबोध कराया जा रहा है।

★ बाल युवक एवं महिला कल्याण के विविध उपक्रमों को अपनाया गया है।

★ व्यवहारिक पोषण आहार के विभिन्न पहलुओं पर ग्रामजनों को मार्गदर्शन देने की दिशा में कार्यरत हैं।

★ मासिक समाज सेवा, मासिक समाचार, भित्ति पत्र, त्रैमासिक दीपक तथा नव साक्षरोपयोगी पुस्तिकाएं नियमित रूप से ग्रामीण साक्षरों तक पहुंच रही हैं।

(पंचायत एवं समाज सेवा संचालनालय म. प्र. भोपाल द्वारा प्रसारित)

उज्जैन नगर पालिक निगम उज्जैन नगरवासियों को सुविधायें प्रदान करने में सतत् प्रयत्नशील एवं नगर की सर्वांगीण प्रगति तथा विकास हेतु कृत-संकल्प है, साथ ही अपेक्षा करता है :—

१ नगर को स्वच्छ एवं सुन्दर बनाने में सहयोग प्रदान करे।

२ नगर निगम के कार्यों के सफल संचालन हेतु निर्धारित करों का भुगतान समय पर करें। यह राशि आपके कल्याण कार्य पर ही व्यय होती है।

३ नगर निगम की संपत्ति जैसे उद्यान, सार्वजनिक मार्ग, भवन, वाटर स्टेण्ड आदि को अपनी संपत्ति समझ कर सुरक्षा बनायें रखें।

४ यात्रीगण निगम के म्युनिसिपल एवं ग्रांड होटल में ठहरकर लाभ उठावें।

एच पी. अग्निहोत्री
आयुक्त
उज्जैन नगरपालिक निगम

सत्यनारायण जोशी
महापौर
उज्जैन नगरपालिक निगम

आर्थिक उन्नयन के लिये किये गये प्रयत्नों की सफलतायें

समाजवाद की स्थापना के लिये

मध्य-प्रदेश

गरीबी और पिछड़ेपन की चुनौती का उत्तर दे रहा है।

	१९६८	१९७१ अक्टू.
★ अनाज की पैदावार (लाख मी टन में)	८९.४०	१०७
★ सिंचित क्षेत्र (लाख एकड़ में)	२८ ६.४ प्र.श.	३९.५० ८.६ प्र.श.
★ विपुल उत्पादन का क्षेत्र (हजार एकड में)	६३५	१,४३८
★ उर्वरक की खपत (टन में)	१,७३,४१८	४,२३,०००
★ सिंचाई पम्पों को दी गई बिजली	३१,४६९	१,११,१६९
★ विद्युतीकृत ग्राम	३,९७३	६,२६९
★ बिजली की लाइनों की लम्बाई (कि.मी.में)	१,१४०	३,६५३
★ किसानों को सहकारी कर्ज (करोड रुपयों में)	४०,३६	५०,५९
★ दुग्ध प्रदाय योजना	४,	२६,

प्राकृतिक वरदानों के अधिकाधिक दोहन में विश्वास पूर्वक सहयोग दें।

(संचालक, सूचना तथा प्रकाशन म. प्र. भोपाल द्वारा प्रसारित)

मध्य-प्रदेश की यात्रा कीजिये

"तीर्थ यात्राओं की पावन भूमि"

सांची:– जहां भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और महामोग्गलायन के अवशेष अवस्थित है।

उज्जैन:– भगवान महाकालेश्वर की नगरी 'पृथ्वी के केन्द्र' बारह ज्योतिर्लिगों में से एक।

अमरकंटक:– पतित पावनी नर्मदा का उद्गम स्थान।

चित्रकूट:– जहाँ भगवान राम ने वनवास अवधि का कुछ काल व्यतीत किया और गोस्वामी तुलसीदास को दर्शन दिये।

औंकार मन्धाता:– पुण्यतोया नर्मदा के बीच 'ओम' गिरिक पर अवस्थित वारह ज्योतिलिगों मे से एक।

महेश्वर:– आद्यशंकराचार्य की चरणधूलि से पुनीत माहिष्मती की पुरातन नगरी।

मध्य-प्रदेश में तीर्थ यात्रा एवं दृश्यावलोकन के और भी अनेक दर्शनीय स्थल

(पर्यटन संचालनालय मध्यप्रदेश द्वारा प्रसारित)

भोजन में पौष्टिक पदार्थों की कमी की पूर्ति के लिये अपने तालाब में,

मत्स्य पालन कीजिए,

★ मछली में वे सभी पदार्थ विद्यमान है जो शारीरिक बनावट एवं स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है।

★ इसमें उपलब्ध प्रोटीन सरलता से पचने वाली होती है।

प्रति एकड उत्पादन बढाने के लिये

★ कतला रोहू, नरेन के साथ कॉमन कार्प मछली के बीज का संचय करें।

★ खेती के समान तालाब में अमोनियम सल्फेट, सुपर फास्फेट एवं सीवेज खाद दें।

★ मांसाहारी मछलियों एवं जलीय वनस्पति की सफाई अच्छी प्रकार से करें।

(संचालक मत्स्योद्योग म. प्र. द्वारा प्रसारित)

कृषि उत्पादन में वृद्धि और किसानों की समृद्धि के लिये

मध्य-प्रदेश की चतुर्थ योजना के लक्ष्य

(१) १४.३१ लाख हेक्टर से बढाकर २२ लाख हेक्टर भूमि पर सिंचाई।

(२) २.५५ लाख हेक्टर से बढाकर १४.४० लाख हेक्टर भूमि पर विपुल उत्पादन कार्यक्रम।

(३) १.६० लाख टन से बढाकर ६.४० लाख टन खाद का उपयोग।

(४) १०.२६ लाख हेक्टर क्षेत्र से बढ़ाकर ५२.८० लाख हेक्टर क्षेत्र में पौध संरक्षण।

(५) ४ लाख हेक्टर क्षेत्र में बहुफसली खेती का विस्तार।

(६) छोटे किसानों को यथा सम्भव सभी प्रकार की अधिक सुविधाएं।

कृषि उत्पादन में वृद्धि ही राष्ट्र की समृद्ध बनाने का मार्ग है।

कृषि संचालनालय, मध्य-प्रदेश द्वारा प्रसारित